संगीत शास्त्र पराग

संगीत शास्त्र पराग

गोविन्द राव राजुरकर



राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

शिक्षा तथा समाज-कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ-निर्माण योजना के अन्तर्गत, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर द्वारा प्रकाशित।

प्रथम संस्करण : 1982
प्रथमावृत्ति : 1984

Sangeet Shastra Parag

भारत सरकार द्वारा रियायती दर पर
उपलब्ध कराये गये कागज पर मुद्रित।

मूल्य : **21.00**

प्रकाशक :
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
ए-26/2, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर,
जयपुर-302004

मुद्रक :
गायत्री ऑफसेट प्रेस
लाजपत नगर,
नई दिल्ली

प्राक्कथन

हिन्दी ग्रन्थ अकादमी अपने जीवन काल के 10 वर्ष पूरे कर चुकी है। 15 जुलाई, 1983 को इस संस्था ने ग्यारहवें वर्ष में प्रवेश किया है। इस अल्पावधि में संस्था ने विभिन्न विषयों के लगभग 300 मानक ग्रन्थों का हिन्दी में प्रकाशन कर मातृभाषा के माध्यम में विश्वविद्यालय के छात्रों व विषय विशेष के पाठकों के समक्ष भाषा वैविध्यता की कठिनाई दूर करने में अपना अकिंचन योगदान दिया है।

अकादमी के कई प्रकाशन द्वितीय व तृतीय आवृत्तियों में छप चुके हैं। इसके लिये हम सुयोग्य पाठकों व लेखकों के अत्यन्त ऋणी है।

प्रकाशन जगत में मानक ग्रन्थों का कम मूल्य पर प्रकाशन एक ऐसा प्रयत्न है जिससे विश्वविद्यालय स्तर एवं विषय विशेष के विशेषज्ञों के ग्रंथ आसानी से हिन्दी मे उपलब्ध हो सकें। प्रयत्न यह रहा है कि अकादमी शोध ग्रन्थों का प्रकाशन अधिकाधिक करे। इससे लेखक एवं पाठक दोनों ही लाभान्वित हो सकें तथा प्रामाणिक विषय वस्तु पाठकों को सुलभ होती रहे। लेखक को भी नव सृजन के लिए उत्साह व प्रेरणा मिलती रहे जिससे प्रकाशन के अभाव में महत्वपूर्ण पांडुलिपियां अप्रकाशित ही नहीं रह जायें। वास्तव मे हिन्दी ग्रन्थ अकादमी इसे अपना उत्तरदायित्व समझती रही है कि दुर्लभ विषय ग्रन्थों का ही प्रकाशन किया जाय। हमें यह कहते गर्व होता है कि अकादमी द्वारा प्रकाशित कतिपय ग्रन्थ केन्द्र एवं अन्य राज्यों के बोर्ड व संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत किये गये हैं और इनके विद्वान् लेखक सम्मानित हुए हैं।

भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय की अनुप्रेरणा व सहयोग हिन्दी ग्रन्थ अकादमी को स्वरूप ग्रहण करने से लेकर योजनाबद्ध प्रकाशन कार्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। राज्य सरकार ने इस अकादमी को आरम्भ से ही पूरा-पूरा सहयोग देकर पल्लवित किया है।

अकादमी अपने भावी कार्यक्रमों में राजस्थान से सम्बन्धित दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशन कार्य को प्रमुखता देने जा रही है जिससे विलुप्त कड़ियाँ जुड़ सकें। यह भी प्रयत्न है कि तकनीकी एवं आधुनिकतम विषय वस्तु के ग्रन्थ योजनाबद्ध प्रकाशित हों जिससे सम्पूर्ण विषय वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने में छात्रों को किसी तरह का अभाव अनुभव नहीं हो।

प्रस्तुत पुस्तक 'संगीत शास्त्र पराग' संगीत के छात्रों ही नहीं, अपितु अन्य रुचिशील व्यक्तियों के लिए भी उपादेय होगी। इसमें संगीत शास्त्र का सांगोपांग वर्णन-विवेचन हुआ है। शास्त्रीय संगीत एवं लोक संगीत, गीत गांधर्व एवं गान, गीत प्रकार, तान, हिन्दुस्तानी व कर्नाटकी ताल पद्धतियाँ, रागजाति आदि संगीत सम्बद्ध सब पक्षों का सारगर्भित विश्लेषण यहाँ उपलब्ध है। हमारा विश्वास है कि यह पुस्तक इस क्षेत्र में विद्यमान एक बड़े अभाव की पूर्ति करेगी।

हम इसके दिवंगत लेखक स्व० श्री गोविन्दराव राजुरकर, के प्रति श्रद्धा सुमन अर्पित करते है। इसकी समीक्षा एवं भाषा सम्पादन हेतु श्रीमती डॉ० सुधा श्रीवास्तव तथा श्रीयुत् चक्रवर्ती सु. श. को हम धन्यवाद देते है। इतने कम समय में पुस्तक की प्रथमावृत्ति प्रकाशित हो रही है इसके लिए विद्वान पाठकगण बधाई के पात्र हैं।

(शिवचरण माथुर)
मुख्य मंत्री, राजस्थान सरकार,
एवं
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

(डॉ० पुरुषोत्तम नागर)
निदेशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

विषय-सूची

●	रूप-रेखा	1
1.	नादाधीनमतोजगत्	8
2.	शास्त्रीय संगीत एवं लोक संगीत	14
3.	गीत गाधर्व एवं गान	36
4.	निबद्ध एवं अनिबद्ध गान	42
5.	गीत प्रकार	46
6.	तानों के प्रकार	61
7.	हिन्दुस्तानी एवं कर्नाटकी ताल–पद्धतियों का तुलनात्मक विवेचन	65
8.	राग-जाति	83
9.	पारिभाषिक शब्द	90
10.	आधुनिक काल में संगीत की प्रगति	104
11.	कतिपय विख्यात संगीतज्ञों का जीवन और उनका योगदान	116
12.	राग-वर्णन	127
13.	तालों की जानकारी	169
14.	शास्त्रीय संगीत में उपयोगी विभिन्न वाद्यों का वर्णन	193
15.	ध्रुव पद तथा धमार की विभिन्न लयकारियों की विधि	224
	शुद्धि पत्र	

रूप-रेखा

(१) नादाधीनमतोजगत्

सम्पूर्ण विश्व में 'नाद' व्याप्त है। चराचर वस्तुओं में नाद की व्याप्ति विश्व-जीवन की विशेषता ही नही, प्राण है। नाद के बिना जीवन नही व जीवन बिना नाद के नही है।

उपर्युक्त आधार पर नाद की महत्ता को दर्शाने के साथ-साथ आत्मा व नाद का सम्बन्ध क्या है—यह भी संक्षेप में चर्चित है। 'न' अर्थात् प्राण व 'द' अर्थात् अग्नि के संयोग से नाद की किस प्रकार उत्पत्ति हुई है व प्राचीन संगीत-विद्वान भरत मुनि एवं सारंग देव ने नादोत्पत्ति में नाद एवं आत्मा का संयोग बताया है, इसका विवेचन किया है।

आहत एवं अनाहत नाद का विवेचन करते हुए हमने नाद के सम्बन्ध में विवेचन दिया है व नाद नासिका, कण्ठ, उर, तालु, जिह्वा एव दन्त इन छः से किस प्रकार जनित होकर संगीत का मूल स्वर 'षड्ज' कैसे बना, यह इस अध्याय की मूल रेखा है।

(२) शास्त्रीय एवं लोक-सगीत

संगीत शब्द की व्युत्पत्ति सम्-गै-क्तः विग्रह द्वारा हुई है एवं संगीत शब्द में गीत, वाद्य एव नृत्य तीनो ही कलाओं को समाविष्ट किया गया है। उपर्युक्त तीनों ही कलाओं मे गीत की प्रधानता होने के कारण तीनों ही कलाओं के संकेत स्वरूप केवल "सगीत" यह शब्द प्रचलित रहा है।

शास्त्रीय एवं लोक-संगीत की परिभाषाएँ देकर वैदिक काल में भी वैदिक संगीत, जिसे शास्त्रीय कहा जाता था, के अतिरिक्त लोक-रंजनार्थ लोक-संगीत किस प्रकार प्रचार में था, शास्त्रीय संगीत एवम् लोक-संगीत की प्रणाली क्या थी एवम् किन-किन विशेष अवसरो पर दोनों ही प्रकारों के संगीत का प्रयोग होता था, इस सम्बन्ध में विवेचन है।

लोक-संगीत को किस सीमा तक शास्त्रीय आधार था तथा शास्त्रीय संगीत आगे चलकर लोक-संगीत द्वारा किस सीमा तक प्रभावित हुआ, इस विषय को भी किंचित रूप में उल्लिखित किया गया है।

(३) गीत, गांधर्व एवम् गान

प्राचीन सगीत विद्वान भरत मुनि एवम् पं० शारंग देव दोनों ने उपर्युक्त पारिभाषिक शब्दों की परिभाषाएँ देकर उक्त परिभाषाएँ किस रूप में अस्पष्ट

है, यह समझाया है। संगीत में गीत स्वर-प्रधानता का विषय अवश्य है, किन्तु स्वरों एवम् शब्दों के समन्वय द्वारा छन्दोबद्ध रचना ही 'गीत' के अन्तर्गत वास्तविक रूप में आती है, यह स्पष्टता की गई है।

गीत के अन्तर्गत 'गांधर्व' जो एक उसका भाग कतिपय प्राचीन संगीत विद्वानों ने माना है व उसकी जो परिभाषा दी है, उसका उल्लेख किया जाकर 'गंधर्व' शब्द कब व कैसे प्रचार में आया, इसे समझाने की चेष्टा की गई है। इन्द्र के दरबार में गंधर्व गायन करते थे, यह पुराणोक्ति क्या केवल 'किंवदंति' है? नारदी शिक्षा, भरत नाट्य शास्त्र एवम् अन्य समकालीन ग्रन्थों में 'गंधर्व' क्या वस्तु थी, यह बता कर, आधुनिक काल में गांधर्व संगीत की अनुपलब्धि है, यह बात किस सीमा तक सत्य है, यह चर्चित किया गया है।

गीत के अन्तर्गत आने वाला गीत का दूसरा भाग "गान" पारिभाषिक अर्थों में आज "देशी संगीत", अर्थात् प्रचलित भारतीय शास्त्रीय संगीत, में किस प्रकार माना जा सकता है, इसका विवेचन है। आज का भारतीय शास्त्रीय संगीत गांधर्व संगीत नहीं है अपितु, 'गान' संगीत है, यह स्पष्ट किया गया है।

(४) निबद्ध एवम् अनिबद्ध गान

पं० शारंग देव रचित "संगीत रत्नाकर" ग्रन्थ में "निबद्ध एवं अनिबद्ध गान" की परिभाषा का उल्लेख करते हुए आज वर्तमान संगीत में निबद्ध गान के अन्तर्गत किस प्रकार की आक्षिप्तिकाएं आती हैं, यह बताया गया है। आज के ध्रुव पद, ख्याल आदि शास्त्रीय गीत प्रबन्ध "संगीत रत्नाकर" ग्रन्थ के मतानुसार निबद्ध गान के अन्तर्गत माने जाते हैं।

"अनिबद्ध गान" के अन्तर्गत राग-लक्षणों पर आधारित आलप्ति, रूपक आलाप, तान आदि माध्यमों से राग का विस्तार किया जाता है। ग्रह, अंशन्यास, विन्यास, अपन्यास एवम् सन्यास आदि लक्षणों से राग का स्वरूप स्पष्ट किया जाता है व "रंजयति इति रागः" इस कथन की सिद्धता "अनिबद्ध गान" द्वारा स्पष्ट की जाती है।

(५) निम्नांकित गीत प्रकारों का विस्तृत ज्ञान

(१) ध्रुवपद, (२) धमार, (३) ख्याल, (४) ठुमरी, (५) दादरा, (६) टप्पा, (७) स्वरमालिका, (८) लक्षणगीत, (९) तराना, (१०) त्रिवट एवम् (११) चतुरंग आदि गीत-प्रकारों की मौलिकता के सम्बन्ध में चर्चा करके ये गीत प्रकार आधुनिक संगीत में कब, किसके द्वारा एवम् किस प्रान्त विशेष में विशेष रूप में प्रचार में आये, यह स्पष्ट किया गया है।

उपर्युक्त गीत-प्रकारों की गायन शैली, स्वरों एवम् शब्दों की प्रधानता का किस-किस में कैसा प्रभाव, दुगुन, चौगुन, आड़, कुआड़, बियाड़ आदि विभिन्न लयों

का किस प्रकार प्रदर्शन, किन-किन गीत प्रकारों में एवम् विलम्बित मध्य तथा द्रुत गीत प्रकारों की विशेषता का विश्लेषण आदि किया गया है।

आधुनिक शास्त्रीय तथा उपशास्त्रीय संगीत में उपर्युक्त गीत-प्रकारों के शैलियों के आधार पर विभिन्न "घराने" किस प्रकार निर्मित हुए हैं व उनकी परम्परा आज शास्त्रीय संगीत को जनता की रुचि के अनुसार किस ओर मोड़ रही है, यह चर्चित है।

(६) तानों के प्रकार

'तान' यह शब्द संस्कृत के मूल धातु 'तन्' अर्थात् 'खींचना', 'तानना' इससे व्युत्पन्न हुआ है, यह बताकर स्वरों का आरोहावरोह—उतार-चढ़ाव के रूप में तनायमान होकर तान् को स्वरूप किस प्रकार दिया जाता है, यह बताया गया है।

रागोचित स्वरों की लयबद्ध एवम् दुगुन, चौगुन, आठगुन, सोलहगुन की द्रुतगति में विभिन्न प्रकार की रचनाओं का स्पष्टीकरण किया गया है जिसमें सरल आरोहावरोह-क्रम की तानें, रागांग तानें, कूट तानों के अन्तर्गत विभिन्न गमकों एवम् अलंकारों द्वारा रचित तानों का सोदाहरण स्पष्टीकरण है।

भरत-नाट्य शास्त्रांतर्गत तान प्रस्तार का आज की वर्तमान रागोचित तानों को क्या आधार है; यह भी दिग्दर्शित है।

(७) हिंदुस्तानी एवम् कर्नाटकी ताल पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन

संगीत की दो पद्धतियां आज प्रचार में हैं। प्रथम हिंदुस्तानी एवम् द्वितीय कर्नाटकी। मैसूर, तामिलनाडु, कर्नाटक आदि दक्षिणी भागों में प्रचलित संगीत-पद्धति को कर्नाटकी अथवा दक्षिणी-हिंदुस्तानी संगीत-पद्धति कहते हैं। भारत के अन्य भागों में जो संगीत-पद्धति प्रचार में है उसे उत्तर हिंदुस्तानी अथवा हिंदुस्तानी संगीत पद्धति कहते हैं।

मुगलकाल में ईरानी संस्कृति एवम् संगीत का भारत के उत्तरी एवम् मध्य भाग पर विशेष प्रभाव रहने के कारण भारतीय शास्त्रीय संगीत का ईरानी संगीत व भारतीय शास्त्रीय संगीत का मनोरंजक मिश्रण हुआ व उस भाग में राग, भाषा एवम् रागनियों के सम्मिश्रण द्वारा भारतीय शास्त्रीय हिन्दुस्तानी संगीत कहलाने लगा। किन्तु भारत का दक्षिणी क्षेत्र मद्रास, मैसूर एवम् कर्नाटक इस प्रभाव से अछूता रहा जिस कारण उसी समय भारत में कर्नाटकीय संगीत विशुद्ध भारतीय संगीत के रूप में प्रचारित रहा।

इन दो पद्धतियों के प्रबन्धों की भाषा, स्वरांकन-प्रणाली (Notation System) थाट-राग नियम आदि भिन्न हुए व इसी विभिन्नता के कारण ताल प्रकार व उन्हें प्रस्तुत करने के साधन जैसे मृदंग, तबला (हिंदुस्तानी), पटम्, (कर्नाटकीय) भी भिन्न दिखाई दे रहे हैं। हिंदुस्तानी ताल व कर्नाटकीय ताल-पद्धति में ताल की

मात्राओं की संख्या, उनका विभाजन, ताल-चिह्न व उनकी शब्द-पाद क्रिया (ताली) व निःशब्दपाद क्रिया (खाली) के प्रस्तुतीकरण की विधि किस प्रकार विभिन्न है, इसकी सोदाहरण चर्चा की गई है।

हिंदुस्तानी तालों में व कर्नाटकीय तालों में समानता एवं विभिन्नता का सोदाहरण स्पष्टीकरण किया गया है।

(८) राग-जाति

भरत मुनि-रचित भरत नाट्यशास्त्रांतर्गत मूर्धना जाति को ही वर्तमान थाट रागजातियों का आधार माना गया है। राग की मुख्य तीन जातियों---(१) सम्पूर्ण (२) पाड़व एवम् (३)औड़व के ९ उपभेद बनाये गये हैं व उसी आधार पर हिंदुस्तानी पद्धति के नियमानुसार एक भेद के उपर्युक्त ९ जातियों के ४८४ राग बनते हैं, प्रमुख १० थाटों में से ४८४० बनते है व दक्षिण के पं० व्यंकटमटवी के सिद्धान्त के अनुसार ७२ थाटों में से उपर्युक्त ९ प्रकारों के वागजातियों के माध्यम से ३४८४८ राग बनते हैं।

हिंदुस्तानी संगीत को व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने वाले व प्रचलित भारतीय शास्त्रीय संगीत के उद्धारक स्वर्गीय पं० भातखण्डे जी ने ३२ थाटों का ही सृजन माना है व गायनोपयोगी जो राग है उनको प्रमुख १० थाटों से सृजित माना है। किन्तु सिद्धान्ततः ३२ थाटों का सृजन मानने वाले पं० भातखण्डे जी के इन थाटों में से उपर्युक्त ९ रागजातियों के ३२ × ४८४ = १५४८८ राग बनते है। हिंदुस्तानी पद्धति के सिद्धांत के अनुसार पं० भातखण्डेजी द्वारा उपर्युक्त ९ रागजातियों की गायनोपयोगी राग संख्या अधिक से अधिक २००/२५० ही स्वीकृत समझी गई है।

(९) निम्नलिखित पारिभाषिक शब्दों की परिभाषाएँ एवम् विवेचन

शुद्ध, छायालग एवम् सकीर्ण राग, परमेल प्रवेशक राग, गमक एवम् वाग्गेयकार।

शुद्ध राग—शुद्ध रागो से तात्पर्य है कि उसके रागनियम—गृह अंशन्यास, स्वर-विन्यास आदि पूर्णरूपेण उन्ही के हेतु बनाए गए हों। ऐसे रागों में अन्य रागों के स्वर-विन्यास कण भ्रीड के उच्चारणों की उनकी अपनी स्वयं की ही विशेष शैली होती है। इन रागों का स्वभाव-चित्रण, रसपरिपोष, भावानुभूति एवम् रंजकता उन्ही विशिष्ट स्वरसमुदायों पर निर्भर होती है व स्वतन्त्र अस्तित्व होता है, जैसे भैरव, पूरवी, मारवा तोडी आदि।

छायालग राग---इन रागों में कतिपय स्वरविन्यास अन्य सम मेलोत्पन्न एवम् समप्राकृतिक रागों में ही समान रूप में प्रयुक्त होते है किन्तु प्रत्येक राग का स्वभाव-चित्रण, रसपरिपोष एवम् भावानुभुति का दिग्दर्शन अपनी अपनी जगह स्वतन्त्र रूप से विद्यमान होता है, जैसे कामोद, छायानट गौड़ मल्लाहार, गौड़ सारंग आदि।

संकीर्ण राग—ऐसे रागों में विस्तार का क्षेत्र दो विभिन्न रागनियमों द्वारा संकीर्ण अथवा संकुचित हो जाता है व सममेलोत्पन्न अथवा भिन्न मेलोत्पन्न दो रागों का मिश्रण स्वरविन्यासों के समन्वय द्वारा किया जाता है, जिससे दोनों ही रागों का समन्वय रूप में स्वभाव-चित्रण, रसपरिपोष व भावानुभूति का प्रदर्शन होकर दोनों रागों का मिश्रण एक संपूर्ण किन्तु संकीर्ण रस का अस्तित्व प्रदान करता है, जैसे— भैरव-बहार, बसन्त-बहार, जोगी-आसावरी, जयन्त-कान्हड़ा आदि।

शुद्ध, छायाराग एवम् संकीर्ण रागों के सम्बन्ध में पं० सारंगदेव, पं० अहोवल एवम् पं० सोमनाथ के मतों का भी विचार किया गया है।

परमेल प्रवेशक राग—प्राचीन राग-रागिनी व्यवस्था को दृष्टिगत रखने से यह समझ में आता है कि प्राचीन शिवमत, भरतमत, हनुमन्मत एवम् कल्लीनाथमत के अनुसार ६ राग एवम् ३६ रागिनियों के गायन की ऋतु एवम् समय निर्धारित था। कालक्रम की परिवर्तनशीलता से आज के रागों का थाट में लगने वाले स्वरों के आधार पर समयनुसार वर्गीकरण किया गया है, जिसमें रिध शुद्ध होने वाले राग, रिध कोमल होने वाले राग एवम् गनि कोमल होने वाले राग किस-किस समय में गाये जाते हैं इसका मेल अथवा थाट के स्वरों से सम्बन्ध स्थापित किया है। इसी कारण परमेल अर्थात् दूसरे थाट मे प्रवेशक अर्थात् प्रवेश करने की सूचना देने वाले राग ऐसा पारिभाषिक शब्द संगीत में प्रचार मे आया है। रिध कोमल होनें वाले थाट भैरव पूर्वी, मारवा, सायंकालीन संध्या समय मे पूर्वांग प्रबलत्व के कारण गाये जाते हैं। जब ऐसे रागों मे मारवा राग में से केवल कोमल रि की गौणता स्वीकार की जाय तो इसके पश्चात् गायन योग्य कल्याण थाट के रागों का यह राग संकेत देता है अर्थात् अब मारवा के कोमल रि की गौणता ही रहकर अन्य कल्याण थाट के रागों के स्वरों की प्रबलता का संकेत यह मारवा राग देता है, जिस कारण इसे परमेल प्रवेशक राग कहते है।

ऐसे अन्य उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये है। सारांश यह है कि परमेल प्रवेशक राग का सम्बन्ध रसानुभूति के शनैः-शनैः परिवर्तन से है।

गमक—स्वरो के विभिन्न प्रकारों द्वारा कंपन को गमक कहते है। भरत नाट्यशास्त्र में वर्णित गमकों का उल्लेख करते हुए विभिन्न १५ गमकों का आज के वर्तमान संगीत मे मीड, कण, कंपन आदि का किस प्रकार उपयोग होता है इसका स्पष्टीकरण किया गया है।

वाग्गेयकार—वाक्-गेय-कार की परिभाषा बताते हुए वाग्गेयकार को धातु (स्वर रचना) मातु (पद्य रचना) अर्थात् साहित्य, व्याकरण, शास्त्र एवम् विभिन्न भाषा का तथा संगीतशास्त्र का सम्पूर्ण ज्ञान अवश्य होना चाहिए। उत्तम वाग्गेयकार, मध्यम वाग्गेयकार एवम् अधम वाग्गेयकार की परिभाषाएँ देकर वाग्गेयकारों (Composers) के गुणो का स्पष्टीकरण किया गया है।

(१०) वर्तमान काल में संगीत की प्रगति के सम्बन्ध में साधारण चर्चा

"मुहम्मद रजा" ने 'नगमा ते आसफी' द्वारा थाट व तज्जन्य राग-पद्धति का समर्थन किया है व बिलावल को शुद्ध थाट के रूप में (Standard Scale) आधार सप्तक माना है।

श्री अप्पातुलसी, गोस्वामी पन्नालाल, चतुर पंडित भातखण्डे, कृष्णानन्द व्यास, कृष्णधन वेदोपाध्याय, श्री जोशी एवम् पलुस्कर आदि संगीत विद्वानों द्वारा शास्त्र-विषयक एवम् क्रियात्मक पुस्तकों का सृजन हुआ। १९वी शताब्दी के अंतिम चरण में पाश्चात्य संगीत का भारतीय संगीत पर कुछ-कुछ प्रभाव हो रहा था जिसको पं०पलुस्कर एवम् पं०भातखण्डे जी के अथक परिश्रमों द्वारा अप्रभावित किया जाकर भारतीय संगीत को वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर प्रचलित किया गया। लाहौर में गांधर्व महाविद्यालय मण्डल की स्थापना तथा ग्वालियर में ग्वालियर नरेश के आश्रय-स्वरूप माधव संगीत विद्यालय की स्थापना से भी महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं। इन दो विशिष्ट प्रकार की संस्थाओं ने, इससे पूर्व पं० भातखण्डे द्वारा आविष्कृत-स्वर-लिपि प्रणाली (Notation System) से परम्परागत घराने के संगीत को लिपिबद्ध किया जाकर विद्यालयों में संगीत शिक्षा को सुगम बनाया। पं० पलुस्कर व पं० भातखण्डे इन दो महानुभावों के ही परिश्रम का फल है कि आज शास्त्रीय संगीत की परम्परा एवम् रुचि कायम है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत सरकार द्वारा भारतीय शास्त्रीय संगीत की प्रगति में अनेक कदम उठाये गये। केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी की स्थापना करके विभिन्न प्रान्तों में प्रान्तीय संगीत नाटक अकादमियों की स्थापना की गई। इनको केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी से सम्बन्धित करके संगीत एवम् नाटक के क्षेत्र में अनेक प्रकार के आयोजन किये गये।

आकाशवाणी द्वारा शास्त्रीय संगीत के कलाकारों के गायन-वादन का प्रसारण करके श्रेष्ठ कलाकारों को पुरस्कार दिये जाने से कला के प्रति आदर-भावना एवं रुचि का निर्माण हुआ। भारत सरकार ने भारत के अनेक स्थानों में संगीत विद्यालयो को स्नातकोत्तर स्तर तक की शिक्षण व्यवस्था का प्रबन्ध किया एवं आर्थिक प्रश्रय द्वारा संगीत प्रगति में सहायता पहुंचाई।

उच्च माध्यमिक स्तर से स्नातकोत्तर स्तर तक की कक्षाओं में प्रांतीय बोर्ड एव विश्वविद्यालयों में संगीत विषय को प्रस्थापित करके उचित शिक्षा का प्रबन्ध होने से भारत सरकार का योगदान सराहनीय रहा है।

भारतीय कला केन्द्र द्वारा उच्च अध्ययन, देश-विदेशों मे सांस्कृतिक मण्डल भेजना एवम् संगीत कलाकारों द्वारा संगीत का आदान-प्रदान आदि माध्यमों से एवं उचित आर्थिक प्रश्रय से भारत सरकार ने स्वतंत्रता के पश्चात् संगीत को सर्वांगीण उन्नति की ओर अग्रसर किया है।

(११) निम्नांकित संगीताचार्यों का जीवन-परिचय एवं संगीत में उनका योगदान कैसा रहा, इस संबंध में उनके योगदान के बारे में विस्तृत जानकारी।

पं० राजा भैया पूंछ वाले, पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर, उस्ताद फैयाज़ खां उस्ताद अलाउद्दीन खां एवं इनायत खां।

(१२) निम्नांकित रागों का विस्तृत वर्णन देकर समप्राकृतिक रागों का तुलनात्मक विवेचन।

रागों का पूर्वांग, उत्तरांग आरोही एवं उत्तरांग पूर्वांग अवरोही, वादी, संवादी, अनुवादी, विवादी, न्यास, स्वरविन्यास आदि सम्पूर्ण राग-लक्षणों द्वारा सोदाहरण विस्तार किस प्रकार होना चाहिए, इसका स्पष्टीकरण।

राग की प्रकृति, चलन, राग स्वभाव-चित्रण, रस परिपोष आदि का दिग्दर्शन उचित स्वरलगाव द्वारा एवं उचित प्रस्तुतीकरण द्वारा कैसा हो सकता है, यह चित्रित किया गया है।

(१) यमन, एवं गोड़ सारंग—कल्याण थाट।
(२) अल्हैया बिलावल, बिहाग, शंकरा एवं देशाकार } —बिलावल थाट
(३) भैरव—भैरव थाट
(४) बागेश्री एवम्
(५) जौनपुरी—आसावरी थाट

(१३) निम्नांकित तालों के विषय में जानकारी—

दादरा, एकताल, झपताल, चौताल, त्रिताल, झूमरा, धमार एवं तिलवाड़ा।

उपर्युक्त तालों के सम्बन्ध में 'अष्टोत्तर शतताल लक्षणम्' का क्या आधार है? तालों के श्लोकों सहित उनकी मात्रा, संख्या, ताल विभाजन, ताल-चिह्न एवं खाली भरी आदि विषयों पर स्पष्टीकरण।

तालों की दुगुन, तिगुन, चौगुन, आड़, 'कुआड़ एवं बियाड' आदि लयों का ज्ञान एवं उन्हें उपर्युक्त लयकारी में लिपिबद्ध करने की विधि।

(१४) शास्त्रीय संगीतोपयोगी विभिन्न वाद्यों के विषयों में सम्पूर्ण जानकारी।

तंबूरा (तानपूरा), सितार, तबला आदि तत्, वितत्, घन एवं सुषिर वाद्यों के चित्रों सहित उनके प्रत्येक अंग का विस्तृत वर्णन।

उपर्युक्त वाद्यों की बनावट में उपयुक्त साधनों की जानकारी देकर उन्हें उचित स्वरों में मिलाने की (Tune करने की) जानकारी देना।

(१५) ध्रुवपद एवम् धमार गीत-प्रकारों को विभिन्न दुगुन, तिगुन, चौगुन, छःगुन आदि लयकारियों में किस प्रकार निबद्ध किया जा सकता है इसकी सम्पूर्ण विधि, उनकी कुल मात्रा संख्या के माध्यमों से समझायी गई है, जिससे ताल के किसी भी मात्रा से प्रारम्भ होने वाले ध्रुवपद/धमार गीत प्रबन्धकों को दुगुन, तिगुन, चौगुन आदि वांछित लयकारी में सुविधाजनक रूप में निबद्ध किया जा सकता है। □□□

अध्याय १

नादाधीनमतोजगत्

पम्पूर्ण जगत नाद के अधीन है। पंच महातत्त्व—पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवम् आकाश आदि मे नाद व्याप्त है। जहां नाद है वहां जीवन है तथा जहां जीवन है वही नाद अर्थात् ध्वनि है। जड़-चेतन एवम् चर-अचर सभी नाद-व्याप्त हैं। नाद अर्थात् ध्वनि की इस महत्ता के कारण नाद को "नाद ब्रह्म" कहा गया है।

प्राचीन काल (प्रथम शताब्दी से लगभग पचम शताब्दी तक का काल) के भरत मुनि ने "भरत नाट्यशास्त्र" ग्रन्थ में नाद अर्थात् ध्वनि की उत्पत्ति के विषय में कहा है

। आत्मा विवक्षमाणोऽयं मनः प्रेरयते मनः।
।। देहस्थं वह्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम ।।
। ब्रह्मग्रंथि स्थितस्सोऽयं क्रमादूर्ध्वपथे चरन्।
।। नाभि हृत्कन्ठ मूर्धास्येष्वाविर्भावयते ध्वनिम् ।।

भावार्थ :—बोलने की इच्छा रखती हुई आत्मा मन को प्रेरणा देती है। शरीरस्थ वाह्नि अर्थात् अग्नि को मन के द्वारा उत्तेजना प्राप्त होती है, शरीरस्थ अग्नि वायु को चलायमान करती है। इस प्रकार ब्रह्मग्रन्थि स्थित प्राण (वायु) एवं अग्नि (Vital Heat), के संघर्ष एवं सयोग से नाभि (Navel), हृदय (Heart), कण्ठ (Throat) एवं मूध्नि (Head) तालु को स्पर्श करके जो निर्माण हो उसे ध्वनि अर्थात् नाद कहते है।

तेरहवी शताब्दी के प० शारंगदेव ने "संगीत रत्नाकर" ग्रन्थ में नाद की उत्पत्ति के विषय में कहा है :

नकारं प्राण नाभान दकारमनलं विन्दुः।
जातः प्राणाग्नि संयोगात्तेन नादोऽभिधीयते ।।

भावार्थ :

'न' कार अर्थात् प्राण व 'द' कार अर्थात अनल-अग्नि इन दोनों (प्राण एवं अग्नि) के संयोग से नाद की उत्पत्ति होती है। इसका संक्षेप मे किन्तु स्पष्ट रूप मे यही अर्थ होता है कि नाद की उत्पत्ति प्राण-वायु व अग्नि के सयोग-संघर्ज से होती है। मुनि भरत एवं पं० शारंगदेव द्वारा नाद के विषय मे उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मानव-शरीर मे स्थित प्राण-वायु एवं अग्नि के एकत्रित समन्वय से नाद की उत्पत्ति होती है।

नाद के अति सूक्ष्म, सूक्ष्म, अपुष्ट, पुष्ट एवं कृत्रिम ऐसे पांच भेद माने जाते हैं। किन्तु संगीतशास्त्र का जहाँ सम्बन्ध है वहाँ उसके मुख्यतः तीन भेद ही प्रचार में है जिनके नाम मन्द्र, मध्य एवं तार है, जिसके विषय में सगीत रत्नाकर में कहा गया है :

व्यवहारे त्वसौ त्रेधा हृदि मन्द्रोऽभिधीयते।
कण्ठे मध्यो मूर्ध्नि तारो द्विगुणश्चोत्तरोत्तरः ।।

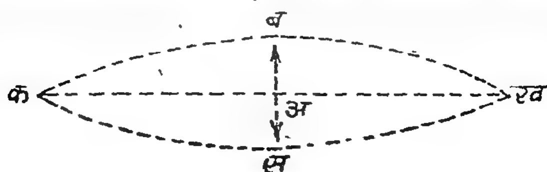
भावार्थः—अ

व्यावहारिक दृष्टि से मन्द्र नादध्वनि का स्थान हृदय में मध्य नादध्वनि का स्थान कण्ठ में व तार ध्वनि का स्थान तालु में है, एव इनमें परस्पर प्रभाव द्विगुण है, अर्थात् मन्द्र नाद-ध्वनि से दुगुना-ऊँचा मध्य नादध्वनि, मध्य नाद ध्वनि से दुगुना ऊँचा तार नादध्वनि है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि नाद जड़-चेतन, चर-अचर तथा मानव एवं अन्य प्राणी-शरीर सर्व में व्याप्त है। सारांश यही है कि सम्पूर्ण जगत् नाद के अधीन है।

क्या मुनि भरत एवं पं शारंगदेव-कथित नाद-ध्वनि संगीतोपयोगी हो सकती है? इस सम्बन्ध में "आहत एवं अनाहत" नाद का विचार करना आवश्यक है। घर्षण अथवा आघात से जो नाद प्राप्त होता है उसे "आहत" नाद कहते है व बिना घर्षण-आघात से प्राप्त होने वाले नाद को "अनाहत" नाद कहते है। आहत नाद लौकिक व्यवहार में उपयोगी है किन्तु "अनाहत" नाद योग-साधना की अनुभूति है। अतः यहाँ "आहत" नाद का ही विचार अधिक उपयुक्त है। आहत नाद भी दो प्रकार का है : (१) संगीतोपयोगी एवम् (२) संगीत निरूपयोगी।

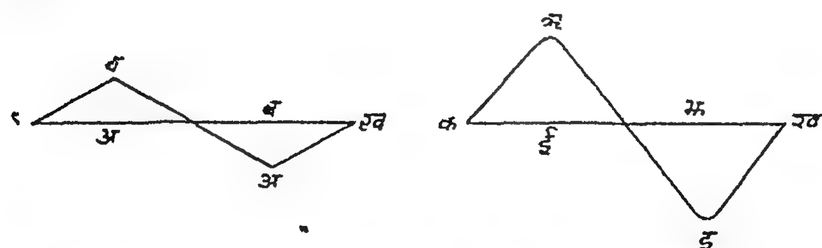
संगतोपयोगी नाद को भरत, शारगदेव आदि सगीतशास्त्रकारों ने "श्रुति" सज्ञा दी है व "श्रूयते इति श्रुति" ऐसी परिभाषा की है। 'श्रू' सस्कृत धातु का अर्थ 'सुनना-श्रवण-करना' होता है, अर्थात् जो सुनाई जाये उसे श्रुति कहा जाय। किन्तु सगीतोपयोगी नाद अथवा श्रुति की यह परिभाषा अपर्याप्त सी है। इसका विश्लेषण यह है कि तेलधारा के समान अविच्छिन्न तथा समगति में जिसका चलन है, जो स्थिर, स्पष्ट है एवम् मधुर है, उसे संगीतोपयोगी नाद अर्थात् ध्वनि कहते है। ऐसी क्रिया में ध्वनि विच्छिन्नता या ध्वनि का टूटना अवांछनीय है। कारण यह है कि अविच्छिन्न एवम् समप्रमाणगति ही उसे मधुरता प्रदान करती है व जिस ध्वनि मे मधुरता है उसे ही सगीतोपयोगी कहा जाना श्रेयम् है। इसका स्पष्टीकरण निम्नांकित है :—



उपर्यूक्त आकृति में क-ख एक तार है। इसकी ध्वनि अ-व एवं अ-स क्षेत्र में कम्पन होता है व यह कम्पन उस सीमित क्षेत्र में समप्रमाण में अविच्छिन्न रूप से होता रहता है। शनैः-शनैः कम्पन का यह क्षेत्र कम होकर तार अपने मूल स्थान पर स्थिर हो जाता है। अ-ब एवं अ-स के क्षेत्र को कम्पन-क्षेत्र मान लिया जाकर इस क्षेत्र में उस विवक्षित समयावधि के एक सैकिण्ड में होने वाले कम्पनों को उस ध्वनि की कम्पन संख्या मान ली जाती है। अतः इस अविच्छिन्न व समप्रमाण में कम्पनयुक्त जो ध्वनि की तरंग अथवा लहरे होती है वही मधुर श्रवणीय हो सकती हैं, इसी कारण इस प्रकार की ध्वनि-नाद को संगीतोपयोगी नाद कह सकते हैं, अर्थात् ऐसे ध्वनियों की कम्पन-संख्या नियमित होती है।

मानव-कण्ठ से भी अनेक प्रकार की ध्वनियां-नाद निकलते है किन्तु मानव कण्ठ से निर्मित नाद-ध्वनि को संगीतोपयोगी उसी समय कहा जा सकता है जब कण्ठ द्वारा निर्मित ध्वनि शरीरस्थ प्राण (Air in the Lungs) के स्थिरीकरण द्वारा अविच्छिन्न रूप में समप्रमाणित तरग में श्रवण होकर मधुरता की अनुभूति दे। यही आहत नाद संगीत उपयोगी नाद कहा जा सकता है।

सगीतोपयोगी नाद-अर्थात् ध्वनि के तीन गुणधर्म हैं—(१) नाद का छोटा-बड़ा होना (Magnitude) (२) नाद की उच्चावचता (Pitch) एवं (३) नाद की जाति (Timbre)। नाद के छोटे-बड़े होने से नाद के प्रसरण का तात्पर्य है। धीरे अर्थात् हल्की आवाज में उच्चारित नाद पास तक ही सुनाई देता है, वही नाद अधिक जोर से उच्चारित होने से अधिक दूर तक सुनाई देता है। ऐसी स्थिति में नाद का स्थान वही होता है परन्तु उसमें प्रसरणता की मात्रा बढ़ती है। नाद का छोटा-बड़ापन समझने हेतु वैज्ञानिक तथ्य का साधारण रूप में विचार किया जाना अनुचित नही होगा।

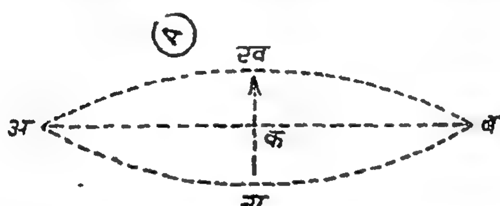


उक्त दोनों चित्रों में क-ख रेखाएँ समान दैर्ध्य, अर्थात् लम्बाई की है। क-ख तार को बजाने के पश्तात् जो ध्वनि तरंग उठते हैं उन ध्वनि तरंगों की चित्र नं. २ में दर्शित अ-व चौड़ाई चित्र नं. ३ की ई-ऋ चौड़ाई से कम है किन्तु क-ख ध्वनि-तरंग की लंबाई सघन है अर्थात् ध्वनि तरंग की लम्बाई समान होते हुए भी चित्र नं. २ में अ-व ध्वनि तरंग का क्षेत्र चित्र ३ का ई-ऋ ध्वनि क्षेत्र से कम है। अतएव चित्र नं. २ की अ-ब ध्वनि-तरंग पास में सुनाई देगी जबकि चित्र नं. ३ की ई-ऋ ध्वनि तरग

का क्षेत्र अधिक होने के कारण वह ध्वनि उससे अधिक दूरी पर सुनाई देगी। जब ध्वनि-तरंग की चौड़ाई कम होगी तब ध्वनि छोटी होगी व यह चौड़ाई अधिक होने की अवस्था में वही ध्वनि बड़ी अर्थात् अधिक प्रसरित प्रतीत होगी। इसे ही नाद का छोटा-बड़ापन (Magnitude) या (Amplitude) कहते हैं। नाद को इस प्रक्रिया में नियमित कम्पन द्वारा स्थिर समझा जाता है किन्तु उसकी प्रसरण मात्रा में कमी या आधिक्य होता रहता है। रेडियो में विवक्षित खूंटी घुमाने पर ध्वनि कम दूरी पर या अधिक दूरी पर सुनाई देती है अर्थात् उसी ध्वनि का कम-अधिक दूरी पर संकुचन या प्रसरण किया जाता है जिसे नाद का छोटा-बड़ापन कहा जाता है।

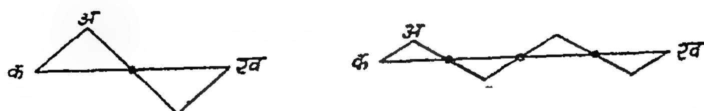
नाद की उच्चनीचता : नाद के गुण या धर्म नाद का छोटा-बड़ापन तथा नाद की उच्चनीचता होना एक दूसरे से भिन्न है। नाद की उच्चनीचता का सम्बन्ध उसमें होने वाली आंदोलन संख्या पर निर्भर होता है। आंदोलन-संख्या कम होने की स्थिति में नाद नीचा होता है व आंदोलन संख्या अधिक होने पर नाद उच्च होता है।

तानपुरा या सितार के खिंचे हुए तार को जब बजाया जाता है तब तार ऊपर-नीचे कम्पित होता रहता है। यह कम्पन प्रथम अपने स्थानों से ऊपर की ओर किंचित् दूरी पर जाता है व अन्त में अपने पूर्व स्थान पर लौटकर आ जाता है। किन्तु वहाँ उसका कम्पन बन्द नहीं होता है व उसी समप्रमाण गति में कम्पन जारी रहता है। निम्नांकित चित्र से नाद की उच्चावचता स्पष्ट हो सकेगी :—



अ-ब तार पर आघात देने से उसका कम्पन मध्य भाग क से ख तक जाकर लौटता है व उसकी विरुद्ध दिशा में उतनी ही दूरी पर अर्थात् क-ग पर आता है व अन्त में वही कम्पन लौटकर पुनः क भाग पर आ जाता है। इतने कम्पन को एक सम्पूर्ण आंदोलन कहा जायगा। इसी प्रकार यह कम्पन अटूट रहता है। उक्त चित्र में ख-ग की चौड़ाई को कम्पन-क्षेत्र मानकर एक सेकेण्ड में इस क्षेत्र में जितने कम्पन होंगे उतनी उस ध्वनि की कम्पन-संख्या या आंदोलन कहेंगे। आंदोलन-संख्या अधिक होगी तो नाद उच्च ध्वनि-स्तर का होगा व आंदोलन संख्या कम होगी तब नाद निम्न ध्वनिस्तर का होगा।

उदाहरण हेतु मध्य सप्तक के षड्ज की कम्पन-संख्या २४० मानी जाती है जिसका अर्थ यही है कि तार को बजाने के पश्चात् ध्वनि-तरंग अविच्छिन्न रूप में समान गति में रहकर एक सेकण्ड में २४० वार आंदोलित होती रहती है। उच्चा-नुच्चता का स्पष्टीकरण निम्नांकित अन्य चित्रों द्वारा हो सकेगा :—



उक्त दोनों चित्रों में क-ख रेखाएँ समान लम्बाई की है किन्तु चित्र ५ में दर्शित अ ध्वनि-तरंग केवल एक ही सम्पूर्ण ध्वनि-तरग मानी जाती है जबकि चित्र ६ में वही अ ध्वनि-तरग उतनी ही दूरी में दो बार विभक्त हुई दिखाई देती है अर्थात् चित्र ५ की अ तरग जितनी समयावधि में उत्पन्न होती है उतनी ही समयावधि मे चित्र ६ में दो ध्वनि तरगे उत्पन्न होती है। या यो कह सकते हैं कि चित्र ५ के 'अ' नाद में चित्र का "अ" नाद दुगुना ऊँचा है। चित्र ५ के 'अ' नाद को मध्य सप्तक का षड्ज माना जाय तो चित्र ६ के "अ" नाद को तार सप्तक का षड्ज माना जाना चाहिए। पूर्व में कहा गया है कि मध्य सप्तक के षड्ज की कम्पन-संख्या २४० जानी जाती है तो तार सप्तक की कम्पन-संख्या उक्त स्पष्टीकरण के अनुसार दुगुनी अर्थात् ४८० मानी जानी चाहिए। इसी प्रकार ज्यो-ज्यो कम्पन-संख्या बढ़ती है त्यों-त्यों नाद का तारत्व बढ़ेगा। सा से रे, रे से ग, ग से म एक से दूसरे की ध्वनि उच्चता बढ़ती जाती है व सप्तक के सम्पूर्ण सात स्वर सा, रे, ग, म, प, ध, नि, सां स्थिर एवम् नियमित आदोलित संख्या-दृष्टि से क्रमशः एक-दूसरे से उच्च ध्वनियाँ मानी जाती हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से इसे ध्वनि-तरग की लम्बाई (Wave length of Sound) कहा जाता है। इन ध्वनि-तरगों की लम्बाई बढ़ने पर नाद नीचा होता है व ध्वनि-तरगों की लम्बाई कम होने पर नाद ऊँचा होता है। जब तार की लम्बाई कम होगी तब नाद की तारता अधिक होगी और जब तार की लम्बाई अधिक होगी तब ध्वनि-कम्पन-सख्या कम होकर ध्वनि-स्तर निम्न हो जायगा।

इस प्रकार नाद की उच्चावचता तार पर आघात देने के पश्चात् प्रति सेकंड मे होने वाली कम्पन-सख्या पर निर्भर है। यह कम्पन-सख्या जितनी अधिक होगी उतना नाद ऊँचा होगा व कम्पन-संख्या जितनी कम होगी उतना ही नाद नीचा होगा यह उक्त विवेचन से स्पष्ट है।

नाद की जाति अथवा गुण (Timbre) :

एक ही नाद का विभिन्न अंगों द्वारा निर्माण होता है, इसके चार प्रमुख भेद माने जाते हैं : (१) तत् (Sound produced through strings) तार से निर्मित नाद। ऐसा नाद तम्बोरा (तानपुरा), सारंगी, व्हायोलीन, सितार, दिलरुबा, इसराज व सरोद आदि तारवाद्यों द्वारा निर्मित होता है।

(२) वितत् जाति का नाद उसे कहते है जो बिना तार के वाद्यों द्वारा निर्मित होता है। ऐसा नाद किसी वस्तु के दबाव (Percussion) से निर्मित होता है, जैसे ढोल, मृदग, तबला एवम् पखावज आदि।

(३) घन जाति का नाद किसी धातु से बनी वस्तु द्वारा निर्मित होता है। धातु में घनत्व होने के कारण ऐसे नाद-उत्पादक यन्त्र को घनवाद्य कहते है, जैसे झांझ, मंजीरा आदि।

(४) सुषिर जाति का नाद वायु द्वारा निर्मित होता है जिसमें विवक्षित नाद अर्थात् स्वर का विवक्षित फूंक द्वारा निर्माण किया जाता है। ऐसे वाद्य यन्त्र वेणु-बांसुरी, फ्ल्यूट, क्लेरोनेट, हार्मोनियम आदि हैं जिनमें विवक्षित फूंक अर्थात वायु देकर वांछित नाद की प्राप्ति की जाती है।

इस प्रकार हम देखते है कि तत्, वितत्, घन एवम् सुषिर इन चार प्रकार के वाद्यों द्वारा संगीत में विभिन्न, विवक्षित व वांछित नाद-प्राप्ति की जाती है। अतः संगीतोपयोगी नाद किसे कहते है, व्यावहारिक दृष्टि से मन्द्र, मध्य एवम् तार नादों की उत्पत्ति कैसे होती है तथा नाद के प्रमुख तीन भेद कौन से है, इस सम्बन्ध में संक्षेप में विवेचन किया गया है।

नाद से श्रुति, श्रुति से स्वर, स्वर से सप्तक, सप्तक से थाट व थाट से राग एवम् राग से संगीत ऐसा अपनी उत्तर भारतीय संगीत-पद्धति का क्रम है। नाद के विषय मे पूर्व में कहा जा चुका है। अब मूल नाद ॐ नाद-ॐ नाद ब्रह्म-ॐ नाद ब्रह्म षड्जः किस प्रकार निर्मित होता है इस पर विचार करना आवश्यक है।

इस सम्बन्ध में "संगीत रत्नाकर" के कथन से स्पष्ट रूप में ज्ञात होगा :

नासां कण्ठ मुरस्तालु जिह्व दन्ताश्च संस्पृश्न।
षड्भिः सजायते इति षडजोऽभिधीयते ॥

भावार्थ : पूर्व में वर्णित प्राण-वायु (Air in the Lungs) व अग्नि (Vital heat) के संयोग से निर्मित ध्वनि, नासिका (Nose) कण्ठ (Throat) उर हृदय (Heart) तालु (Head) तथा दन्त (Teeth) इन छः (षट) वस्तुओं को स्पर्श करते हुए तैल धारा के समान जो अविच्छिन्न रूप में समप्रमाण गति से उच्चारित होती है व जिसमें मधुरता होती है। उसे षट अर्थात छ जनित (Produced) षट+जः अर्थात् षड्जः कहते हैं। संगीत में यही नाद अर्थात् "षड्ज" मूल, मुख्यनाद माना जाता है जिसकी साधना को संगीतोपासकों ने अत्यन्त महत्त्व का विषय माना है व संगीतोपासक इसी षड्ज नाद को ॐनादम् षड्जः कहते हैं। संगीतोपासक षड्ज की साधना की महत्ता के सम्बन्ध में "प्रथम सुर साधो" अर्थात् सर्वप्रथम सुर की (षड्ज) साधना करो कहते हुए सुनाई देते है क्योंकि षड्ज की साधना ही संगीत का मूल है।

सारांश "नादाधीन मतो जगत्" इस अध्याय के अन्तर्गत नाद की चराचर, जड़ाजड़, पशु-पक्षी एवम् मानव आदि प्राणियों में सर्वत्र व्याप्ति है, आहत् एवम् अनाहत नाद किसे कहते हैं, नाद के प्रमुख तीन स्थान, (मन्द्र, मध्य एवम् तार) नाद के प्रमुख तीन भेद (नाद का छोटा बड़ा होना, नाद की जाति एवम् नाद की उच्चावचता) एवम् "ॐ नादम् षड्जः" से सम्बन्धित संगीत के मूल नाद 'षड्ज' की उत्पत्ति आदि का आवश्यक विवेचन किया गया है। □□□



अध्याय २

शास्त्रीय संगीत एवम् लोक संगीत

शास्त्रीय संगीत एवम् लोक सगीत की चर्चा करने के पूर्व "संगीत शब्द के सम्बन्ध में निवेदन करना अनुचित न होगा। संगीत शब्द समुदायवाचक माना गया है। "गती वाद्यं तथा नृत्य त्रयं संगीत मुच्यते" (संगीत दर्पण) तथा "गानंच वादनं त्रयं संगीत मुच्यते" (संगीत रत्नाकर) संगीत दर्पणकार व संगीत रत्नाकर कार के उपर्युक्त कथन का अर्थ है कि गीत, वाद्य एवम् नृत्य तीनों का ही संगीत में समावेश है। उपर्युक्त कथन में गीत प्रधान माना गया है, इसी कारण उसे संगीत कहा गया है। 'संगीत' शब्द का सन्धि विग्रह देखने से भी गीत की प्रधानता स्पष्ट होती है। संगीत का सन्धि-विग्रह इस प्रकार किया जाता है : सम्+गै+क्तः जिसमें संस्कृत 'गै' धातु प्रधान है जिसका अर्थ गायन करना होता है। सम् उपसर्ग का अर्थ 'साथ' समझ कर किसी के माध्यम से गायन को क्तः अर्थ उक्तः अर्थात् उच्चारित करने से संगीत शब्द का निर्माण हुआ है। इस प्रकार 'संगीत' शब्द की व्युत्पत्ति देखने से भी यही प्रतीत होता है कि 'गायन' अर्थात् गीत संगीत की त्रिविध (Three-fold) कलाओं में आदि एवम् प्रमुख माना जाता है व इसी कारण 'संवाद्य', 'सनृत्य' ऐसा अभिधान न देते हुए "संगीत" यही अभिधान उसे दिया गया है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि संगीत समूहवाचक शब्द है जिसमें गीत, वाद्य एवम् नृत्य-तीनों कलाएँ अपनी-अपनी जगह स्वतन्त्र होते हुए भी उस शब्द में समाविष्ट हैं।

संगीतकला अनादि काल से प्रचार में है। इस सम्बन्ध में विशेष विचार करने का प्रयोजन नही है किन्तु संगीतकला, चाहे उसका शास्त्रीय आधार हो या लोकपक्षीय सामाजिक आधार हो, ललितकलाओं में सर्वश्रेष्ठ कला मानी जाती है। सभी कलाओं के स्वरूप को समझने के दो पक्ष हैं चाहे उनका स्वरूप दार्शनिक, सामाजिक, ऐतिहासिक तथा कलात्मक ही क्यों न हो, इनका स्वरूप समझने के दो पक्ष हैं, यह निश्चित है : एक उसका शास्त्रीय पक्ष व दूसरा उसका लोक-पक्ष। कला को सम्पूर्ण रूप से समझने एवम् उसे आत्मसात् करने हेतु उसके शास्त्रीय पक्ष मानव को कला की गहराई, मंथन, सौन्दर्य-चिंतन एवम् उसके पारम्परिक सिद्धान्तों व नियमों की ओर विचार करने की प्रेरणा देता है तथा कला का लोक-पक्ष सन्तुलन, जीवन की मार्मिक वस्तुस्थिति, समाजरुढ़ विश्वास तथा कलात्मक रंजन की ओर प्रेरित करता रहा है। कला के शास्त्रीय पक्ष में व्यक्ति की प्रतिभा, संवेदनात्मक अनुभूति तथा उसके विभिन्न प्रकार के उपकरण आदि मूल आधार माने जाते हैं किन्तु कला के लोक पक्ष में प्रेरणात्मक आधार सामाजिक विश्वास, रीति-

रिवाज, उत्सव-त्योहार एवम् अनेक ऐसे विशिष्ट मूल्य ही समझे जाते हैं। शास्त्रीय पक्ष जहाँ व्यक्तिनिष्ठ है वहाँ उसका लोक-पक्ष लोकनिष्ठ है। इसका अर्थ यह नही है कि कला के शास्त्रीय पक्ष का समाज से कोई सम्वन्ध नही है। निश्चित ही शास्त्रीय पक्ष में कला का व्यक्तित्व समाज का एक अंग होता है। कला के शास्त्रीय पक्ष की साधना, उसके विकास, उसकी शैली व कला के स्वरूप से ही समाज में विशिष्ट प्रकार की सौन्दर्यानुभूति जागृत होती है। परन्तु इस प्रकार की अनुभूति देने में कला के शास्त्रीय पक्ष, उसका व्यक्तित्व, कला की साधना तथा शास्त्रीय पक्ष की तथ्यपूर्ण परिभाषा ही प्रधान रहती है जो व्यक्तिनिष्ठा का परिचायक ही कहा जायगा। शास्त्रीय एवम् लोक-पक्ष दोनों ही कलात्मक क्षेत्रों में अपनी-अपनी जगह स्वतन्त्र हैं एवम् अपनी-अपनी परम्परागत सामाजिक रूढ़ियों, उत्सव-त्योहारों तथा नियमों द्वारा सौन्दर्य एवम् रञ्जनानुभूति देते है।

शास्त्रीय संगीत का अपना शास्त्र ह, अपने नियनोपनियम है, अपनी परम्परा है व उसका शास्त्रीय पक्ष व्यक्तिनिष्ठ होते हुए भी समाज को सौन्दर्य, रञ्जन एवम् रसानुभूति देता रहता है। कला के लोक-पक्ष में यह बात नही है। कला के लोक-पक्ष का अपना कोई शास्त्र नही, कोई नियम-उपनियम नही अथवा कोई सिद्धान्त नही हैं परन्तु उसमें सामाजिक परम्परा एवम् विश्वास की प्रेरणा हैं व सहज में ही सौन्दर्य, रञ्जन एवम् रसानुभूति उत्पन्न करने की क्षमता है।

शास्त्रीय-पक्ष व लोक पक्ष के कलात्मक विवेचन की दो धाराएँ और हैं—(१) माध्यम एवम् (२) उपकरण। कला का माध्यम वह विषय है जिसके द्वारा कला के विशिष्ट स्वरूप का दर्शन होता है व उपकरण साधन है जिसके द्वारा कला-सृजन होता है।

उदाहरण हेतु चित्रकला में विभिन्न प्रकार के रंग एवम् रेखाएँ, मूर्ति-कला में पत्थर, लकड़ी एवम् धातु आदि तथा भवन में पत्थर, चूना तथा लकड़ी आदि का समन्वयगत प्रयोग उस विवक्षित कला के माध्यम कहे जा सकते हैं। कला के उपकरण साधन आदि के विषय में कहा जाय तो चित्रकला में ब्रुश, पेन्सिल एवम् विभिन्न रंगों का मिश्रण तैयार करने की रीति, मूर्ति-कला में हथौड़ा, करणी आदि तथा भवन-निर्माण में अनेक प्रकार के लौह एवम् लकड़ी के बने विभिन्न औजार—ये सब वस्तुएँ कला के उपकरण समझे जाते हैं। सारांश यह है कि माध्यम व उपकरण कला के स्वतन्त्र तथ्य है जिनके द्वारा कला का दिग्दर्शन होकर उसका दृश्य या श्रव्य स्वरूप स्पष्ट होता है व कला का उद्देश्य-सौन्दर्यानुभूति, रञ्जकत्व तथा रसानुभूति सिद्ध होती है और कला की उस परमोत्पात्मक अनुभूति में मानव व समाज आनन्द-विभोर हो जाता है।

ललित कलाओं में से विभिन्न कलाओं के सम्वन्ध में जो विवरण उपर्युक्त प्रकार से दिया गया है वही विचारधारा एवम् तत्त्व संगीतकला के सम्बन्ध में समझे जाने चाहिए। संगीतशास्त्र का भी अपना शास्त्रीय तथा लोक-पक्ष है। उसमें भी

शास्त्रीय पक्ष की अथाह गहराई, टीकात्मक गम्भीर मंथन, सिद्धान्त, नियमोपनियम एवम् परम्परा है। विशेष माध्यम एवम् उपकरण द्वारा शास्त्रीय संगीत का सृजन होता है उसके लोक-पक्ष में कोई विशिष्ट-सिद्धान्त शास्त्र, नियम उपनियम न होकर केवल सामाजिक विश्वास, रूढ़ियाँ, उत्सव-त्यौहार तथा परम्परागत मूल्य है। लोक-सगीत में अपने माध्यम व उपकरण द्वारा सहज रूप में भावाभिव्यक्ति करने की क्षमता होती है। अर्थात् सक्षेप में यह कहना अनुचित नही होगा कि शास्त्रीय सगीत व्यक्ति-प्रधानता पर आधारित होकर अपने स्वतन्त्र सिद्धान्त, नियम-उपनियम एवम् परम्परा द्वारा विकासोन्मुख होता रहा है। वही लोक-संगीत शास्त्र होते हुए भी अपनी विशिष्ट, सामाजिक रूढियो एवम् परम्पराओं के द्वारा सहज रूप में ही भावाभिव्यक्ति तथा रसानुभूति की ओर अग्रसर होता रहता है।

सगीत-कला का माध्यम एवम् उपकरण क्या है यह विचारना है। शास्त्रीय संगीत एवम् लोक-सगीत दोनो का माध्यम एक ही है जिसे हम संगीतोपयोगी नाद कहते है। दोनो ही प्रकार के संगीत (शास्त्रीय तथा लोक) में संगीतोपयोगी नाद की परिभाषा वही है जिसका पूर्व में विवेचन किया गया है। वही आहत नाद, वह चाहे कण्ठ द्वारा सृजित हो या तत्, वितत् एवम् सुषिर वाद्यों द्वारा आहत हो, शास्त्रीय एवम् लोक संगीतोपयोगी है। शास्त्रीय संगीत एवम् लोक-संगीत में संगीत-सृजन का माध्यम अवश्य एक ही है किंतु उसके उपकरण भिन्न-भिन्न हैं। यहा सर्वप्रथम माध्यम के विषय में ही विचार करे। शास्त्रीय सगीत एवम् लोक-सगीत का पूर्णरूपेण स्वरूप व्यक्त करने के लिए नाद का माध्यम एक महत्वपूर्ण तथ्य है यह निर्विवाद है। क्या केवल शब्दविहीन संगीतोपयोगी आहत् नाद ही उसके हेतु पर्याप्त है या उसे शब्द काव्य की आवश्यकता है? भाषा-काव्य तथा सगीतोपयोगी आहत् नाद अथवा स्वर इन दोनों माध्यमों द्वारा पृथक् निर्मित सगीत की अपनी एक विशेषता है। इन दोनों माध्यमों को आसानी से पृथक् करके सगीत के रस, सौन्दर्य एवम् रंजन की अनुभूति नही की जा सकती है। जिस प्रकार शब्द का सार्थक्य उसके सामाजिक रूप में, किसी निश्चित अर्थ-बोध होने में है उसी प्रकार सगीतोपयोगी नाद (आहत्) या स्वर तभी सार्थक है जब उसके अमूर्त स्वर-नादो मे रञ्जन एवम् रस-माधुरी की क्षमता हो व दोनों माध्यमों अर्थात् (१) शब्द-काव्य एवम (२) सगीतोपयोगी आहत् नाद-स्वर, का समन्वय होकर संगीत-सृजन हो। अतएव सगीत की अमूर्त नाद-ध्वनियों को शब्द अथवा काव्य का आवरण पहनाया जाता है व जब गीत के बोल सगीत के स्वर से संपर्क स्थापित करते है तब संगीत की उद्भावना इन दोनों ही माध्यमों द्वारा एक विशेष स्थान ग्रहण करती है। शास्त्रीय संगीत हो या लोक-सगीत हो उसमें शब्द-काव्य की आवश्यकता नही है व केवल सगीतोपयोगी अमूर्त नाद-ध्वनियां ही पर्याप्त है इसकी अधिक चर्चा करना यहा अनावश्यक है। सक्षेप में यही कहना उचित है कि दोनों ही प्रकार के संगीत (शास्त्रीय एवम् लोक-सगीत) में उसकी अमूत स्वर-व्यक्तियों को काव्य का

आवरण पहनाने से दोनो ही प्रकार के (शास्त्रीय एवं लोक-सगीत) सगीत को एक मूर्त स्वरूप प्राप्त होकर संगीत का उद्देश्य विशिष्ट प्रकार मे सिद्ध होना है। अत. गीत के बोलो को संगीत से पृथक् करना अनुचित होगा व यह एक अनुभूति-मूलक तथ्य है।

अब शास्त्रीय संगीत की विशेष जानकारी करने हेतु यह विचार करना है कि जब भाषा-काव्य शब्द एवम् संगीत ध्वनियो के समन्वय से संगीत का सृजन होता है तब शास्त्रीय संगीत का इसमे किस प्रकार सम्बन्ध बैठता है। पूर्व में हम कह चुके है कि शास्त्रीय संगीत का नाद से स्वर, स्वर से सप्तक, सप्तक से थाट एवं थाट से राग आदि क्रम है। अब शास्त्रीय संगीत में नाद से स्वर किस प्रकार निर्माण हुआ, यह देखना चाहिए। यहां भौतिक वैज्ञानिकों द्वारा कथित (Phonetics) फोनेटिक्स एवम् (Acoustics) अकाउस्टिक्स विषयो की ओर किंचित् लक्ष्य किया जाय तो अनुचित न होगा। फोनेटिक्स का भाषा से सम्बन्ध है। फोनेटिक्स द्वारा भाषा की अनेक ध्वनियों की गेयता जानी जाती है। इसके द्वारा छन्दोबद्ध पद्य अथवा काव्य पाठ मे ह्रस्व, दीर्घ एवम् प्लुत मात्राओं में निहित निश्चित मात्राओं की गणना से उनकी संगीतात्मक गेयता एवम् समप्रमाण लयबद्धता स्पष्ट रूप में प्रकट हो जाती है। जहां फोनेटिक्स ने भाषा, वाणी एवम् स्वर का समन्वय कर उसे संगीतात्मक गेयता प्रदान की है वहा अकाउस्टिक्स ने बोलने की क्रिया में वायुमण्डल में उठने वाली ध्वनि-तरंगों से स्वर का सम्बन्ध जोड़ा है। ये तरंगें कानों से जाकर टकराती है। जब उन तरंगों की विवक्षित संख्या पूरी हो जाती है तब सम्पूर्ण शब्द ध्वनि का बोध हो जाता है। किन्तु शास्त्रीय संगीत मे शब्द-ध्वनि केवल पर्याप्त नही है, उसका स्वर बनना आवश्यक है। अतः संगीतोपयोगी स्वरध्वनि कितनी ध्वनि-तरंगों के पश्चात् बनती है यह प्रश्न स्वाभाविक है। वैज्ञानिकों ने भारतीय संगीत स्वर-सप्तक के मूल अथवा प्रारम्भिक स्वर-षड्ज की ध्वनि-तरंगें २४० मानी जाये ऐसा बताया है व इस प्रकार २४० ध्वनि तरंगें विच्छिन्न अवस्था में समप्रमाण रूप में अबाध गति से पूर्ण हो जाती हैं तभी ही केवल षड् स्वर की ध्वनि गृहीत समझी जायगी यह तथ्य आज भारतीय शास्त्रीय संगीत में विद्यमान है व यही षड्ज स्वर भारतीय शास्त्रीय संगीत के प्रारम्भिक षड्ज अथवा मध्य स्वर-सप्तक का षड्ज है। ये ध्वनि-तरंगें षड्ज के पश्चात् गृहीत आगे के स्वरों में बढ़ती जाती हैं व तार-सप्तक के षड्ज में द्विगुण अर्थात् ४८० हो जाती हैं। प्राचीन एवम् मध्यकाल के भरत शारंगदेव, लोचन अहोबल तथा श्रीनिवास आदि संगीतशास्त्रविदों में भारतीय संगीत सप्तक में २२ श्रुतियो पर "चतुश्चतुश्चतुश्चुव धैवतो" इस सिद्धान्त पर स,म, प, ४/४ श्रुतियां रि,ध ३/३ श्रुतियां तथा गनि २/२ श्रुतियां देकर सात स्वर बताये हैं किन्तु उनकी ध्वनि तरंग संख्या अथवा आन्दोलन-संख्या के सम्बन्ध में वे मौन रहे हैं। आधुनिक काल म प. भातखण्डे जी ने प्रचलित उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत जसे हिन्दुस्तानी पद्धति का संगीत कहते हैं उसका जो सर्वमान्य स्वर-सप्तक बताया

है व जो आज भारत के कर्नाटक तामिलनाड एवम् दक्षिण प्रात को छोड़कर शेष सर्वत्र प्रचलित है उस स्वर-सप्तक के सम्पूर्ण स्वरों के वैज्ञानिक आधार पर ध्वनि-तरंग, कम्पन, आन्दोलन निश्चित करके बताये है और वे ही आज हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति में गृहीत है। प्रचलित भारतीय शास्त्रीय संगीत-पद्धति में सप्त (स्वरों की कम्पन संख्या पं० विष्णु शर्मा चतुर पण्डित) कृत अभिनव राग-मंजिरी मे स्वीकृत, जिसका उल्लेख पं० भातखण्डे कृत क्रमिक पुस्तक मालिका भाग ४ में भी है निम्न हैं :—

क्रमांक	स्वरनाम	ध्वनि तरंग संख्या
१.	षड्ज (सा.)	२४०
२.	ऋषभ (रे)	२७०
३.	गांधार (ग)	३०१ $\frac{१७}{४३}$
४.	मध्यम (म)	३२०
५.	पंचम (प)	३६०
६.	धैवत (ध)	४०५
७	निषाद (नि)	४५२ $\frac{४}{४३}$

उपर्युक्त सप्त शुद्ध स्वरों के अतिरिक्त आज हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति में पाँच विकृत स्वर भी प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार भारतीय शास्त्रीय संगीत में एक सप्तक मे १२ स्वर गृहीत हैं। इन पांच विकृत स्वरों की कम्पन-संख्या अभिनव राग-मंजिरी-कार द्वारा स्वीकृत इस प्रकार है :—

क्रमांक	स्वर-नाम	ध्वनि-तरंग-संख्या
१.	कोमल ऋषभ-रे	२५४ $\frac{२}{१७}$
२.	कोमल गांधार-ग	२८८
३.	तीव्र मध्यम-में	३८८ $\frac{१४}{२७}$
४.	कोमल धैवत-ध	३९१ $\frac{३}{१७}$
५.	कोमल निषाद-नि	४३२

संगीत मे गंभीर अध्ययन, सूक्ष्म एवं अथाह गहराई युक्त चिंतन का जितना महत्त्व है उससे कहीं अधिक महत्त्व शास्त्रीय संगीत के रागों की गुरुमुख प्रत्यक्ष शिक्षा या तालीम का है। इसी गुरुमुख तालीम से शास्त्रीय संगीत को शास्त्र के साथ-साथ परम्परा का भी एक विशेष आधार प्राप्त हुआ है।

राग की उपर्युक्त व्याख्या के पश्चात् भी राग-गायन के संबंध मे अनेक तथ्य शेष रह जाते हैं। इन रागों को निश्चित प्रहरों में एवं विशिष्ट ऋतुओं में गाये जाने के भी नियम और परंपरायें हैं। सप्तक सां रे ग म प ध नि सा को सा रे ग म तथा प ध नि सां इन दो भागों मे विभाजित करके पूर्व राग और उत्तर राग अथवा पूर्वाङ्गवादी राग तथा उत्तराङ्गवादी राग कहा जाता है तथा २४ घण्टों के एक दिन में किन-किन रागों को किन-किन विशिष्ट प्रहरों में गाया जायेगा. यह भी नियम व परंपरा मे सुनिश्चित है। इसी प्रकार सूर्योदय एवं सूर्यास्त, जिन्हें क्रमशः प्रातः का संधि-प्रकाश-समय व सायं का संधिप्रकाश-समय कहते हैं, की वेला में किस प्रकार के राग गाये जाने चाहिए यह भी सिद्धान्त बनाया गया है। शिव, सोमेश्वर, कल्लिनाथ भरत तथा हनुमत् आदि मतों के अनुसार जब ३६ रागनियां प्रचार में थीं तब भी उनका गायन ऋतु तथा समय विशेष में होना निश्चित था। जैसे छः रागों में से, सोमेश्वर मत के अनुसार, वसंत राग को वसंत ऋतु में गाया जाना चाहिए व मेघ राग को वर्षा ऋतु मे गाना जाना चाहिए। इसी प्रकार आदि राग भैरव प्रातः के संधि-प्रकाश-समय में तथा विशेषतः ग्रीष्म ऋतु में गाया जाना चाहिए। बसंत राग के गीतों के स्वर-समूह मे इस प्रकार का समन्वय किया गया है कि इससे बसंत ऋतु के वायुमंडल में व्याप्त आनंददायक और चित्ताकर्षक अनुभूति सक्रिय हो। यही तत्त्व मेघ-राग में दिखाई देता है।

भैरव-राग में प्रयुक्त होने वाले स्वर-समूह का गीत-काव्य से इस प्रकार का समन्वय दिखाई देता है जिससे मानव को प्रातःकाल की विशेष प्रकार की बेला में उपयुक्त अनुभूति प्राप्त होती है अर्थात् राग का समय, सिद्धान्त व उसके नियम भारतीय शास्त्रीय संगीत में विशेषता महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय शास्त्रीय संगीत रागदारी संगीत पर ही आधारित है। विशिष्ट रागनियम, सिद्धान्त एवं लक्षणों के परिपालन में ही शास्त्रीय संगीत की मर्यादा, परंपरा एवं गांभीर्य निहित है।

पं० भातखण्डे जी द्वारा हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति पर लिखित क्रमिक पुस्तक भाग ५ में रागदारी संगीत के गायन-वादन संबंधी जो नियम और सिद्धान्त दिये गये हैं उनका परिपालन उचित रूप में किए जाने से रागदारी संगीत का उद्देश्य "रंजयति इति रागः" पूर्णरूपेण साध्य होता है। अतएव भारतीय शास्त्रीय संगीत के सिद्धान्तों, नियम-उपनियमों, परंपरा एवं उचित प्रस्तुतीकरण के संबंध में निषेध

विवेचन करने की अपेक्षा उसकी अन्य विशेषताओं की ओर संक्षेप में विचार करना अधिक उचित होगा।

राग प्रस्तुतीकरण में गीत एक महत्त्वपूर्ण स्तम्भ है। शारंगदेव के समय मे प्रबंध, वस्तु-रूपक आदि गीत-प्रबन्ध गाये जाते थे। इसके पश्चात् हिन्दुस्तानी संगीत में ध्रुवपद गीत-प्रबंध प्रचार में आया व इस गायन-शैली ने अपना निश्चित एवं शास्त्रीय स्वरूप ग्रहण कर लिया। ध्रुवपद गायन-शैली को भक्तगणों की श्रद्धालु गायन-शैली की परंपरा का स्थान मिला। इस प्रकार इस शैली के ईश्वरोपासना-परक तथा शास्त्रीय दोनों ही रूप प्रचार में आये तथा मुस्लिम शासन एवं संस्कृति के प्रभाव से शास्त्रीय संगात में विशेषतः हजरत अमीर खुसरो द्वारा प्रचारित "कव्वाली ख्याल" प्रचलित हुए। शनैः-शनैः शास्त्रीय संगीत में ये कव्वाली ख्याल उच्च प्रकार के गीत-प्रबंध समझे जाने लगे। ध्रुव-पद गायन-शैली भी इस समय जीवित थी। इसका सारा श्रेय भक्तिमार्गीय विचारकों को है जिन्होंने राम, शंकर, विष्णु आदि देव-देवताओं की आराधनापरक प्रबंध रचकर ध्रुवपदों की गायन-शैली को अर्चना, भक्ति व पूजा विधि का निश्चित अंग बनाया। इस गायन-शैली की, खंडार, नौहार, डागुर एवं गोबर हारे, वाणियां अर्थात् शैलियां थी। राग-नियमों एवं लक्षणों का पालन करते हुए कुछ समय पश्चात् ध्रुवपद गायनशैली में दुगुन, तिगुन, चौगुन, आड, कुआड तथा उपज आदि अनेक विभिन्न लयकारियों के शास्त्र का शुद्ध दिग्दर्शन होने लगा था। आज भी ध्रुवपद गायन-शैली के उच्च कलाकार इस गायन शैली को ही सर्वश्रेष्ठ स्थान देते हैं और उस परंपरा का अनुपालन करते हुए उसे जीवित रखे हुए हैं।

मुस्लिम काल के मध्यचरण से लोचन, अहोवल, रामामात्य, सोमनाथ, दामोदर मिश्र, पुंडरीक विट्ठल, अहोवल, हृदय नारायण देव एवं भावभट्ट ऐसे अनेक संगीत शास्त्रकारों ने संगीत-शास्त्र पर अनेक ग्रंथ लिखकर शास्त्रीय संगीत को उच्च कोटि का तथा उचित मार्गदर्शन दिया।

राज्याश्रित गायकों ने अपना राजाओं-सम्राटों के यशगान में ख्याल-गान शैली को मोड़ दिया। सदारंग एवं अदारंग आदि जो श्रेष्ठ गायक कहे जाते थे उनकी शिष्य-परंपरा ने ख्याल-गायकी को दरबारी अर्थात् राज-दरबार में गायी जाने वाली गायन-शैली की श्रेणी में रखकर एक विशेष स्थान दिया। किन्तु ख्याल-गायन शैली में राग का विकास राग-नियमों द्वारा ही होता रहा। स्थाय, द्वयर्थ, द्विगुण एवं अर्थस्थित इन स्वस्थान नियमों के स्थान पर आधुनिक आलाप-गायन की रागालाप शैली प्रचार में आई। इसी प्रकार गायन-शैली के साथ-साथ गायन के कुछ मनोरंजक प्रकार ठुमरी, दादरा, सादरा, टप्पा आदि सुगम गायन-शैली-रूप भी आविष्कृत हुए व शनैः-शनैः इस सुगम कही जाने वाली गायन-शैली को उपशास्त्रीय अथवा अर्ध शास्त्रीय संगीत की श्रेणी प्राप्त हुई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ध्रुवपद एवं ख्याल-गायकी को ही उच्च

कोटि का शास्त्रीय संगीत माना जाता है। परन्तु फिर भी ध्रुवपद-गायन-शैली के गायक ख्याल-गायकी को नही गाते हैं तथा ख्याल-गायन-शैली के गायक ध्रुवपद गायन-शैली को नही अपनाते हैं। इस विशिष्ट शैली-विभाजन के अंगीभूत ही शास्त्रीय संगीत के जगत् में विभिन्न घराने प्रचारित हुए। विशिष्ट संगीत कलाकारों की परंपरा में शिक्षा प्राप्न करने वाले शिष्यों के विभिन्न समुदाय निर्मित हुए। अपनी साधना, विशिष्ट प्रकार की शैली, स्वराभ्यास, विशिष्ट प्रकार की तान, गमकादिक अलंकारों का अभ्यास, विशिष्ट प्रकार के प्रस्तुतीकरण आदि बातों द्वारा ये घराने पनपते रहे व आज भी शास्त्रीय संगीत में ध्रुवपद-गायन शैली का डागुर घराना, ख्याल-गायन-शैली का ग्वालियर घराना, किराना घराना, जयपुर घराना और आगरा घराना के प्रचारकों एवं तपोनिष्ठ साधकों में डागुर बंधु, विष्णु दिगंवर, शंकर पंडित, कृष्ण राव पंडित, अल्लाउद्दीन खाँ, राजाभैया पूंछवाले, ठाकुर ओंकार नाथ, फैय्याज खाँ, अब्दुल करीम खाँ, बड़े गुलाम अली खाँ, रविशंकर, अली अकबर एवं विनायकबुआ पटवर्धन जैसे उच्च कोटि के गायक तथा वादक संगीत के श्रेष्ठ उपासक माने जाते हैं।

शास्त्रीय संगीत मे गायक के विषय में जिस शास्त्र अर्थात् नियमों, सिद्धान्तों एवं परंपरा का पालन किया जाता है, उसी के अनुसार वाद्य संगीत में भी रागों का विकास, विस्तार व बढ़त करके रंजनात्मक अनुभूति प्रदान की जाती है। वाद्यों मे भी अनेक वाद्य शास्त्रीय संगीत मे संगत या स्वतंत्र वादन के रूप में प्रयुक्त होते हैं जिनमें वैदिक काल से आज तक विभिन्न प्रकार से परिवर्तन होता आया है। वैदिक काल में यज्ञकर्म (Sacrificial rites) तब तक पूर्ण रूप से संपन्न नहीं माना जाता था जब तक कि ब्राह्मणों द्वारा गायी जाने वाली वैदिक, ऋचाओं के साथ वीणावादन का संयोग नही होता था। याज्ञवल्क्य स्मृति का भी यही मन्तव्य है :—

ब्राह्मणो वीणागायिनो गायत: ब्राह्मणोऽन्ये गाये दिति श्रुतिः ॥
तस्मात् गायन्त इति श्रुतिः ॥
वीणा वादन लब्वज्ञः श्रुतिजति विशारदः ।
तालज्ञस्य प्रयासेन मोक्षमार्गं समुच्छति ॥
याज्ञवल्क्य स्मृतिः

वीणा के भी रुद्र, नारद, सरस्वती एवम् तुंबरु आदि प्रकार थे व उनके वादन के भी विशेष नियम थे। शनैःशनैः इन तंत्र-वाद्यों में नकुल, चित्र विपंची, उन्मत्त कोकिल, आलापिति, किन्नरी आदि प्रकार प्रचार में आये, किन्तु जैसे-जैसे संगीत परिवर्तित होता गया वैसे-वैसे उसके वाद्य यंत्रों में भी परिवर्तन होता गया। फलतः आज कण्ठ-गायन तंबूरे अथवा तानपूरे के बिना नहीं होता है। अन्य सितार, सरोद, वायलिन, दिलरुबा, सरोद, सारंगी आदि वाद्यों का वादन स्वतंत्र रूप में प्रचलित है। उपयुक्त वाद्यों में से कतिपय वाद्य यंत्र यथा सारंगी, वायलिन

आदि गायक के गायन के साथ संगीत के रूप में भी प्रयुक्त किये जाते है। इन वाद्यों के तारों को किन-किन स्वरों में मिलाया जाय, तारों में पारस्परिक स्वर संवाद कैसा रखा जाय, इसके भी नियम निश्चित किये हुए हैं व आज भी उन्ही नियमों को शास्त्रीय नियम मानकर गायन अथवा वादन क्रिया में उनका संपूर्ण रूप से पालन किया जाता है। गायन हेतु तंबूरा (तानपूरा) विशेषतः आवश्यक वाद्य है जिसके विषय में विस्तृत जानकारी अध्याय १४ में देखिये।

मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव से जिस प्रकार प्राचीन रागों के शास्त्रीय रूप में, परिवर्तन हुआ है तथा अमन, सरपरदर, वहार, मियांमल्हार, दरबारी कान्हाड़ा आदि उसी प्रकार प्राचीन वाद्य यंत्रों के भी सितार, सरोद, सारंगी आदि परिवर्तित रूप आज दिखाई दे रहे हैं।

शास्त्रीय संगीत की एक विशेषता 'ताल' है। शास्त्रीय संगीत में गायन, वादन एवं नर्तन तीनों ही कलाओं में ताल तथा लय को सीमाबद्ध अंकुश कहना उचित होगा। कात्यायन ने भी ताल और लय को तौर्यत्रिक अर्थात् अंकुश की उपमा प्रदान की है। कात्यायन कहते हैं :—

तौर्यत्रिकस्तुमत्ये भस्तालस्तस्यांकुशोमतः।
न्यूनाधिक प्रमाणतु प्रमाणं क्रियते यतः॥

मदमस्त हाथी को मर्यादित करके उसको वांछित एव उपयुक्त गति पर लाने हेतु जिस प्रकार विशिष्ट प्रकार के लोहे के बने अंकुश-तौर्यत्रिक से काम लिया जाता है उसी प्रकार शास्त्रीय संगीत को प्रमाणबद्ध एवं वांछित रूप में चित्तरंजक करने हेतु ताल तथा लय की आवश्यकता है। श्रद्धावान् भक्त ने ताल की उत्पत्ति के संबंध में अपना विश्वास व्यक्त करते हुए कहा है :—

तकारः शंकरः प्रोक्तोलकारः पार्वतीस्मृतः।
शिवशक्तिस्समायोगात्ताल इत्यभिधीयते॥

अर्थात् 'तकार' शंकर भगवान द्वारा उच्चरित तथा 'लकार' पार्वती देवी द्वारा उच्चरित होकर शिव एवं पार्वती के संयम से ताल शब्द का निर्माण हुआ है। ताल वास्तव में क्या है, इसे समझने हेतु भरत मुनि ने कहा "वाद्यं तुर्याननं प्रोक्तं कलापातलयान्वितम्।" 'तुर्याननं' अर्थात् वाद्य वर्ग में से चौथा प्रकार घन वाद्य जिसके द्वारा उसे कलापात व लय की अन्विति होना बताया है अर्थात् कला एवं लय-गति से युक्त काल-अवकाश को ही ताल कहते हैं। आज की परिभाषा में कला अर्थात् बाध परिमाणा (unit) मात्रा से समझते हैं। ताल की उपर्युक्त परिभाषा में 'पात' शब्द का तात्पर्य है कि पतन, आघात देना यानी ताली देना जिसे पातक्रिया या ताल-क्रिया कहते है। यह पातक्रिया या तालक्रिया दो प्रकार से कही जाती है।

१. सशब्द पातक्रिया एवम् २. निःशब्द पातक्रिया।

सशब्द पातक्रिया में आघात करने से ध्वनि अर्थात् शब्द होता है। सशब्द

पातक्रिया ४ प्रकार की होती है :

१. चुटकी बजाकर शब्द उत्पन्न होता है।
२. शम्या दक्षिण हस्त (Right hand) से वामहस्त (Left hand) पर ताली से निर्मित शब्द।
३. ताल वामहस्य से दक्षिण हस्त पर आघात अर्थात् ताली देने से निर्मित शब्द।
४. सन्निपात दोनों ही हाथ सामने रखकर ताली देना।

इसी प्रकार निःशब्द पातक्रिया के भी चार प्रकार बताये गये हैं :—

१. आलाप—हाथ के पंजे को हथेली की ओर ऊपर रखकर अंगुलियों को बंद करने की शब्दविहीन क्रिया।
२. निष्काम—उसी हथेली को नीचे करके शब्दविहीन क्रिया।
३. विक्षेप—वही पलटा हुआ हाथ का पंजा सीधी ओर फेंकने की शब्दविहीन क्रिया।
४. प्रवेश—वही प्रथम प्रकार की अवस्था में पूर्व स्थान पर लाकर अंगुलियों को यथा स्थान लाने की शब्दविहीन क्रिया।

उपर्युक्त सशब्द पातक्रिया में 'शम्या' तथा निःशब्द पातक्रिया मे 'विक्षेप' आज के प्रचलन में ताल एवं विक्षेप समझना चाहिए। शम्या एवं विक्षेप को ही आज ताली एवं खाली कहते है। ताल एवं काल के अतिरिक्त लय अथवा गति ताल की विशेषता है। लय अथवा गति सृष्टि में सर्वत्र व्याप्त है। रक्त प्रवाह, हृदय की धड़कन, बोलने की क्रिया तथा हमारी चलने की चाल आदि में एक सुनिश्चित गति अथवा लय है। समय की सुनिश्चित प्रमाणता से आने वाली निरन्तर प्रक्रिया को लय कहते हैं। भरतमुनि ने "कला काल कृतोलयः" इस सूत्र द्वारा लय की व्याख्या दी है।

लय के मुख्य तीन प्रकार बताये गये हैं:—१. विलंबित २ मध्य एवं ३. द्रुत। मध्य लय ही साधारण प्रमाणलय मान ली जाए तो मध्य लय से दो कला अर्थात् दुगुनी धीमी लय विलम्बित होगी तथा मध्यलय से दुगुनी गति द्रुतलय होगी, यह तथ्य आज सर्वविदित है। "अष्टोत्तर शात ताल लक्षणम्" में संगीतोपयोगी १०८ तालों में विवेचन किया गया है किन्तु आज के भारतीय शास्त्रीय संगीत में अधिकतर जो तालें प्रचार में हैं वे है १. दादरा मात्रा छः २. तीव्रा मात्रा ७, ३. रूपक मात्रा ७, ४. कहरवा मात्रा ८, ५. झपताल मात्रा १०, ६. सूलताल मात्रा १० एकताल मात्रा ८ चौताल मात्रा १२ दीपचंदी मात्रा १४, १० झूमरा, धमार प्रत्येक १४ मात्राओं का, १२. त्रिताल एवं तिलवाड़ा मात्रा प्रत्येक में १६ आदि। उक्त तालों में से कतिपय ताल मृदंग, अथवा पखावज पर ध्रुवपद एवं धमार शैली के शास्त्रीय गीत-प्रबंधों के साथ बजाये जाते हैं तथा अन्य शेष ताल तबला एवं डुग्गी पर ख्याल, तराना, टप्पा आदि शैलियो के गीत प्रबन्धों के साथ बजाये जाते हैं। ताल का दिग्दर्शन अवनद्ध अथवा वितत् वाद्यों द्वारा किया जाता है। शास्त्रीय संगीत में अधिकतर, तबला, डग्गा

एवम् मृदंग-पखावज इन्ही अवनद्ध वाद्यों का उपयोग किया जाता है। कर्नाटक संगीत-पद्धति के शास्त्रीय गायन, वादन एवं नर्तन में घटम् अर्थात् माटी की बनी हुई मटकी भी एक प्रमुख ताल वाद्य के रूप में प्रयुक्त होती है।

उपर्युक्त ताल वाद्यों पर बजने वाली तालों का गायक अथवा वादक के गीत प्रवन्ध अथवा गत प्रबंध से समन्वय होना आवश्यक होता है। गायक अथवा वादक जिस गीत-प्रवन्ध अथवा गत प्रबंध को गाता बजाता है, वे गीत अथवा ात उस विवक्षित ताल की मात्राओं की प्रमाणवद्ध गति से निवद्ध होते है तथा गायन ग्थवा वादन तथा ताल की प्रक्रिया अथवा रूप समान वजनों पर निश्चित होता है। किसी भी स्थिति में उस विवक्षित ताल-मात्राओं की संपूर्ण मात्राओं का अतिक्रमण शास्त्रीय संगीत के नियमविरुद्ध माना जाता है। जहाँ गीत अथवा गत में 'सम' का अक्षर या स्वर है वही ताल के सम के अक्षर को आना चाहिए।

इस नियम का गायक एवं वादक के लिए पूर्णरूपेण पालन करना आवश्यक है। यदि इसका पालन नही किया गया तो ताल और गायन-वादन में विसंगति, विघटन तथा अनिवद्धता दिखाई देगी, फलतः शास्त्रीय संगीत अनुशासनहीन प्रतीत होने लगेगा।

गायन-वादन करते समय विभिन्न दुगुन, तिगुन, चौगुन, अठगुन के अतिरिक्त सवागुन, डेढगुन एवं पौनेदोगुन की लयों में भी गायक, वादक तथा ताल-वादक कलाचातुरी दिखाते रहते हैं, किन्तु दोनो में ही अर्थात् गायन-वादन एवं ताल-वादन में संवादन एवं निवद्धता रहनी नितांत आवश्यक है।

रागदारी संगीत पर आधारित शास्त्रीय संगीत स्वर-प्रधान माना जाता है। इसीलिए "रंजकः स्वर संदर्भो गीतमित्यऽभिधीयते" ऐसी गीत की परिभाषा भी की गई है, किन्तु संगीत-कला के शास्त्रीय पक्ष में वर्णों और शब्दों द्वारा जो गीत पद्य बनता है उसके भावपक्ष का भी अपना महत्त्व है। इसी कारण वाग्गेयकारों ने गीत के बोलों का रागोचित स्वरों से समन्वय करके ही गीत-पद्य अर्थात् ख्यालादि के प्रबंध रचे। गायन करते समय काव्य भाषा की दृष्टि से स्पष्ट शब्दोच्चारण, गति की दृष्टि से पद उच्चारण एवं रागस्वरों की दृष्टि से स्वर समन्वय युक्त, गीत के बोलों का, भावपूर्ण उच्चारण आदि के महत्त्वपूर्ण तथ्यों की ओर गायक का विशेष ध्यान होना चाहिए जिससे गीत में निहित काव्यार्थ तथा रागस्वरों में निहित भाव आदि की अनुभूति हो व "रंजयति इति राग" का उद्देश्य सिद्ध हो। तात्पर्य यह है कि ख्याल आदि प्रबंध गाते समय राग, काव्य, स्वर, ताल एवं लय के समन्वय की ओर विशेष देना चाहिए जिससे शास्त्रीय संगीत के भावपक्ष की भी श्रोतृ समाज को अनुभूति हो सके।

संगीत में समाविष्ट गायन, वादन एवं नृत्य इन तीनों कलाओं में से गायन और वादन के संबंध में शास्त्रीय पक्ष की विशेषताओं के यथोचित एवं आवश्यक तथ्य उक्त विवेचन में दिये गये हैं। अब शास्त्रीय संगीत की नृत्य अर्थात् नर्तन-कला के संबंध में भी संगीत का शास्त्रीय पक्ष अनादि काल से आज तक किस प्रकार विकसित हुआ,

उसमें क्या क्या परिवर्तन हुए, आज की नृत्य कला किस स्थिति में है, आदि मुद्दो पर विचार करना आवश्यक है।

नृत्य अथवा नर्तन शास्त्रीय संगीत में समाविष्ट तीन कलाओं में से एक है। नृत्य के संबंध में विशेष विवेचन करने से पूर्व नृत्य का किस प्रकार आविष्कार हुआ इसका एक पौराणिंक कथा वर्णन रुचिकर होगा। कहते है कि ब्रह्मा जी ने जब नाट्य वेद रचा तब इन्द्रादि देवों ने उन्हें परामर्श दिया कि वे शंकर भगवान के पास जाकर नृत्य की शिक्षा भी प्राप्त करें। तदनुसार ब्रह्माजी ने यह शिक्षा शिव जी से प्राप्त की और तदनुसार भरत ऋषि को इसमें दीक्षित किया। भरत मुनि ने जब शिवजी के सम्मुख इसका प्रदर्शन किया तब शिवजी ने अपने प्रमुख शिष्य तंडु अर्थात् नन्दिकेश्वर को भरत को पुनः शिक्षा प्रदान करने के लिए कहा। भरत ने तंडु से जब यह शिक्षा प्राप्त की तब उसे तांडव नृत्य की संज्ञा उन्होने दी। कहते हैं कि तांडव पौरुषी नृत्य की विशेपता लिए हुए है। भरत ने तंडु से प्राप्त इस तांडव नृत्य की शिक्षा अन्य ऋषियों को प्रदान की और इस प्रकार यह पौरुपी नृत्य मृत्युलोक में आविर्भूत हुआ। शिवजी ने स्त्री-सुलभ मार्दव युक्त विशेप प्रकार का नृत्य पार्वती जी को सिखाया जिसे 'लास्य' नृत्य की संज्ञा दी गई। पार्वती जी ने यह लास्य नृत्य वाणासुर की पुत्री उषा को सिखाया, तदनन्तर उषा के द्वारा यह स्त्री-सुलभ लास्य नृत्य द्वारिका में गोपियों को सिखाया गया। इस प्रकार उक्त पौराणिक कथा के आधार पर यह कहा जाता है कि पौरुषी, वीर एवं रौद्र रसात्मक तांडव नृत्य का भरत मुनि द्वारा सृष्टि में आविर्भाव हुआ एवं स्त्री-सुलभ मार्दव, माधुर्य, प्रेम, तथा शृंगार आदि से युक्त लास्य नृत्य का उषा द्वारा मृत्युलोक मे आविर्भाव हुआ। तांडव एवं लास्य का मिश्रण आज शास्त्रीय नृत्य में किस प्रकार विकसित हुआ है व उसका परिवर्तित रूप आज कैसे प्रस्तुत हो रहा है, इसकी चर्चा के पूर्व नृत्य की कुछ विशेष बातों का ज्ञान वांछित है।

नृत्य के तीन प्रकार माने जाते हैं—

नाट्यम्, नृत्यम् एव नृत्तम् "नाट्यम्, नृत्यम् तथा नृत्तम् त्रिधा तदिति कीर्तितम्" इस प्रकार ये तीनों ही नृत्य में समाविष्ट हैं। नाट्य उसे कहते हैं जिसका प्रयोजन रंगमंच पर प्रश्नोत्तरों के साथ नाटक-संचालन होता है। नृत्य उसे कहते हैं जिसमें अंग-प्रत्यंग एवं भाव का तालवद्ध केन्द्रीकरण पैरों पर होता है, जिसे पदाघात (Foot work) कहा जाता है। यह साधारण रूप में रस-भाव हीन प्रतीत होता है। नृत्य में रस, भाव, विभाव, अनुभाव एवं संचारीभाव का दिग्दर्शन होता है। अतएव नाट्य, नृत्त एवं नृत्य इन तीनों को मिलाकर 'नृत्य' अथवा नर्तन सम्पूर्ण रूह से दिग्दर्शित होकर नृत्कला में निहित रस, भाव-माधुरी एवं सौंदर्यात्मक अनुभूति अभिव्यंजित करता है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र मे नृत्य के जो विभिन्न प्रकार दिये हैं उनकी विस्तृत जानकारी अस्थाने होगी, किन्तु कौन-सा नृत्य किस स्थान पर, किसके द्वारा, किस विशिष्ट प्रकार के संगीत द्वारा एवं किन-किन विशिष्ट प्रकार के वाद्यों

के वादन के साथ करना चाहिए,-इसके सुनिश्चित नियम होते हैं। भरत नाट्यशास्त्र का सम्पूर्ण नृत्य निम्नांकित मुख्य तथ्यों पर आधारित है:—

१. शीर्ष-सचालन के २६ प्रकार, २. नेत्र-संचालन के ४४ प्रकार, ३. भृकुटी संचालन के ६ प्रकार, ४. ग्रीवा (गर्दन) के ४ प्रकार।

इसके अतिरिक्त भरत ने अंगप्रत्यंगोपांग व अभिनय के लक्षण भी बताये है। असंयुक्त हस्तभेद (हस्त मुद्रा) २५, संयुक्त हस्त मुद्रा २४, बांधव्य हस्तमुद्रा ११, देवहस्त भेद १६, नवगृह हस्तभेद ९, दशावतार हस्त भेद १० एवं चतुर्विंण हस्तभेद ४ आदि हस्तमुद्राओं के प्रकार चर्चित हुए हैं। मृगहस्त, गरुड, सर्पशीर्ष कटक, पाणिशख, चक्र, वशी आदि हस्त मुद्राओं का वर्णन और उनके उपयुक्त उपयोग भी नाट्यशास्त्र में विवेचित हुए हैं। वीर, रौद्र, अद्भुत, शृंगार एवं करुण आदि नवरसों की भावाभिव्यक्ति हस्तमुद्रा,- ग्रीवा संचालन, नेत्र-संचालन आदि प्रक्रियाओ द्वारा किस प्रकार हो सकती है व इसका प्रात्यक्षिक किस प्रकार होना चाहिए आदि का सटीक व्रर्णन भी वहां किया गया है।

भरत-नाट्यशास्त्र के अनुसार जो नृत्य आज प्रचलित है उसे भरतनाट्यम् नृत्य कहा जाता है जिसके आलाप, तिल्लाना, मोहिनी, अट्टम् आदि आठ प्रकार है जिनमें कोई नृत्य वर्णन्, पल्लवी, अनुपल्लवी के माध्यम से किसी विशेष ताल एवं लय में बद्ध स्वरसमूह द्वारा किया जाता है, कोई नृत्य तराणा नामक गीत-प्रवंध की ताल एव लय के समन्वय मे किया जाता है व कोई नृत्य किसी विशेष पौराणिक कथाओं के प्रदर्शनार्थ प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार यह तथ्य प्रकट होता है कि नृत्य विषय-शास्त्र को भरतमुनि ने कितनी गहराई के साथ और विशद् रूप मे प्रकट किया है। आज "भरतनाट्यम् नृत्य" भारत में ही नही अपितु विदेशों में भी अपनी इन विशेषताओं के लिए प्रसिद्ध है।

नृत्य का दूसरा प्रकार "कथाकली नृत्य" है जो दक्षिण भारत में विशेष रूप से प्रचलित है। इसमें अनेक पौराणिक कथाओ का नृत्य अभिनय प्रस्तुत किया जाता है।

अन्य शास्त्रीय नृत्यों मे मणिपुरी आसाम-विहार में प्रचलित है। ओडिसी भी शास्त्रीय ढंग का नृत्य आज चप्ररित है।

कत्थक नृत्य के आज दो विशेष घराने प्रचार मे है, १. जयपुर शैली का कत्थक एवं २. लखनऊ शैली का कत्थक। कत्थक नृत्य की वेशभूषा देखने से यह कहा जाता है कि इस नृत्य की शैली पर मुस्लिम संस्कृति का विशेष प्रभाव पड़ा है। कत्थक नृत्य मे गुरुवंदना के पश्चात् कसक, मसक, तोड़े, श्लोक परण, घूंघट, मटकी आदि गतों के भावों का वोलो के समन्वय से दिग्दर्शन किया जाता है। अनेक पौरा-णिक कथाओ का प्रस्तुतीकरण कत्थक द्वारा किया जाने लगा है।

लखनऊ शैली के कत्थक नृत्य में जयपुर शैली के कत्थक नृत्य की अपेक्षा शृंगार रसादि की अभिव्यक्ति अधिक दिखाई देती है। किन्तु दोनों ही शैलियों के

नृत्य आज शास्त्रीय नृत्य के रूप में मान्य हैं, कारण कि दोनों ही शैलियों में हस्त संचालन, मुद्रा, अभिनय तथा रस-भावादि की अभिव्यक्ति एक सुनिश्चित शास्त्र पर आधारित है।

संगीत कला के शास्त्रीय पक्ष के माध्यम के विषय में उपयुक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि गायन एवं वादन का माध्यम नाद-स्वर, राग-गीत एवं गत है व नृत्य का माध्यम मानव-शरीर, उसके अंग-प्रत्यंगों का संचालन एवं घुघरू, मृदंग आदि ललित ध्वनियों का समन्वय है। कला के प्रदर्शन के माध्यम के पश्चात् शास्त्रीय संगीत-प्रदर्शन के उपकरण के सम्बन्ध में संक्षेप मे जानकारी देना आवश्यक है।

शास्त्रीय संगीत अर्थात् गायन, वादन एवं नर्तन तीनों ही कलाओ के प्रदर्शन हेतु जो उपकरण होते है, उनमें प्रमुखतः वाद्यों की ओर ध्यान देना चाहिए व वाद्य-निर्माण हेतु किन किन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, यह विचार करना चाहिए। इन वाद्यों में स्वर वाद्य तथा ताल वाद्य दो विभाजन होने से दोनों के उपकरण भी कुछ अंशों में कही-कही भिन्न हो जाते है। गायन के हेतु आवश्यक स्वर वाद्य 'तंबूरा' अर्थात् 'तानपूरा' है। तुंब शब्द से ही स्पष्ट है कि इसमें एक विशेष प्रकार का तुँब होता है, जो काशीफल (कद्दू) का ऊपर का गोल परन्तु अत्यंत कठिन भाग होता है। इसी तूंबे पर तानपूरे की गूंज निर्भर होती है। तूंबे के अतिरिक्त अन्य उपकरणों में लकड़ी की एक डंडी होती है। इसी के साथ लोहे एवं पीतल के तारों से तानपूरा निर्मित होता है। सितार, दिलरुबा, सारंगी, सरोद, वीणा आदि स्वर वाद्यो में भी विशिष्ट प्रकार की लकड़ी, लोहे, पीतल आदि के तारों के उपकरण काम में आते है। सरोद, सारंगी आदि स्वर वाद्यों में चमड़े का उपयोग होता है तथा इन्हें वजाने हेतु लकड़ी के गज में बालों को जोड़ा जाता है। गज, मिजराव, जवा वगैरह उपकरण लोहा, लकडी. पीतल तथा अन्य इसी प्रकार की धातु से निर्मित होते हैं।

ताल वाद्यों में तबला, पखावज आदि में शीसम, बीजासार, आम, नीम आदि लकड़ियों के पोलयुक्त खोड लिये जाते हैं, जिन पर कमाया हुआ चमड़ा लगाया जाता है और उस पर विशिष्ट प्रकार से बनाई गई स्याही की पुट इस तरह चढ़ाई जाती है कि संगीतोपयोगी नाद उत्पन्न हो सके।

ताल-वाद्य में अवनद्ध वाद्य डग्गा अर्थात् बांया, जो कभी-कभी मिट्टी का होता है, की मिट्टी स्वच्छ होनी आवश्यक है। आजकल मिट्टी के स्थान पर तांबा, निकेल आदि के बांयें भी बनाये जाते है।

नृत्य के उपकरण साधारणतः वही हैं जो गायन तथा वादन में काम आते हैं। नृत्य में घुंघरू, झांझ, एवं मंजीरे, कांसा एवं पीतल धातु से बनाये जाते हैं तथा बांसुरी वंश याने बांस के अतिरिक्त लोहा, पीतल आदि की भी बनाई जाती है।

शास्त्रीय संगीत में प्रयुक्त होने वाले स्वरवाद्यों एवं ताल वाद्यों के माध्यम उपकरण के विषय में साधारण रूप में ऊपर विवेचना की गई है। संगीत-कला,

जिसमें गायन, वादन एवं नर्तन समाविष्ट है, के शास्त्रीय पक्ष का ऐतिहासिक, दार्शनिक, सामाजिक एवं कलात्मक स्वरूप देखने हेतु उक्त कला को माध्यम, उपकरण, शास्त्र नियमोपनियम एवं परम्परा आदि तथ्यों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

लोक संगीत

कला का लोकपक्ष सनुलित जीवन की मार्मिक वस्तुस्थिति, सामाजिक रूढ़ि-विश्वास तथा कलात्मक रंजन की ओर प्रेरित करता है: यह पूर्व में कहा गया है। कला के लोकपक्ष के प्रेरणात्मक आधार सामाजिक विश्वास, रीतिरिवाज, उत्सव-त्योहार एवं अन्य विशिष्ट मूल्य हैं जो सामूहिक रूप में सामाजिकता से युक्त होते हैं। अर्थात् कला का लोकपक्ष शास्त्रविहीन है तथा उसमें सामाजिक परम्पराओं के विशिष्ट दर्शन होते हैं। उसमें सहज सुलभ सौंदर्य, रंजन एवं रसादि की अनुभूति विशेष रूप से विद्यमान है। इसी संदर्भ में लोक संगीत अर्थात् संगीत कला के लोकपक्ष को देखना चाहिए। लोकसंगीत का जन्म व्यक्ति के नैतिक मूल्यों, सामाजिक उत्सव-त्योहारों, रीति-रिवाजों एवं सामूहिक कार्यों द्वारा ही हुआ है। व्यक्ति के नैतिक मूल्यों के संदर्भ में यह कहना अनुचित नहीं है कि किसी व्यक्ति विशेष के ही नैतिक मूल्य इसके सृजनकर्ता नहीं हैं। किसी भी व्यक्ति विशेष के नैतिक मूल्यों के द्वारा सृजित लोकगीत समाज में प्रचलित सर्वसाधारण धुनों पर ही आधारित होता है। सभी की नैतिक विचारधारा सर्जक की अपनी स्वर-कल्पना से सर्जित गीत समाज में प्रचलित धुनों में अविच्छिन्न रूप में घुलमिल जाता है। इस प्रक्रिया में लोकगीत एवं उसके रचयिता की व्यक्ति-विशेषता प्रधान नहीं रहती है। ऐतिहासिक दृष्टि से सृजनकर्ता गौण हो जाता है व उसका गीत सामूहिक बन जाता है। लोकसंगीत की सृजन-प्रक्रिया सहज, स्वाभाविक एवं स्वयं स्फूर्त होती है। सारांश यह है कि लोकसंगीत की उद्भावना में व्यक्ति निष्ठता प्रधान न होकर समाज के नैतिक मूल्य, सामाजिक विश्वास, रीतिरिवाज, विभिन्न उत्सव-त्योहार ही प्रधान होते हैं व उन्हीं के द्वारा विभिन्न प्रकार के लोकगीत एवं धुनें प्रस्फुटित होकर समाज में अपनी विशेष परंपरा स्थापित करती हैं जो मानव-समाज को एक सूत्र में पिरोने में सहायक होती हैं। हमारे समाज में मानवीय संबंध, विश्वास रीतिरिवाज, जीवन के विभिन्न मार्मिक अनुभव एवं प्रेममय मधुर कल्पनाएं आदि का सामाजिक दृष्टि से विशिष्ट स्थान है। इन्हीं सर्वव्यापी तथ्यों के विषय लोकसंगीत में पाये जाते हैं। इसीलिए लोकसंगीत सम्पूर्ण मानव-समाज को एक सूत्र में बांध देता है।

विभिन्न प्रान्तों के लोकगीत, लोकवाद्य एवं लोकनृत्य के विषय में विचार करने के पूर्व लोकसंगीत के माध्यम एवं उपकरणों के विषय में संक्षेप में विचार करना उचित होगा। माध्यम के संबंध में यही कहना पर्याप्त है कि शास्त्रीय संगीत में कंठ, नाद, वाद्य स्वर आदि जिस प्रकार प्रमुख माध्यम माने जाते हैं उसी प्रकार लोक

संगीत में भी यही माध्यम होते है। लोकसंगीत के उपकरण भी प्रायः वही है जो शास्त्रीय संगीत के लिए उपयोग में आते हैं।

विशिष्ट प्रकार की लकड़ी, विशिष्ट प्रकार से कमाया हुआ चर्म, लोहे एव पीतल के तथा विशिष्ट आँतों द्वारा बनाये गये तारों व विशिष्ट प्रकार की काली एवं पीली मिट्टी आदि के उपकरणों द्वारा वे उचित वाद्य बनाये जाते हैं जिनका आकार, प्रकार एवं स्वरूप विभिन्न प्रान्तों की अपनी-अपनी लोक परंपरा लिए हुए है।

भारत में काश्मीरी, पहाड़ी, पंजाबी, उत्तर प्रदेशी, बंगाली, राजस्थानी, असमी उड़िया, गुजराती, मालवी, मराठी, कन्नड़, तेलगू तथा शेष दक्षिण प्रांतीय लोकगीत, लोकवाद्य एवं लोकनृत्य आज प्रचलित है। उनका गीत-काव्य उन प्रान्त विशेषों की अपनी रोज की व्यावहारिक भाषा एवं प्रचलित धुनों में ही रचित है। वेशभूषा एवं वाद्य-यंत्र भी अपनी-अपनी प्रांतीय विशेषता लिए हुए हैं। विभिन्न प्रान्तों के लोकगीत, लोकवाद्य एवं लोकनृत्यों के विषय में विस्तृत विवेचन देने की अपेक्षा राजस्थानी लोकगीत, लोकवाद्य एवं लोकनृत्यो के विषय में साधारण विस्तृत विवरण देना ही उचित होगा। भारत के अन्य शेष भागों के लोकसंगीत एवं लोकनृत्यों के संबंध में संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अनेक लोकगीत स्वतंत्र रूप से सामूहिक गान के रूप में गाये जाते है। प्रांत विशिष्ट के उत्सव-त्योहारों एवं प्राप्त विशिष्ट शृंगार-वीर रसात्मक लोक कथाओं को लेकर नृत्य का लोक रूप प्रकट होता है। पहाड़ी प्रांत में लोकगीत उत्सव-त्योहारों, विशेष देवी-देवताओं की मान्यता के अवसरों पर गाये जाते हैं तथा शिकार, भिल्ल आदि सामूहिक नृत्य उन्ही गीतों के आधार पर होते है। पंजाब में लोकगीतों के अतिरिक्त हीर-राँझा जैसी अन्य प्रेम कथाओं को लेकर गीत एवं नृत्यों का प्रदर्शन किया जाता है। पंजाब में 'भांगड़ा' लोकनृत्य विशेषतः लोकप्रिय है। उत्तर प्रदेश में देशी, पुरवाई तथा अवधी लोकगीत प्रचलित हैं। इसके अतिरिक्त बसंत, होली एवं दीपावली के विशिष्ट उत्सव एवं त्योहारों के गीत एवं नृत्य भी सामूहिक रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं। बसंतोत्सव एवं होली के लिए विशेष लोकनृत्य है। रासलीला के सामूहिक नृत्य आज भी ऐसे अवसरों पर आयोजित होते है जिन्हें भक्ति के अन्तर्गत माना जाता है। बंगाल का मांझी तथा संथाली नृत्य आज लोकनृत्यों में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किये हुए हैं। गुजराती लोक-नृत्यों में गरबा, डन्डिया आदि अनेक प्रसिद्ध नृत्य हैं, जिनमें लोकनृत्य एवं लोकगीत का समन्वय दिखाई देता है।

मालवा, मध्य प्रदेश तथा छत्तीस गढ़ के लोकगीत एवं लोकनृत्य किंचित् हेरफेर से उन्ही विषयों को लेकर है जो प्रायः सर्वत्र लोकगीत के अंतर्गत आते हैं। प्रान्त विशेष की भाषा एवं वेशभूषा की विभिन्नता व पदाघात की किंचित् भिन्नता तथा अंग-प्रत्यंगों की संचालन-शैली में किंचित् हेरफेर से उसमे नवीनता एवं विशेषता उत्पन्न हो जाती है।

महाराष्ट्र एवं उसके आसपास के क्षेत्रो में संस्कृति की कतिपय बातो में समानता

होने के कारण वसंत, होली, दीपावली आदि उत्सव-त्योहारों के अतिरिक्त मंगला-गोरी, भुलाबाई जैसे अनेक धार्मिक एवं सामाजिक अवसर पर भी लोकगीत गाये जाते हैं, जिनके साथ 'फुगड़ी' तथा 'झिम्मा' जैसे नृत्यों का प्रदर्शन भी किया जाता है। कोली नृत्य व उसके साथ गया जाने वाला गीत महाराष्ट्र के लोकसंगीत की अपनी विशेषता है।

महाराष्ट्र के लोकगीतों में वीरगाथाओं को भी समाविष्ट किया गया है। आहीर जाति के लोग इन्हें पवाड़े के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

कर्नाटक, तेलंगाना तथा दक्षिण के अन्य क्षेत्रों में भी प्रांत विशेष की भाषा में परंपरागत लोक धुनों पर आधारित लोकगीत गाये जाते हैं तथा विभिन्न लोकनृत्यों का प्रदर्शन भी किया जाता है।

राजस्थानी लोक संगीत

राजस्थान के लोकगीतों एवं लोकनृत्यों की अपनी एक विशेषता है। लोक संगीत के सर्वसाधारण तथ्य राजस्थानी लोक संगीत मे सुन्दर एवं मोहक रूप लेकर अवतरित होते हैं।

राजस्थानी लोक संगीत में से कुछ विशेष अंश को वैदिक काल क साम संगीत के निकट माना जाता है। साम-गायन में आर्चिक, गायिक एवं सामिक गायन प्रणालियां थीं : आर्चिक अर्थात् एक स्वर का गायन गायिक अर्थात् दो स्वरो का गायन एवं सामिक अर्थात् तीन स्वरों का गायन। राजस्थान में नाथ-संप्रदाय के भक्त (अर्थात् जसनाथी) अग्नि पर गीतों के साथ जब नाचते हैं तब वे गीत विशेष रूप से तीन स्वरों के आसपास ही रहते हैं। इनकी गायन-शैली साम-गायन के समान ही प्रतीत होती है। जसनाथी संप्रदाय के ये गीत व नृत्य जब प्रस्तुत किये जाते है तब स्वयं गीत गाने वाले, अग्नि पर नृत्य करने वाले, दृश्य देखने वाले एवं श्रवण करने वाले तन्मय होकर बेसुध अवस्था मे पहुंच जाते हैं। इसी प्रकार कीर्तन एवं भजन में तो कभी-कभी एक ही स्वर का प्रयोग होता है। सारांश यह है कि उक्त प्रकार के गीतों में तीन स्वरों से अधिक स्वरों का प्रयोग दिखाई नही देता है अर्थात् इन लोकगीतों में वैदिक काल के सांगीतिक वैशिष्ट्य के अवशेष प्राप्त होते हैं, यह कहना अनुचित नही होगा "म्हारा आंगणिया में घूमता पधारो गणपति" एवं "निज मिंदरिया में सदाही विराजो गणपति", यह लोकगीत तीन ही स्वरों में विशिष्ट प्रकार से निबद्ध प्रतीत होता है, क्वचित् समय ऐसा आभास मात्र होता है कि किन्ही अन्य स्वरों का किंचित स्पर्श किया गया है।

राजस्थान के लोक संगीत को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है, (१) आदिवासियों का लोक संगीत (२) सामाजिक जीवन में धार्मिक एवं भौगोलिक अवसरों पर गाया जाने वाला लोक संगीत तथा (३) संगीत को व्यावसायिक अथवा जीविकोपार्जन का साधन समझ कर उसका व्यवसाय करने वालों का लोक संगीत।

राजस्थान में जैसलमेरी, मारवाडी, जयपुरी, मेवाती, सांसी आदि अनेक

बोलियां है जिनका लोकसंगीत भिन्न-भिन्न वेशभूषा मे पारंपरिक धुनों पर चलता है। उपर्युक्त क्षेत्रों में आदिवासी-लोकसंगीत भी प्रचार में दिखाई देते है। आदिवासी लोक-संगीत तीन से पांच स्वरों में निबद्ध सा प्रतीत होता है। स्वर एवं शब्द दोनों ही समान रूपेण ऐसे लोकसंगीत में महत्त्वपूर्ण होते हैं। इस प्रकार के लोकसंगीत में विशेषता यह दिखाई देती है कि स्वर-पक्ष अर्थात् धुन परंपरागत होती है किन्तु गीत-शब्दों में नवीनता आती रहती है, जिससे स्वर एवं गीतकाव्य के समन्वय द्वारा भावाभिव्यक्ति से सहजसुलभ आनन्ददायक अनुभूति प्राप्त होती है। मादल नामक अवनद्ध वाद्य द्वारा संगीत की गति अर्थात् लय रखी जाती है। तत् एवं सुषिर वाद्यों का विशेष रूप में प्रयोग नहीं होता है, क्योंकि यह लोकसंगीत विशेष रूप में सामूहिक समझा जाता है। आदिवासियों में ईश्वर-आराधना हेतु जो लोकसंगीत गाया जाता है वह ३ से ५ स्वरों तक के क्षेत्र में होता है। उसके साथ तत् वाद्य का प्रयोग भी कतिपय आदिवासी भक्तगणों द्वारा किया जाता है। इस प्रकार के लोकसंगीत में स्वरों का बाहुल्य न होने से सामूहिक ईश्वराराधना में गायन करना सहज हो जाता है।

राजस्थानी लोकसंगीत का दूसरा प्रकार सामाजिक जीवन के विशेष धार्मिक एवं मांगलिक अवसरों पर गाया जाने वाला लोकसंगीत है। मांगलिक गीत सामूहिक गीत हैं व इन्हें अधिकतर स्त्रियां ही गाती हैं। जन्म, यज्ञोपवीत, विवाह, प्रसूति आदि सामाजिक और धार्मिक १६ संस्कार हैं। विवाह के उपलक्ष्य में गणेश पूजा, हल्दी, तेल चढ़ाना घुड़चढ़ी, आदि अवसरों पर गीत गाये जाते है, उनका काव्य सुनिश्चित होता है और धुन भी सुनिश्चित एवं परंपरागत होती है। ऐसे गीत स्त्रियों द्वारा गाये जाते हैं जबकि होली, बसंत, सावन, वर्षा-संबंधी गीत स्त्री एवं पुरुष दोनों द्वारा सामूहिक रूप में गाये जाते हैं और उनके साथ किंचित् नृत्य के भी हाव-भाव जुडे रहते हैं। इन अवसरों पर गाये जाने वाले गीतों में शुद्ध एवं कोमल अर्थात् विकृत स्वरों का प्रयोग भी दिखाई देता है। इनके साथ बजने वाले वाद्य झांझ एवं अवनद्ध वाद्य-प्रकार अर्थात् ढोल आदि होते हैं।

राजस्थानी लोक-संगीत का तीसरा वर्ग, जो व्यावसायिक गायकों या विशिष्ट जातियों से सम्बद्ध है, महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। उपर्युक्त तीनों ही वर्गो में से इस वर्ग के लोकगीत का विशिष्ट महत्त्व है। क्योंकि यह गायन एवं वादन की दृष्टि से शास्त्रीय संगीत से किंचित निकट का संबंध जोड़े हुए है तथा यह संपन्न लोकसंगीत अधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय है। राजस्थान में भोपे, जोगी, भाट, कालवेलिया, मेवा मिरासी, ढोली, लंगा, मांगणियार आदि जातियां लोकसगीत को अपना पेशा बनाये हुए हैं। इन्होंने गायन-वादन की अपनी जाति-वंश-परंपरा एवं भावाभिव्यक्ति-क्षमता से इसे इतना संपन्न बनाया है कि गायन शैली, साथ बजने वाले समन्वयात्मक वाद्य आदि उन्हें विरासत में प्राप्त हुए रहते हैं। उपर्युक्त पेशेवर गायकों में से मिरासी, ढोली, लंगा आदि जातियां अपने साथ सारंगी वाद्य रखते हैं व उसी के साथ लोकगीत

गाये जाते हैं। उपर्युक्त जातियों मे से लंगा जाति अपनी अलग विशेषता रखती है। देखने में आया है कि लंगा जाति अपने गायन के साथ अवनद्ध वाद्यों के अतिरिक्त सतारा (विशेष वाद्य) भी रखती है। इस वाद्य में दो बांसुरी जैसी व्यवस्था होती है, जिनमें एक बासुरी केवल स्वर (तानपूरे जैसा) देती है और दूसरी बांसुरी पर गीत की संपूर्ण संगत की जाती है। इस सुषिर वाद्य के अतिरिक्त लंगा जाति तंतुवाद्य सुरिन्दा, सुषिर वाद्य-सुरनाई, भी संगत में रखते हैं। मोरचंग नामक वाद्य का भी यह जाति उपयोग करती है। इतने अधिक वाद्यों के साथ से इनके लोकगीतों के गायन में अधिक विकसन पाया जाता है, क्योंकि मीड, गमक, मुरकी आदि शास्त्रीय संगीत के प्रकार इनके लोकगीतो में प्रयुक्त होते है। मांगणियार, ढाढी एवं अन्य शेष जातियों के लोकगीत-गायक सारंगी जैसे वाद्य का प्रमुख रूप से उपयोग करते हैं। इनके पस प्रकार के वाद्यों की बनावट में किंचित् भिन्नता दिखाई देती है। मांगणियार जाति के पेशेवर गायक कामाइचा नामक इसी प्रकार के वाद्य का प्रयोग करते है जिसमें विशेषता यह है कि अन्य सारंगी जैसे वाद्यों में बाजे का तार लोहे का होता है किन्तु कामाइचा वाद्य मे यही तार तांत का होता है, जिसका गंभीर गुंजन अपनी एक विशेषता लिये हुए होता है।

लोक गीतों के अन्य स्वर देने वाले वाद्यों में राजस्थान में 'एक तारा' व 'दो तारा' जैसे वाद्य भी देखने में आते हैं। इन वाद्यों में पाँच तार भी दिखाई देते हैं। तंदूरा नामक एक और लोक वाद्य द्वारा केवल स्वर ही नहीं रखा जाता, अपितु आघात द्वारा साथ ही साथ लय भी पैदा की जाती है, जिससे गीत में एक विशेष प्रकार की समा बन जाती है। तंदूरा वाद्य-भक्ति-संगीत के साथ विशेष रूप से प्रयुक्त होता है। कामड पेशेवर गायक जब रामदेवजी नामक लोकदेवता की वाणी गाते है तब उनके साथ स्त्रियां गले में १० से १६ तक मंजीरे बांधकर बजाती रहती हैं, जिनका वादन लयबद्ध होता है। इस लयबद्धता में स्त्रियों के शरीर का जो संचालन होता है, उसमे नृत्य का भी भाव दिखाई देता है।

राजस्थानी लोकसंगीत के पेशेवर गायकों में दो प्रकार के भोपे विशेष प्रसिद्ध है। एक प्रकार भीलों के भोपे का है और दूसरा गूजरों के भोपों का है। भीलों के भोपे पाबूजी की पड़ बांचते हैं व गूजरों के भोपे बागडवती पड़ बांचते हैं। पाबूजी की पड़ के साथ रावणहत्था वाद्य होता है व बागडवती पड़ के साथ जंतर नामक वाद्य रहता है। दोनों ही वाद्यों में गीत की संगत के साथ लय रखने की भी प्रक्रिया उसी वाद्य पर घूघरूं एव चिकारी के माध्यम द्वारा की जाती है।

जोगी संप्रदाय के गीतों में जाँगलिका, (पुंगी) ढोल एवं खंजरी आदि वाद्यों का प्रयोग दिखाई देता है। लोकसंगीत की कतिपय पेशेवर जातियां तत् वाद्यों के साथ लोहे के बने अलगोजे (सुषिरवाद्य) का भी प्रयोग करते हुए पाए जाते हैं।

यह देखने मे आया है कि राजस्थानी लोकसंगीत के पेशेवर गायक सारंगी

जैसे जिस वाद्य का प्रयोग करते है उनमें १३ से १७ तक 'तरबे' पायी जाती है। 'मुरीन्दा' (लगों की सारंगी), रावणहत्था आदि वाद्यो में तरबे होती है। कभी कभी इन वाद्यो पर ये पेशेवर गायक शास्त्रीय संगीत के वाद्य सितार में बजने वाले झाले जैसा प्रकार बताते हुए भी पाये जाते हैं।

इन लोकगीतो में लय व ताल रखने की क्रिया कतिपय तन्तवाद्यों द्वारा ही की जाती है, ऐसा पूर्व में कहा गया है। किन्तु लोकसंगीत की लय-रचना में सहज भाव अधिक है व इसी कारण ताल व लय में मात्राओं का वजन अधिक दूरी पर नही रहता, फलतः लयबद्धता अधिक रंजक हो जाती है। विशेष रूप में ८ मात्राओं के तालों में २/२/२/२, ऐसा समविभाजित वजन रहता है व ७ मात्राओ की तालों में ३/२/२ अथवा २/२/३ ऐसा वजन रखा जाता है। शास्त्रीय संगीत में जिस प्रकार 'सम' पर गीत अथवा अलाप-तान को मिलाना पड़ता है उसी प्रकार लोकगीत में भी इन मात्राओ के विभाजनों की ओर ध्यान देकर गीत को सम पर मिलाना आवश्यक है, जिससे लोकगीत में गीत के साथ साथ लय का समन्वय रहे व रंजकता का निर्माण हो।

लोकसंगीत में काव्य-प्रधानता अधिक दिखाई देती है और स्वर-रचना में रूढि एवं परंपरा का ही पालन किया जाता है। लोकधुनों पर जो विभिन्न पेशेवर गायकों की परंपरागत विरासत मानी जाती है, नवीन-नवीन काव्य-रचना की जाती रही है। अतएव स्वर-रचना को कम महत्व देकर काव्यपक्ष ही साधारणतः प्रमुख रहता है। भोपों की पड़ों तथा अन्य लोककथाओं में भी स्वर पक्ष की अपेक्षा काव्य-पक्ष ही प्रधान रहता है, इनकी स्वर-रचना का ताल-लय-बद्ध समन्वय इस विशिष्ट प्रकार के लोक संगीत को रंजक एवं भावाभिव्यंजक बनाता है।

ऐसे लोकगीतों में कभी कभी दोहे भी गाये जाते हैं जैसे जैसलमेरी एवं मारवाड़ी लंगों के गीत "दल बादली पाणी सैंया कुण तो भरे" गीत में दोहे का प्रयोग हुआ है।

निष्कर्षतः पेशेवर गायकों के लोक संगीत के छंद-गान के समान होने से उसमें काव्य-छंदों की प्रधानता पायी जाती है। अनेक ऐसे राजस्थानी लोकगीतों में दोहों के अतिरिक्त सोरठे भी गाये जाते हैं। दोहे तथा सोरठे गाने की एक विशेष शैली होती है। इन शैलियों को राग के समान नाम संज्ञा दी गई है। शाब्द इन शैलियों को ही राजस्थानी लोकसंगीत के ये पेशेवर गायक राग कहते हैं। ऐसे राग मांड, सावेरी, आसा व खमाज आदि के समान हैं। कहते हैं कि राजस्थानी लोक संगीत में मांड विभिन्न शैलियों द्वारा गाया जाता है। इसी कारण मांड के ही १०/१५ प्रकार बताये जाते हैं आज शास्त्रीय संगीत में देश, सोरठ, मांड जैसे राग दिखाई देते हैं। अनेक का मत है कि यह शास्त्रीय संगीत को लोक संगीत की देन हैं। वास्तविक रूप में यदि कहा जाय तो यह कहना अनुचित नहीं होगा कि यदि शास्त्रीय संगीत को लोक संगीत की

उपर्युक्त कतिपय रागों की देन हो तो भी ये राग शास्त्रीय संगीत के रागों के समान संपूर्ण रूप से शास्त्रीय रागदारी गायन के योग्य नही हैं।

शास्त्रीय संगीत लोकसंगीत की अपेक्षा स्वर-प्रधान है। अतः गंभीर राग-प्रदर्शन हेतु ये राग अधिक उपयुक्त नही सिद्ध हो सकते।

लोकसंगीत में राजस्थानी नृत्य भी अपनी एक विशेषता रखता है। राजस्थान मे अन्य लोक नृत्यों में 'घूमर' नृत्य विशेष प्रचलित है, जिसमें राजस्थानी वेशभूषा, राजस्थानी अलंकार (गहने) तथा विशेष प्रकार के अंग-संचालन से अति रंजकता उत्पन्न की जाती है। घूमर, पनिहारी, तेरातालो आदि लोक नृत्यो के अतिरिक्त सामूहिक नृत्यो में गैर गीदड़ नृत्य भी एक विशिष्ट प्रकार का सामूहिक नृत्य है।

राजस्थान में कठपुतली भी नृत्य-नाट्य के अंतर्गत एक विशेष प्रकार की शैली है। इसमें छोटी-छोटी लोककथाओं को लेकर नृत्य-नाट्य का प्रदर्शन किया जाता है। भारतीय लोक कला मण्डल उदयपुर द्वारा इस कला पर गहन अध्ययन हो रहा है। कठपुतलियों का नृत्य-नाट्य प्रदर्शन आज भारत में ही नही अपितु विदेशों में भी ख्याति प्राप्त कर चुका है। यह कहना अतिशयोक्ति नही होगा कि राजस्थानी लोक संगीत की तीनों ही विधाएं गायन, वादन एवम् अतीव नर्तन संपन्न हैं तथा भारत में अपना एक विशेष स्थान रखती हैं। शास्त्रीय संगीत एवं लोकसंगीत के सामाजिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक तथा कलात्मक स्वरूप के उपर्युक्त विवेचन से कुछ तथ्य हमारे सामने आते है :—

शास्त्रीय संगीत जिसे रागदारी संगीत कहते हैं, उसका प्रदर्शन सहज सुलभ नही है। उसमें श्रुति, स्वर, नाद-स्थान, वादी-संवादी, अनुवादी, विवादी, स्थाई, अंतरा, अलाप-तान-अलंकार, मीड, गमक आदि का सूक्ष्म ज्ञान, गुरुसम्मुख शिक्षा व कलाकार का गंभीर चिंतन एवं साधना या रियाज (अभ्यास) आदि अनेक महत्वपूर्ण तत्त्व हैं। उसमें राग के स्वरूप, उसके समय-सिद्धांत, प्रयुक्त होने वाले स्वरों, स्वर संवादों एवं स्वर-समूहों का विशिष्ट प्रकार का रागोचित व भावोत्पादक स्वरोच्चारण लय एवं ताल आदि सूक्ष्म क्रियाओं की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता रहती है। इन सभी क्रियाओं पर गायक वादक को अधिकार प्राप्त करने हेतु विशेष प्रकार की साधना एव तपस्या करनी पड़ती है। उपर्युक्त सभी प्रक्रियाओं को आत्मसात् करने हेतु विशेष प्रकार की स्वर-साधना की आवश्यकता होती है। विशेष प्रकार की स्वर-साधना से जब कण्ठ स्वाधीनता प्राप्त होती है, तब ही उपर्युक्त सूक्ष्म प्रक्रियाओं की प्रदर्शन क्षमता आती है और तब ही शास्त्रीय संगीत का प्रतिभा संपन्न गायक या वादक निर्मित होता है।

लोक संगीत में स्वर, नादस्थान, वादी-संवादी, स्वर, अलाप-तान, मीड, गमक आदि तथ्यों का उपयोग होते हुए भी उनके सूक्ष्म ज्ञान, अध्ययन एवं गहन चिन्तन की आवश्यकता नहीं होती है। शास्त्रीय संगीत में गणित के अंतर्गत ताल एवं

लय की जटिलता का समन्वय करके रंजकता सर्जित करनी पड़ती है, किन्तु लोकसंगीत मे काव्य की प्रधानता है। शास्त्रीय संगीत अथक परिश्रम साध्य है, जबकि लोकसंगीत श्रवण मात्र से ही सहज साध्य होता है। शास्त्रीय संगीत व्यक्ति निष्ठता अर्थात् व्यक्ति की प्रतिभा पर आधारित है तो लोकसंगीत सामाजिक विश्वासों, रीति रिवाजों आदि द्वारा अतिभावित होता है।

शास्त्रीय संगीत एवं लोकसंगीत दोनों परस्पर भिन्न है। दोनों की ही अपनी-अपनी स्वतंत्र परंपरा है। जहाँ अनेक लोकसंगीत के गायक शास्त्रीय राग के स्वरूपों को अपनाना चाहते है, वही अनेक शास्त्रीय संगीत के कलाकार नयी नयी रचनाएं बनाकर लोकसंगीत की स्वर-रचना को राग के वेशभूषा से अलंकृत करना चाहते है व अपने संगीत को इस प्रकार अधिक संपन्न बनाना चाहते हैं। विकास की दृष्टि से यह आदान-प्रदानात्मक प्रयत्न उचित हो सकता है। लक्ष्य यही रहना चाहिए कि विकासोन्मुख होने की इच्छा से दोनों ही प्रकार के संगीतों की स्वतंत्रता, परंपरा एवं भावाभिव्यंजकता कला की स्वतंत्र-शैलियों पर कुठाराघात नही हो और संगीत-कला के शास्त्रीय एवं लोकपक्ष दोनों ही अपनी-अपनी स्वतंत्रता से विकसित होते रहें।

अध्याय ३

गीत गांधर्व एवं गान

गीत के सम्बन्ध में पं० शारंगदेव ने "संगीत रत्नाकर" में कहा है:—

"रंजकः स्वरसन्दर्भो गीतमित्यभिधीयते ।
गांधर्वगान मित्यस्य भेदद्वयमुदीरितम् ।।

भावार्थ:—मन को रंजन करने वाले स्वर-समुदाय को गीत कहते हैं, जिसके "गान्धर्व एवं गान" दो नामिक भेद है। उक्त परिभाषा में "मन का रंजन करने वाले स्वर-समुदाय' को ही गीत कहा जाये ऐसा उल्लेख है। संगीत-रत्नाकर के "स्वर-सन्दर्भ" प्रयोग में गीत के अन्तर्गत केवल स्वर रचना से ही तात्पर्य है या 'स्वर सन्दर्भ' प्रयोग में 'सन्दर्भ' के अन्तर्गत शब्द अथवा काव्य को भी समाविष्ट किया गया है, यह स्पष्ट नही है। क्या केवल स्वर-रचना को ही गीत कह सकते हैं? या उसमें काव्य के समन्वय की भी आवश्यकता है ? इस प्रश्न को किंचित गहनता से विचारना आवश्यक है। यहाँ दोनों के माध्यमों पर सर्वप्रथम विचार करें। काव्य का माध्यम ध्वनि, वाणी, शब्द एवम् भाषा है तथा संगीत का माध्यम ध्वनि, वाणी एवं स्वर है। अर्थात् काव्य एवं संगीत के माध्यमों में पारस्परिक निकटता का सम्बन्ध है। वर्ण से शब्द, शब्द से पद एवं पद से वाक्य अथवा काव्य निर्माण होता है व शब्द का सार्थक्य उसी समय होता है जब उससे समाज मान्य अर्थबोध होता है। इन्ही शब्दों, पदों एवं वाक्यों द्वारा निर्मित काव्य भी किसी विशेष अर्थ, बोध अथवा विशेष अनुभूति का कारक बनता है। केवल स्वर-रचना से किन्हीं विशिष्ट भावों की अनुभूति अवश्य हो सकती है किन्तु उसी स्वर-रचना द्वारा कोई अन्य बोध क्या संभव है ? क्या शास्त्रादि संगीत को काव्यविहीनता के कारण अर्थ विहीन संगीत माना जाये ? क्या काव्यविहीन शास्त्रीय संगीत अपने आपमें सम्पूर्ण गुण एवं तथ्य युक्त माना जा सकेगा ? प्रश्न उठ सकता है कि वाद्य संगीत काव्य-विहीन होते हुए भी पूर्ण तथ्य युक्त एवं रंजक क्यों होता है ? वाद्य संगीत की अपनी विशेषता है कि वह काव्य विहीन होते हुए भी अपने आप में परिपूर्ण होकर अपनी क्षमता के अनुसार उद्देश्य प्राप्ति का कारण होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि काव्य विहीन स्वर रचना अर्थात् गायन मे उपर्युक्त विशेषता नही है, किन्तु गायन की स्वर रचना से काव्य की निकटता अथवा काव्य से उसका समन्वय विशेष रूप से अर्थ-पूर्ण एवं उद्देश्य साध्य हो जाता है। शास्त्रीय संगीत स्वर-प्रधान है व भाषा अथवा

काव्य अर्थ प्रधान। काव्य एवं स्वर का यथोचित समन्वय होकर जो गायन-गीत रचित होता है, वह वाद्य-वादन् की अपेक्षा एक विशिष्ट प्रकार की सौंदर्यात्मक, रंजनात्मक एवं मार्मिक अनुभूति प्रदान करता है, यह सर्वमान्य तथ्य है इस सम्बन्ध मे वैदिक अर्थात् साम संगीत का विचार करना अनुचित न होगा।

ऋग्वेद की गेय ऋचाओं के संकलन को सामवेद अर्थात् गायन वेद का रूप दिया गया ? साम-ऋचाओ को स्वर युक्त गाया जाता था, जिसे 'पठण' संज्ञा दी गई है। सामवेद की ऋचाओं के पठण के स्वरों को उच्च (उदात्त), नीच (अनुदात्त) एवं मध्य (स्वरित) ऐसी संज्ञाये दी हुई थी। इन सामवेद की ऋचाओं में कतिपय ऋचाओं का प्रथम पठण सर्वसाधारण के बोलने की आवाज में (सा रे ग म के क्षेत्र में) किया जाता था, जिसे प्रातः सवन कहते हैं। उसके पश्चात् कतिपय ऋचाएं किंचित् ऊँची अर्थात् आवाज के मध्य क्षेत्र में (अर्थात् पा धा नि सं इस क्षेत्र में) एव कतिपय ऋचाये आवाज के ऊँचे क्षेत्र (गं रें मं म) में पठण की जाती थी, जिनके लिए उदात्त (नि, ग), अनुदात्त (रि, ध) तथा स्वरित (स, म, प) के सप्तस्वरो का चयन किया जाता है व सवन की दृष्टि से उनका प्रयोग सुनिश्चित किया गया है। अतएव यह तथ्य प्रकट होता है कि कण्ठ गायन के प्रभाव की दृष्टि से वैदिक ऋचाओं में काव्य एवं स्वर का उचित समन्वय किया गया था।

अतः संगीत स्वरप्रधान होते हुए भी यदि इसे शब्द विहीन कला समझी जाये तो संगीत का उद्देश्य पूर्ण रूपेण साध्य नही हो सकेगा। इसी कारण संगीत रत्नाकर के गीत की परिभाषा "रंजकः स्वरसन्दर्भो गीतमित्यभिधीयते" में "स्वर सन्दर्भ" प्रयोग का अर्थ केवल स्वर समूह नही समझना चाहिए। संगीत रत्नाकर में संगीत कला स्वरप्रधान है, इस कारण से ही "स्वर सन्दर्भ" प्रयोग किया गया है, किन्तु गीत की परिभाषा का स्पष्टीकरण करते समय काव्य एवं रंजक स्वरों के उचित एवं वांछित समन्वय की रचना को ही गीत कहना अनुचित नहीं होगा।

गीत के गान्धर्व एवं गान, दो भेद बताये गये है गान्धर्व गीत के सम्बन्ध में संगीत रत्नाकर में कहा गया है :—

गान्धर्व एवं गान

गीत के, गाधर्व एवं गान दो भेद बताये गये है।
गांधर्व गीत के सम्बन्ध में रत्नाकर में कहा गया है।

अनादि संप्रदायं यद्गंधर्वै संप्रयुज्यते।
नियतं श्रेयसो हेतुस्तद्गान्धर्वं जगुर्बुधैः॥

भावार्थः— जो सगीत अनादि सप्रदाय से प्रचलित है, जिसकी रचना गधर्वो ने की है, जिसे केवल गन्धर्व ही गाते थे एवं जिसका उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति था, अर्थात् गन्धर्वो द्वारा रचित एवं गेय, और श्रेयस् अर्थात् मोक्ष के साधन गीत को गांधर्व कहते है। इस सन्दर्भ में 'गन्धर्व' शब्द पर गहन विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

मनु स्मृति में विश्व उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है :—

यक्ष रक्षः पिशाचांश्च गंधर्वाप्सरसोऽसुराघन् ।
नागान्सर्पान्सुपर्णाश्च पितृणां च पृथग्गणान् ॥
किन्नरावानरान्मत्स्यान् विविधांश्च विहंगमान्...

(अध्याय १, ३७-३९)

उपर्युक्त उद्धरण से कल्पना की जाती है कि विश्व-निर्माण के साथ साथ गंधर्वो की उत्पत्ति हुई है।

"गंधर्व" शब्द की व्युत्पति के विषय में (Etymology) अथववेद (१२, १ २, ३,) में कहा गया है "यस्ते गन्धः संबभूवये विभ्रत्योषधयो यमापः"। तात्पर्य है कि पृथ्वी में निहित सम्पूर्ण "गंध" अर्थात् सुवास आकर्षित करने की क्षमता गंधर्वों में थी। अर्थात् सम्पूर्ण गन्ध सुवास वहन करने वाली शक्ति गन्धर्व है, यह परिकल्पना की जाती है। ऋग्वेद के टीकाकार सायन ने "गंधर्व" को "सूर्य" के समकक्ष माना है। वे कहते हैं "गंधर्वः गवों रश्मीनां धर्तारं सूर्यम्"। किन्तु ऋग्वेद (११३,२) के अनुसार गंधर्व सूर्य-रथ के घोड़ों का मार्ग सुनिश्चित व सुनियमित करने का माध्यम था। ऋग्वेद के टीकाकार सायन का स्पष्टीकरण है कि यम-अग्नि देव (Fire God) द्वारा प्रदत्त घोड़े, त्रित-वायु (Wind God) से सूर्य-रथ को जोड़ा गया। रथ एवं घोड़े के मार्ग-संचालन का कार्य गंधर्व को सौंपा गया। ऋग्वेद टीकाकार सायन "गामुदकंधारयतीति गन्धर्वो मेघः" उदक अर्थात् जल धारण करने वाले "मेघ" को गंधर्व कहते है। ऋग्वेद में यह भी उल्लेख है कि "ब्राह्मणेभ्य एवं वृधे वर्धनाय"। अर्थात् ब्राह्मणों की रक्षा का कार्य गन्धर्व का था। उपर्युक्त विवरण से कल्पना की जा सकती है कि सूर्य-रथ के घोड़े का संचालन, ब्राह्मण-रक्षण एवं मेघ संज्ञा आदि विभिन्न कार्य जब गन्धर्वों द्वारा सम्पन्न होते थे तब इनका एक विशिष्ट वर्ग था। मनु स्मृति के उद्धरण में भी "गन्धर्वान्" शब्द है जो बहुवचनान्त माना गया है। इससे इस कल्पना की पुष्टि होती है कि गंधर्व एक नही है अपितु अनेक हैं व उनके अनेक कार्य थे। ऋग्वेद मण्डल ९, सूक्त ३६ तथा ८६ में गन्धर्वो का वर्ग बताया गया है जिन्हें "दिव्य गन्धर्व" कह कर उनके नामों के विषय में कहा गया है "विश्वावसु सोम गन्धर्वमान्यो"। अर्थात् विश्वावसु सोम ये गन्धर्वों के नाम हैं। सायन ने गन्धर्वों के निवास-स्थान के विषय में भी कहा है "यक्ष गन्धर्वाप्सरोगण सेवितमतरिक्षम्" अर्थात् यक्ष, गन्धर्व एवं अप्सरागण का निवास अन्तरिक्ष में (ध्रुवपद) है (Nrisinha Tapaniya Sakha, १०२)।

अथर्ववेद में गन्धर्वो को "देवजनाया" "पृथग्देवा" कह कर उनकी संख्या ६३३३ बताई गई है और पापमोचन सूक्त (११, ६-४) में गन्धर्वो को पापमोचक कहा गया है। विवाहादि संस्कारों में भी गन्धर्वों को निमंत्रित किया जाता था जिससे नवदम्पत्ति का मिलन चिर सुखदायी रहने का आशीर्वाद प्राप्त हो सके।

उपर्युक्त विवेचन में "गन्धर्व" शब्द का संगीत से कब व किस प्रकार सम्बन्ध जोड़ा गया है, यह अब विचारणीय है। कहते है गन्धर्वो का एक वर्ग था जिन्हें नदियों की कल-कल ध्वनि का संगीत अत्यन्त रुचिकर लगता था। उनकी इस रुचि को देखकर उन्हें मधुर कण्ठ एवं मधुर वाणी का वरदान दिया गया। इन्हें "दिव्य गन्धर्व" की संज्ञा प्राप्त हुई एव अर्ध अश्व जैसी शरीराकृति मिली। मधुर कण्ठ, मधुर वाणी एवं दिव्यत्व की विशेषताओ के कारण इन्हें एक प्रकार से देवों के समान या अर्धदेव (Demi gods) माना जाने लगा। इण्डोयूरोपियन शब्द कोप में "Kentanros" ग्रीक शब्द बताया गया है जिसका अंग्रेजी पर्याय "centaur" है; इसका अर्थ मानव तथा अर्ध अश्व होता है। इसको अर्ध देवता (Demi Gods) माना गया है। कहा जाता है कि गंधर्वा को अनेक प्रकार के स्वर्गिक एवं विशिष्ट रहस्यों या सत्यों का ज्ञान था। इनके अनेक गण थे व उनकी अपनी-अपनी विशेषताए थी। एकादश अर्थात् १७ गणो के सम्बन्ध मे "वाचस्पत्य" तथा ऋग्वेद टीकाकार "सायन" कहते हैं.—

हा हा हू हू श्चित्ररधो हस्ते विश्ववसुस्तथा।
गोमायुस्तुंबरूर्नदिरेव माद्यास्य ते स्मृताः॥

पूर्व में कहा गया है कि गन्धर्वो के ११ गण थे जिनकी स्थिति अन्तरिक्ष में थी। प्रत्येक गण के अपने-अपने विशेप कार्य थे। इन गन्धर्वगणों में से कतिपय गणों को नदियो की कल-कल ध्वनि का संगीत प्रिय था, इन्हें मधुर कण्ठ एवं मधुर वाणी का वरदान प्राप्त था। उपर्युक्त वर्गो के इन गंधर्वा की लालित्यपूर्ण मधुर वाणी तथा मधुर भाषण का विकास होकर उनके द्वारा पद (काव्य), स्वर एवं छंद (ताल-लय) की रचना होने लगी। स्वर, ताल एवं पद की समन्वययुक्त रचनाओं का इनके द्वारा शनैः शनैः विकास होता गया। इन्हें स्वर्गिक संगीतज्ञ (Celestial Musician) की उपाधि प्राप्त हुई और देव-रंजन का कार्य विशेष रूप से इनका कर्तव्य बना। इन विशेष गणों के द्वारा विशिष्ट प्रकार की स्वर, ताल एवं भाव युक्त रचना के गायन को गांधर्व संगीत कहा गया हो, ऐसी कल्पना की जा सकती है।

इस स्वर्गिक गधर्व (दिव्य गंधर्व) तथा इनके गांधर्व गायन के अतिरिक्त "पार्थिक गंधर्व" (मनुष्य गंधर्व) का भी पुराणों में उल्लेख मिलता है। मत्स्य पुराण (२४३,२१) में कहा गया है कि गंधर्वो का मानस-सरोवर (हिमालय) के आसपास निवास था; इनके अनेक गण थे; प्रत्येक गण का एक स्वामी होता था जिसे 'गणधर" कहा जाता था। वाल्मीकि रामायण मे श्रीरामचन्द्र जी के पुत्र 'लव' 'कुश' को महाकवि वाल्मीक ने "गान्धर्व तत्वज्ञो" कहा है जिसका अर्थ है गुण एवं संगीत तत्व के ज्ञाता। उन्हें सगीत का पूर्ण ज्ञान था। बुद्ध काल की कथाओं में "गांधर्व संगीत' का उल्लेख मिलता है तथा "गुत्तिल जातक" (जैन क्रमांक २४३) में भी गांधर्व संगीत का उल्लेख हुआ है। मत्स्य पुराण, रामायण, बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में जो

गंधर्व तथा "गांधर्व संगीत" का उल्लेख है उससे यह स्पष्ट होता है कि पार्थिव गंधर्व (मनुष्य गंधर्व) तथा उनका गांधर्व संगीत पृथ्वी पर प्रचलित था जिसका काल वैदिक काल के पश्चात् से पाणिनि के कुछ पूर्व तक समझा जा सकता है। इसके पश्चात् भरत नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने गंधर्व का एवं गांधर्व संगीत का उल्लेख किया है। भरत नाट्यशास्त्र के टीकाकार अभिनवभारती गंधर्व शब्द का-विच्छेद एवं परिभाषा बताते हुए कहते हैः—(अभिनवभारती नाट्य शास्त्र २६/१०)

"गेति गेयं विदुः धेति धातुः प्रवाद जमिति, वाक्यस्य मंज्ञेति, रेफस्तु वाद्यो-पलक्षणं काकुप्रवाद जमिति वा"। उपर्युक्त उद्धरण में 'ग' का अर्थ "गेति गेय विदुः" से गायन-ज्ञाता, "ध" का अर्थ "धेति धातुः" से स्वर धारण करना, "प्रवाह जमिति वाक्यस्य संज्ञेति" का अर्थ पदकाव्य का ज्ञान एवं "रेफस्तु वाद्योपलक्षणं काकु प्रवाद जमिति वा" में "रेफ" तथा "व" का अर्थ वाद्यों के उपलक्षण तथा विभिन्न काकु प्रयोग (भाषा, राग, स्वर आदि से काकु प्रयोग) आदि का ज्ञान एक था, जिन्हें ऐसा ज्ञान था, उन्हें "गांधर्व" कहा जाता है व उनके गायन को "गाधर्व संगीत"। इस गांधर्व संगीत को भी द्वयर्थक (Duel meaning) माना गया है, एक साधारण गांधर्व संगीत व दूसरा विशिष्ट प्रकार का गाधर्व संगीत। स्वर, ताल, एवं पद दोनों ही प्रकार गान्धर्व संगीतों के विशिष्ट अंग थे। किन्तु विशिष्ट प्रकार के गाधर्व संगीत में गुरू-शिष्य परम्परा की एक विशेषता थी। नारदादि गुरु संतानानुयायिति गांधर्वस्य प्रभवः" (अभिनवभारती नाट्य शास्त्र २८/१०) इनके पद, (काव्य) स्वर एवं ताल सुनिश्चित, सुनियोजित तथा व्याकरण बद्ध होकर शिव स्तुति पर आधारित थे। इन विशिष्ट पदो में किसी भी प्रकार के आंशिक परिवर्तन करने की भी अनुमति नही थी अर्थात् इनकी अपनी व्याकरण बद्ध, सुनिश्चित एवं सुनियोजित स्वर-ताल एवं पद्य युक्त स्वतंत्र शैली थी। शिव स्तुतिपरक पद्य होने से शिव के सम्मुख इनका गुरु शिष्य-परम्परागत गायन किया जाता था तथा इनका मोक्ष प्राप्ति उद्देश्य था।

गान्धर्व संगीत का एक पक्ष और है, जिसे भरत मुनि ने "नाट्य" के अन्तर्गत किया है। भरत कालीन संगीत संस्कृत भाषा के अतिरिक्त तत्कालीन जन भाषाओं में भी विद्यमान था, ऐसा नाट्य शास्त्र से ज्ञात होता है। भरत-काल मे वीणा की संगत पर गायन करने का प्रचार था। भरतकालीन संगीत के पारिभाषिक रूप, अंतरंगांधार कैशिकि तथा काकली निषाद, बदल कर कोमल तीव्र रूप में प्रचारित हुए हैं। अर्थात् भरत कालीन गाधर्व संगीत का शास्त्र भी सुनिश्चित, सुनि-योजित एवं जाति-लक्षण युक्त तथा छन्दोबद्ध था। तात्पर्य यह है कि भरत-काल में भी दो प्रकार का गन्धर्व संगीत था। भरत-नाट्य शास्त्र के टीकाकार अभिनव भारती द्वारा वर्णित मोक्ष-साधना का गाधर्व संगीत पहले प्रकार का तथा नाट्य के अन्तर्गत आने वाला गांधर्व संगीत दूसरे प्रकार का था। भरत ने कहा है कि गंधर्वो द्वारा यह संगीत नाट्य पात्रों को सिखाया जाता था। और नाट्य के अन्तर्गत आने वाले सम्पूर्ण संगीत का दिग्दर्शन इन्ही गंधर्वो द्वारा होता था।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद व उसके टीकाकार सायन के अनुसार तथाकथित अन्तरिक्ष में निवास करने वाले "दिव्य गंधर्व" व उनमें से गायन करने वाले देव गंधर्वों (Celestial Musicians) का गांधर्व संगीत एक प्रकार का है जबकि दूसरा प्रकार मत्स्य पुराण, वाल्मीकि रामायण एवं भरत-नाट्य शास्त्र के टीकाकार अभिनव भारती में संकेतित है। इस दूसरे प्रकार के गायन करने वालों के वर्ग को "पार्थिव गंधर्व—मनुष्य गंधर्व" कहा गया है। इनके संगीत को भी संगीत के नाम से अंकित किया गया है तथा इसमें भी द्वयर्थी भाव दर्शाया गया है। भरत नाट्य शास्त्र के टीकाकार अभिनव भारती ने एक को स्वर, ताल एवं पद युक्त, गुरू परम्परागत, अपरिवर्तनीय, सुनिश्चित एव सुनियोजित गांधर्व संगीत कहा है जिसका उद्देश्य मोक्षप्राप्ति है। दूसरे प्रकार का पार्थिव गांधर्व संगीत मोक्ष साधना के स्थान पर अन्य नाट्यादि के उद्देश्य को लेकर था, जो ग्राम, मूर्छना जाति, शास्त्र एवं व्याकरणों के नियमोपनियम, स्वर, ताल, पद आदि से युक्त एवं छन्दबद्ध था।

अतएव संगीत रत्नाकर द्वारा दी हुई गांधर्व संगीत की परिभाषा में गांधर्व संगीत को जो केवल मोक्ष प्राप्ति का साधन बताया गया है, वह अपने स्थान पर उचित नही है। किन्तु मोक्ष-साधना के लक्ष्य के अतिरिक्त अन्य लक्ष्य लिये हुए भी गाधर्व संगीत था। मत्स्य पुराण, वाल्मीकि रामायण, भरत नाट्यशास्त्र एवं अभिनव भारती द्वारा ऐसे संगीत का उल्लेख किया गया है। सारांश यह है कि गंधर्व शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

गीत के दूसरे भाग "गान" के सम्बन्ध में संगीत रत्नाकर मे कहा गया है :—

यत्तु वाग्गेयकारेण रचितं लक्षणान्वितम्।
देशि रागादिषु प्रोक्तं तद्गानं जनरंजनम्॥

भावार्थः—वाग्गेयकारो द्वारा रचित पद्य जो आज प्रचलित भारतीय रागों एव तालों के समन्वय से भारतीय शास्त्रीय संगीत के नाम से प्रचलित है और जिसका उद्देश्य जन-मन-रंजन है, गान कहा जाता है। भरत नाट्य शास्त्रान्तर्गत जाति गायन को तथा संगीत रत्नाकर के अनुसार ग्रामराग, उपराग, पूर्व प्रसिद्ध तथा अधुना प्रसिद्ध आदि राग-गायन को 'गान' गीत के अन्तर्गत माना जाता है। इनके लक्षण, ग्रह, अंश, मंद्र तथा तार आदि जो जाति लक्षण थे वे ही आज प्रचलित राग-गायन हेतु पालन किये जाते है। प्रचलित रागदारी संगीत 'गान' गीत के अन्तर्गत माना जाता है।

अतएव गीत केवल स्वर समुदाय को ही नही कहा जाता है बल्कि शास्त्रीय संगीत की स्वर-प्रधानता को लिए हुए स्वर, ताल एवं पद्य-काव्य की उचित रचना को गीत कहते हैं। सारांश में यहां कह सकते है कि

अब गान के अन्तर्गत निबद्ध एवम् अनिबद्ध का विवेचन उपर्युक्त होगा।

अध्याय ४

निबद्ध एवं अनिबद्ध गान

निवद्ध एवं अनिबद्ध गान के विषय में संगीत रत्नाकर में कहा गया है:—

निवद्धमनिवद्धं तद् द्विधा निगदितर्बुधैः ।
वद्धं धातुभिरंगैश्च निवद्धमभिधीयते ॥
आलसिबंधहीनत्वात् अनिवद्धमितीरितम् ।
संज्ञा त्रयं निवद्धस्य प्रवन्धो, वस्तु, रूपकम् ॥

निवद्ध गान उसे कहते हैं जो पद, स्वर एवं ताल आदि से बद्ध अर्थात् मर्यादित होता है। संगीत-रत्नाकर में ग्रामराग, उपराग, पूर्वप्रसिद्ध अधुनाप्रसिद्ध आदि रागों मे निवद्ध प्रवंध, वस्तु एवं रूपक आदि की स्वर, ताल एवं पद युक्त शुद्ध रचना को निवद्ध गीत कहा गया है। इन निवद्ध गीतों के अर्थात् प्रवंध, वस्तु एवं रूपक संज्ञक तीन गीत प्रकारों के कई अवयव होते है। जिन्हें उदग्राह, ध्रुव, मेलापक, अंतरा एवं आभोग संज्ञा दी गई है। अपन्यास, सन्यास एवं विन्यास ये इन गीत प्रकारों के विभिन्न भागों के अंतिम स्वर माने गये हे। यह गीत-रचना पूर्णतः शास्त्र नियमों पर आधारित थी। रागोचित स्वर-समूहो एवं ह्रस्व-दीर्घ, यति आदि काव्य नियमों को लिए हुए मर्यादित रूप में छन्दोबद्ध रचना निवद्ध गीत कहलाती है।

वेद कालीन सामगीत भी स्वर, ताल एवं पद युक्त एवं लय-वद्ध थे। साम गीत मे पांच भाग दिखाई देते हैं :(१)हिंकार(२)प्रस्ताव(३)उद्गीथ(४) प्रतिहार तथा(५)निधन। यज्ञ-कर्म करते समय इन पाँच भागों को गाने हेतु तीन ऋत्विजों मे विभाजित किया गया था। केवल अंतिम 'निधन' को तीनों ही ऋत्विज सामूहिक रूप से गाते थे। तात्पर्य यह है कि 'सामगीत' स्वर, ताल एवं पद के उचित समन्वय द्वारा निवद्ध गान की श्रेणी में आता है।

भरतकालीन गीत-प्रकार भी निवद्ध गान की श्रेणी में आते हैं। भरत के समय में जाति गायन संपूर्ण दृष्टि से शास्त्रीय शुद्ध लक्षणों सहित स्वर, ताल, एवं पद युक्त निवद्ध गीत के रूप मे विकसित था। भरत की सम्पूर्ण पाडव तथा औड़व आदि प्रकार की जाति के आधार पर रचित गीत-प्रकार (१) छदक (२) आसरित, (३)वर्धमान,(४)पाणिका,(५)ऋचा,(६)गाथा, तथा (७)साम बताये गये हैं। इसके अतिरिक्त जाति लक्षण युक्त वस्तु नामक गीत उप प्रकार की भी भरत ने चर्चा की है, जिसमें उप अवयव "चरण" वताया गया है। वस्तु नामक गीत के तीन उप अवयव एकक विविध एक वृत्त वताकर इनके और तीन उप अवयव (१)समुद्र, (२) अर्ध-समुद्र तथा (३) निवृत भी वताये हैं जिन्हे विचारों की संज्ञा भरत ने दी है।

तात्पर्य यह है कि वैदिक काल के साम गीत, भरत-काल के जातिलक्षण पर आधारित सप्तगीत-प्रकार तथा शारंगदेव के ग्रामराग, उपराग आदि लक्षणों से युक्त प्रबंध, वस्तु एवं रूपक आदि गीत प्रकार निबद्ध गीत प्रकारों में अंकित किये जाते हैं।

आधुनिक हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति पर आधारित भारतीय शास्त्रीय संगीत में आज ख्याल, ध्रुवपद, धमार, तराना, त्रिवट एवं चतुरंग आदि जो गीत प्रकार प्रचलित हैं उन्हें निबद्ध गीत में अंकित किया जाता है, क्योंकि ये गीत प्रकार प्रचलित शास्त्र-शुद्ध रागों के शास्त्रशुद्ध तालों के तथा उचित काव्य पदों के समन्वय से स्वर, ताल, एवं पद अथवा यति छंद एवं अर्थ युक्त रूप में सीमावद्ध हैं। ख्याल तराना, चतुरंग, त्रिवट आदि गीतो मे स्थायी अंतरा ऐसे दो अवयव होते हैं। किन्तु ध्रुवपद एवं धमार गीन-प्रबंधों में स्थायी अंतरा के अतिरिक्त संचारी एवं आभोग, ये चार अवयव होते है। किन्ही ध्रुवपदों एवं धमारों में केवल स्थायी अंतरा जैसे दो ही अवयव होते है।

अनिवद्ध गान.—जो गान निबद्ध नही है अर्थात् काव्य-पद एवं छद-ताल-लय में सीमावद्ध नही है उन्हें 'आलप्ति' अर्थात् आलाप-गान कहकर 'अनिवद्ध गान माना जाता है। पं० शारंग देव ने भी आलप्तिबंधहीनत्वात् अनिवद्धम् इतीरितम्' कहा है जिसका अर्थ भी यही होता है कि जो गान बंधनहीन है उसे अनिवद्ध गान कहना चाहिए। आलप्ति गान में ग्रह, अंशा, तार, न्यास, आदि लक्षणों से युक्त आलाप गायन किया जाता है, जिनके माध्यम से राग के अविर्भाव एवं तिरोभाव का प्रदर्शन होता है।

कलावन्ती ख्याल—वड़े ख्याल, कव्वाली ख्याल, छोटा ख्याल, तराना चतुरंग आदि हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति के जो निवद्ध-गीत प्रकार है उनमें स्थायी अन्तरा आदि के पश्चात् जव आलापन किया जाता है तव वह आलापन अनिवद्ध गान के अन्तर्गत माना जाता है। आलाप-क्रिया की विधि समयानुसार वदलती गई। एक समय था जव 'स्वस्थान-नियम' की आलापन प्रणाली प्रचलित थी जिसमें राग के लक्षणो द्वारा आलापन के स्थाय, द्विगुण एवं अर्धस्थित क्षेत्र होते थे। इसमें राग के वादी अर्थात् स्थाय को केन्द वनाकर और उससे चौथे आठवे तथा सप्तक के सम्पूर्ण तीनों क्षेत्रो से मन्द, मध्य एवं तार विभाजित कर आलापो एव विभिन्न प्रकारों की तानो द्वारा राग का सम्पूर्ण विस्तार किया जाता था। इस प्रकार राग का मूल उद्देश्य 'रजयति इति रागः' साध्य किया जाता था। आज, स्वस्थान नियमों के स्थान पर प्रचलित आलाप-गायन प्रणाली के अनुसार राग का विस्तार किया जाता है। प्रचलित आलाप-गायन की प्रणाली में राग को तीनों ही सप्तकों में दिग्दर्शित करने हेतु स्थायी, अंतरा, संचारी एवं आभोग के क्षेत्रों में विभाजित किया जाता है। स्थायी क्षेत्र मे राग के स्वरूपानुसार मंद्र एवं मध्य स्थान के स्वरो तक ही आलाप

किये जाते है व क्रमशः एक-एक स्वर बढाकर तार सप्तक के षड्ज तक विस्तार करके अंतरे का क्षेत्र प्रारम्भ किया जाता है। अंतरे के क्षेत्र में विस्तार की प्रक्रिया से रागोचित मुख्य स्वर-समुदाय मुख्य, स्वर-संवाद, छोटी-छोटी मुरकियाँ, ताने आदि प्रयुक्त होती है। इसके पश्चात् अन्तरा-विभाग में अनेक प्रकार की आलापों एवं छोटे छोटे तानों की ऐसी प्रक्रियाये दिखाई जाती हैं जो पुनः पुनः तार सप्तक के षड्ज पर समाप्त होती हैं। तार सप्तक पर इस प्रकार की समाप्ति प्रचलित सर्व रागों में एक समान रूप में हो यह नियम नहीं है। गायक, वादक राग के स्वरूप व चलन के अनुसार ही इस प्रक्रिया का उपयोग करते हैं।

तार सप्तक से अवरोही क्रम में षड्ज पर क्रमशः सचारी अग, जो विशेष रूप से, सा, म, और प तीनों स्वरों के क्षेत्र में रहता है, में आलाप एवं तान क्रिया की जाती है। संचारी के पश्चात् आभोग क्रिया मे अधिक मे अधिक तार सप्तक के प्रयोग के साथ सम्पूर्ण तीनो सप्तकों, मन्द्र, मध्य, एवं तार में आलाप और तान-क्रिया की जाती है।

स्थायी, अंतरा, संचारी एवम् आभोग के क्षेत्रो मे आलापन एवं तान क्रिया में रागदारी संगीत की अन्य विशेषताओं मीड, कण, गमक, कँपन आदि के प्रदर्शन के उचित एवम् सुस्पष्ट स्वरोच्चारण शैली द्वारा किये जाने से राग स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। ऐसे प्रदर्शन से ही राग सौन्दर्य अभिव्यक्त होता है।

ध्रुवपद, धमार आदि गीत प्रकारों में आलापन विधि गीत प्रारंभ करने के पूर्व प्रयुक्त होती है, जिसे नोम् तोम् संज्ञा दी गई है। "नोम् तोम्" द्वारा आलापन समाप्त होने के पश्चात् ध्रुवपद अथवा धमार गीत का प्रारंभ किया जाता है और उसमें लय के विभिन्न प्रकार उपज वगैरे बताये जाते हैं। ऐसी लय के विभिन्न प्रकार भी अनिबद्ध गान के अंतर्गत माने जा सकते हैं।

अनिबद्ध गान के अन्तर्गत आलप्ति-आलाप गायन व रूपकालाप आदि माने जाते है। आलप्ति व रूपकालाप एक विशेष श्रेणी की आलापन शैली है। रूपकालाप में शब्दहीन आलाप करते समय आलापों के विभिन्न खण्ड पृथक्-पृथक् ताल एवं लय से बद्ध होते हुए प्रतीत होते है, जिन्हें विदारी कहा जाता है। यह प्रक्रिया लयबद्ध अवश्य होती है, किन्तु निबद्ध गीत में अंकित नही की जाती है।

आलप्ति में सममेलोत्पन्न रागो के स्वर-समूहों का इस प्रकार प्रदर्शन किया जाता है कि किंचित् क्षण तक विवक्षित राग तिरोहित हो जाता है। ऐसी प्रक्रिया को आलप्ति के अन्तर्गत "तिरोभाव" कहते है। तिरोभाव के आभास के पश्चात् मूल राग जब उसके मूल स्वर समूहों द्वारा पुनः प्रकट होता है तब उस राग का आविर्भाव होता है। आलप्ति के अन्तर्गत "आविर्भाव" एवं "तिरोभाव" की प्रक्रियाओं का गुरुसम्मुख प्रत्यक्ष आत्मसात् करने पर ही उचित ज्ञान हो सकता है।

निबद्ध गीत के अन्तर्गत वैदिक सामगीत, भरतकालीन जाति लक्षणों पर आधारित सप्तरूप गीत, शारंगदेव द्वारा वर्णित प्रबंध, वस्तु, रूपक एवं हिन्दुस्तानी

संगीत पद्धति के प्रचलित बड़े ख्याल, छोटे ख्याल, तराना, चतुरंग, ध्रुवपद, धमार आदि समझे जाते हैं। अनिवद्ध गान के अन्तर्गत आलाप गायन प्रक्रियाओं में स्वस्थान नियम, आलाप, आलप्ति एवं प्रचलित आलाप-गान-प्रणालियों को समाविष्ट किया जाता है।

अध्याय ५

गीत प्रकार

गीत प्रकार

शास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत आज जो गीत प्रकार प्रचलित हैं, वे निम्नांकित हैं:—

(१) ध्रुवपद, (२) ख्याल, (३) धमार, (४) तराना, (५) चतुरंग, (६) लक्षणगीत एवं (७) त्रिवट।

टप्पा एवं ठुमरी उप शास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत आते है। दादरा, गीत-प्रकार, अधिकतर सुगम संगीत के अन्तर्गत माना जाता है।

ध्रुवपद

कुछ लोग इस गीत-प्रकार को ध्रुवपद "ध्रुवपद" भी कहते है, किन्तु ये सही प्रयोग नही हैं, अपितु "ध्रुवपद" शब्द के अपभ्रंश मात्र हैं। "ध्रुव" शब्द का अर्थ अखण्ड व अचल माना जाता है। भरत नाट्य शास्त्र में जो सप्तरूप गीत-प्रकार बताये गये है, उनकी छन्दोबद्ध रचनाओं में से कुछ को जो काव्य-बद्ध है, भरत मुनि ने "ध्रुवा" संज्ञा प्रदान की है व इस "ध्रुवा" गीत-प्रकार के १८ अंग बताये है। इन १८ अगों में से ही ध्रुवा गीत-प्रकार के भरत मुनि ने चार अंग बताये है। एक अंग वाले गीत-प्रकार को "ध्रुवा", २ अंगों वाले को परिगीत, तीन अंगों वाले को मंद्रक एवं ४ अगोंवाले को चतुष्पदा कहा गया है। "नाट्यशास्त्र" में नाट्य के प्रवेश निर्गम, कथा-वस्तु-निर्देशक प्रसंग आदि अवसरों के समय जो ध्रुवा गीत गाये जाते थे उनके भी पाँच अंग बताये गये है। यहाँ "ध्रुवा" गीत के सम्बन्ध में विशेष विस्तृत जानकारी देने के स्थान पर इतना समझना ही पर्याप्त है कि "ध्रुवा" गीत एक काव्य, स्वर व छन्द से बद्ध रचना थी जिसके विशिष्ट, सुनिश्चित एवं सुनियोजित अंग (अवयव) होते थे और उस गीत के वर्णालंकार, यति, ग्रह, आदि का परस्पर सम्बन्ध अखण्ड रूप से सुनिश्चित एवं सुनियोजित था। इसी कारण उसे "ध्रुवा" अर्थात् अखण्ड गीत कहा जाता था।

यानि अंगानि कलाश्चैव गीतकान्तर्गतानिच।
तानि छंदोगतैवृतैः विभाव्यन्ते ध्रुवास्तथा॥

भरत मुनि के "ध्रुवा" गीत-प्रकार के उपर्युक्त विवेचन से भी यही स्पष्ट होता है कि यह अखण्ड गीत-प्रकार काव्य, स्वर एवं छंद अर्थात् ताल व कला से परिपूर्णतः सम्पन्न था। भरत-काल के पश्चात शास्त्रीय संगीत में जो एक विशिष्ट

गीत-प्रकार प्रचार में आया उसे नाट्य शास्त्र के ध्रुवा गीत की संज्ञा के आधार पर ही "ध्रुवपद" की नवीन संज्ञा दी गई। मध्यकाल में "ध्रुवपद" गीत प्रकार का गायन उच्च श्रेणी का गायन समझा जाता था।

ध्रुवपद गायन मध्य काल में अधिक प्रचलित था। अनेक संस्कृत ध्रुवपदों का गायन श्रेष्ठ श्रेणी का गायन समझा जाता था, इसलिए ध्रुवपद गायकों को तब "कलावन्त" की संज्ञा दी गई थी। मुस्लिम शासन एवं संस्कृति के प्रभाव के कारण ध्रुवपदों की-काव्य भाषा संस्कृति के स्थान पर तत्कालीन प्रचलित देशी अथवा प्रान्तीय भाषाएं हो गईं। ध्रुवपदो के काव्य की भाषा आज अधिकतर हिन्दी, व्रज एवं उर्दू है। ध्रुवपदों के काव्य-विषय विशेष भक्ति प्रेरक, दार्शनिक एवं ऋतु-वर्णनात्मक हैं। कोई कोई ध्रुवपद वीररसात्मक, काव्य-विषय निष्ठ भी हैं। शृंगार रसात्मक काव्य को ध्रुवपद-गायन में निषिद्ध माना जाता है। इसी कारण ध्रुवपद-गायन गंभीर एवं श्रेष्ठ समझा गया है।

पं० भाव भट्ट ने "अनूप संगीत रत्नाकर" में ध्रुवपद का "द्विचर्तुवाक्य सम्पन्नम्", "पादांतानुप्रासयुक्तम्" एवं पादान्त युगकंचवा प्रतिपाद्यं च बद्धमेव पाद चतुष्टयम बताया है : "द्वि चतुर्वाक्य-संपन्नम्" का अर्थ होता है कि उसमें दो अथवा चार वाक्य (यहां वाक्य से तात्पर्य ताल की आवृति भी समझ सकते है) युक्त काव्य होता है तथा "पादोतानुप्रास युक्त" का तात्पर्य है कि पदान्त अनुप्रास युक्त होते हैं, "पादांत युगकंचवा, प्रतिपादं——चतुष्टयम्" का तात्पर्य है कि उसमें "युगकं" अर्थात् दो अंग तथा "चतुष्टयम्" अर्थात् चार अंग होते हैं। अतः ध्रुवपद के काव्य में अनुप्रास होता है एवं किसी में दो अवयव होते हैं तो किसी में चार। पं० भाव भट्ट ने आगे "उद्ग्राह, ध्रुवा भोगांतरं ध्रुवपदं स्मृतम्" कहा है जिसका तात्पर्य यह है कि उदग्राह, ध्रुव, आभोग एवं अंतरा ये चार अवयव ध्रुवपद गीत में होने चाहिए।

प्रचलित ध्रुवपदों में, स्थायी व अंतरा दो अवयव ही साधारणतः पाये जाते है। किन्ही किन्ही ध्रुवपदों में, स्थायी, अंतरा, संचारी एवं आभोग ये चारों अवयव भी दिखाई देते है।

पूर्व में कहा गया है कि ध्रुवपद-गायकों को कलावन्त संज्ञा दी जाती थी। इन कलावन्तों के उनके विभिन्न गायन शैलियों के कारण खण्डार, नोहार, डागुर एवं गोबरहारे ऐसे चार वर्ग बनाये गये। उपर्युक्त चारों वर्गो के नामों, खण्डार नोहार, डागुर एवं गोबरहारे, के मूल में जाना अप्रासंगिक होगा। उपर्युक्त चार वर्ग किन किन शैलियों के आधार पर बनाये गये हैं, यह जानना अधिक उपयुक्त होगा। इन विभिन्न शैलियों, वाणियों अर्थात् गाने की नीतियों के सम्बन्ध में "रत्नाकर" में "गीतयः पंच शुद्धाद्या भिन्ना गौड़ी च वेसरा साधारणीति" कहा गया है जिसका अर्थ यह है कि गीति वाणी अर्थात् गाने की नीति के पांच (१) शुद्धा, (२) भिन्ना, (३) गोड़ी, (४) वेसरा एवं (५) साधारणी विशेष प्रकार हैं। इन वाणियों का "संगीत रत्नाकर" में पृथक्करण करते हुए बतलाया गया है:—

'गीतयः पंच शुद्धाद्या भिन्ना गौड़ी च वेसरा ।
साधारणीति शुद्धा स्यादवक्रललितैः स्वरैः ।।
भिन्ना सूक्ष्मैः स्वरैर्वक्रैर्मधुरैर्गमकैर्युतः ।
गाढ़ै स्त्रिस्थान गमकै रूहा टीललितै स्वरैः ।।
अखंडित स्थितिः स्थान त्रये गौडी मता सताम् ।
उहाटी कंपितैर्मंद्रै द्रुत द्रुत तरैः स्वरैः ।।
हकारोकार योगेन द्वान्यस्ते चिबुके भवेत् ।
वेगवद्भिः स्वरैर्वर्ण चतुष्केऽप्यतिरक्तितः ।।
वेग स्वरा राग गीतिर्वेसरा चोच्यते बुधैः ।'

शुद्धा, भिन्ना, गौड़ी, वेसरा एवं साधारणी इन पांचों वाणियों अर्थात् ध्रुवपद गायन की शैलियों के अनुसार ध्रुवपदों का गायन होना चाहिए । उपर्युक्त वाणियों को देखने मे स्पष्ट होता है कि किन्ही शैलियों में स्वरों के लालित्य की प्रधानता है तो अन्य मे वक्र स्वर के मधुरगमक की । किन्ही वाणियों में हकार एवं उकार द्वारा स्वरों का उच्चारण होता है तो अन्य वाणियों में स्वरों के कंपन एवं द्रुततर गीत की प्रधानता दिखाई देती है । प्रमुख रूप मे उपर्युक्त कलावन्तों के वर्गों में से 'डागुर' वर्ग के ध्रुवपद आज भी प्रचार मे है । मध्य काल में अकबर के समय में वृन्दावन में स्वामी हरिदास, प्रसिद्ध ध्रुवपद गायक थे जिन्होने श्री कृष्ण भक्ति व दार्शनिकता पर अनेक ध्रुवपदो की रचना की थी । स्वामी हरिदास के परम शिष्य एवं अकबर के दरबारी संगीत-रत्न तानसेन ने भी अनेक ध्रुवपदों की रचना की तथा ध्रुवपद-गायन शैली का प्रचार किया । तानसेन परम्परा के सदारंग एवं अदारंग ने भी अनेक ध्रुवपद रचे और इस प्रकार ध्रुवपद-गायन का प्रचार किया । पं० भातखण्डे रचित "हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति" की क्रमिक पुस्तकों में स्वामी हरिदास, तानसेन, सदारंग, अदारंग व पं० चिंतामणि मिश्र द्वारा रचित अनेक ध्रुवपदों के राग, स्वर, एवं ताल बद्ध रूप संकलित "संगीत कल्पद्रुम" मे भी अनेक ध्रुवपद पाये जाते हैं । यदि उन्हें स्वर ताललिपि बद्ध किया जाये तो ध्रुवपद गायन के विकास में और अधिक गति आ सकती है । गीत डागुर वाणी के प्रचारक "डागुर बंधु" आज विश्वविख्यात ध्रुवपद गायक माने जाते है । "डागुर घराना" ध्रुवपद गायन में आज विशिष्ट स्थान रखता है ।

ध्रुवपद गीत प्रस्तुत करने के पूर्व विवक्षित राग को सम्पूर्ण राग लक्षणों, मींड, कण, गमक, कंपन, अविर्भाव एवं तिरोभाव आदि के द्वारा नोम-तोम, आलाप, शैली के माध्यम से विस्तृत किया जाता है । इस प्रकार उस राग विशेष का सम्पूर्ण स्वभाव चित्रित हो जाता है और फलतः रसाभिव्यंजना एवं राग-रंजकता की अनुभूति होती है । 'नोम तोम' प्रक्रिया के पश्चात् ध्रुवपद गीत प्रारम्भ किया जाता है । सम्पूर्ण स्थायी अंतरा आदि के पश्चात् पदों की दुगुन, तिगुन, चौगुन, छगुन आदि लयों के विभिन्न प्रकार दिखाये जाते हैं । इन लय प्रकारों के पश्चात् अतीत, अनाघात तथा उपज जैसी अन्य श्रेष्ठ प्रकार की प्रक्रियाये प्रदर्शित की जाती हैं ।

82633

प्रचलित ध्रुवपद गायन लय प्रधान शैली का गायन माना जाता है, जिसमें उपर्युक्त विभिन्न प्रकार की लयकारी एवं गमकयुक्त उपज के प्रकार बताये जाते हैं। स्वर-रचना, गमक युक्त उपज के प्रकार, विभिन्न लयकारियों एवं काव्य रचना का उचित समन्वय होने से ध्रुवपद गायन शैली शास्त्रीय संगीत की श्रेष्ठ गायनशैली मानी जाती है।

ध्रुवपद गीत विशेष रूप से तीव्र, सूल ताल, चौताल, मत्त रुद्र आदि तालों में निबद्ध होते हैं, जिन्हें मृदंग अथवा पखावज जैसे अवनद्ध वाद्यों के साथ गाया जाता है।

उत्तर भारत एवं राजस्थान के कतिपय मन्दिरों में ध्रुवपद-गायन आज भी पूजा-प्रार्थना के रूप में दिखाई देता है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि ध्रुवपद काव्य, भक्ति, दर्शन तथा ऋतुवर्णन आदि तत्वों पर आधारित है। ध्रुवपद जैसी गम्भीर, शांत एवं प्रेरणा उत्पादक गायन शैली का अधिक से अधिक प्रचार करके उसे अधिक लोकप्रिय बनाने की आवश्यकता है।

ख्याल

ख्याल यह फारसी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ 'विचारना', 'ध्यान देना' 'कल्पना' है। अर्थात् इस गीत-प्रकार को विशेष विचार के बाद उसके प्रत्येक अंग की ओर विशेष ध्यान देकर कल्पना द्वारा प्रस्तुत किया जाना चाहिए। ख्याल गीत प्रकार के शास्त्रीय संगीत मे रूढ़ होने के पूर्व ध्रुवपद गीत-प्रकार प्रचार में था, किन्तु मुस्लिम शासन व संस्कृति के प्रभावस्वरूप 'ख्याल' गीत-प्रकार भी प्रचलित हुआ जिसमें परम्परागत और नवीन तत्त्वों का सुन्दर समन्वय है।

पठान व मुगल-काल लगभग ११ वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ। पठान भारतीय शास्त्रीय संगीत के पोषक प्रतीत नही हुए। संगीत शास्त्र एवं उसके अन्तर्गत गीत-प्रकारों, जो साधारणतया संस्कृत में थे, उसकी ओर शासनकर्ता उदासीन थे। कारण भारतीय रीति-रिवाज, व्याकरण, संस्कृति आदि पठानी और ईरानी संस्कृति से भिन्न थे। उनके साथ जो संगीत आया वह ईरानी ढंग का था जिसका शनैः शनैः भारतीय शास्त्रीय संगीत पर प्रभाव पड़ने लगा। परिणामस्वरूप ख्याल गीत प्रकार प्रचार में आया। फारसी कविताओं, जिन्हें कव्वाली कहते थे, उसका प्रचार हुआ व कव्वाली एवं हिन्दुस्तानी संगीत के गीत प्रकारों के मिश्रण से जो गीत प्रकार प्रचार में आया उसे ख्याल कहा गया। उस समय ध्रुवपद गायन प्रचार में था, किन्तु तत्कालीन समाज व्यवस्था, रुचि एवं अन्य अनेक मनोरंजन के साधनों में परिवर्तन होता चला गया जिसके कारण भारतीय शास्त्रीय संगीत में ईरानी कव्वाली से हिन्दुस्तानी संगीत का मिश्रण होकर जो रूप बना उसे समाज में स्थान प्राप्त हो गया। १३ वी शताब्दी में अलाउद्दीन खिलजी के शासन-काल में अमीर खुसरो ने

कव्वाली के इस मिश्रण की रचना को तत्कालीन प्रचलित भारतीय रागों में निबद्ध करके उसे 'कव्वाली ख्याल' की संज्ञा दी और इस प्रकार 'कव्वाली ख्याल' गीत प्रकार तत्कालीन शास्त्रीय संगीत का प्रधान अंग बन गया। अमीर खुसरो ने स्वयं साहित्यकार एवं संगीतज्ञ होने से अनेक कव्वाली ख्यालों की, तत्कालीन भारतीय रागो मे एवं तालों में वांछित परिवर्तन करके रचना की।

शास्त्रीय संगीत स्वर प्रधान अवश्य है किन्तु उसमें काव्य भी एक महत्वपूर्ण अंग है। कव्वाली ख्यालों का काव्य शृंगार रसात्मक तथा तत्कालीन शासक की प्रशस्ति युक्त था। उसमें अवधी, हिन्दी एवं उर्दू के शब्दों का मिश्रण किया गया। आज जो छोटे ख्याल प्रचलित हैं वे कव्वाली ख्यालों का ही विकसित रूप है। इन छोटे ख्यालों के पश्चात् जो एक गम्भीर गीत-प्रकार भारतीय संगीत मे आया उसे कलावंती ख्याल अथवा बड़ा ख्याल कहते हैं। इसकी रचना मुगल बादशाह मोहम्मद शाह (१८ वीं शताब्दी) के आश्रित गुणी कलाकार सदारंग एवं अदारंग ने की है, जो गुरु परंपरा में अकबर-कालीन तानसेन समझे जाते हैं। सदारंग एवं अदारंग दोनों ही ध्रुवपद गीत-प्रकार भी गाते थे। कहते हैं रामपुर के वजीर खां सदारंग के वंशज थे, उन्हें सदारंग ने ख्याल गीत गायन की शिक्षा नही दी, अपितु ध्रुवपद गायन की ही शिक्षा दी थी। वे ध्रुवपद ही गाया करते थे।

ख्याल गीत-गायन को सर्वप्रथम प्रश्रय मिलने का स्थान ग्वालियर समझा जाता है। सदारंग एवं अदारंग ने अपने वंशजों को ख्याल गीत प्रकार नही सिखाया, पर अपने शिष्यों को ख्याल गीत-गायन की ही शिक्षा दी। कहते हैं सदारंग, जिनका नाम नियामत खाँ था, ने अनेक वर्ष लखनऊ में निवास किया और वहाँ अनेक शिष्यों का ख्याल-गायन की शिक्षा देकर अपने शिष्यों द्वारा ख्याल-गायन का प्रचार करवाया। इन्हीं की परम्परा के नत्थन पीरबक्ष १९ वी शताब्दी में ग्वालियर-नरेश जनकोजी राव सिंधिया के समय में ग्वालियर आये जहाँ उन्हें उचित राज्याश्रय प्राप्त हुआ। ख्याल गायन की शिक्षा का प्रचार एवं प्रसार का श्रेय नत्थन पीरबक्ष को प्राप्त है। सम्पूर्ण भारतवर्ष में ख्याल गायन शैली की महत्ता ग्वालियर ख्याल-प्रणाली के रूप में प्रसारित हुई। यहीं से ख्याल गायन शैली का 'ग्वालियर घराना' माना जाने लगा जिसके प्रणेता नत्थन पीरबक्ष कहे जाते हैं। ख्याल-गायकी का आदि घराना-ग्वालियर-घराना माना जाय तो अनुचित नहीं होगा।

हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति नाम से प्रचलित भारतीय शास्त्रीय संगीत में 'घराना' या 'घरानेदार गायकी' एक विशिष्ट प्रकार का अर्थ रखते हैं। गायकी के 'घराने' कैसे बनते हैं; उनके गायकी के क्या ढंग होते हैं, गायकी की क्या सीमाएँ होती हैं, स्वरों एवं शब्दोच्चारण की क्या शैली है तथा उनके क्या नियम होते हैं, आदि तथ्यों की यहाँ विस्तृत चर्चा करना आवश्यक है। ख्याल-गायकी की भिन्न-भिन्न शैलियो के अनुसार संप्रदाय 'घराने' आज प्रस्थापित हो गये हैं। विभिन्न शैलियो से तात्पर्य है ख्याल-गायकी में स्वर एव लय की विशिष्ट प्रक्रिया एवं उनका अनुपात।

किसी घराने में स्वर-लगाव एवं बोलों के उच्चारण को अधिक बल दिया जाता है तो किसी में इसके विपरीत लय को अधिक महत्व दिया जाता है। किसी अन्य संप्रदाय में स्वर व लय का समन्वय ही प्रमुख माना गया है। इन तीन विशिष्टताओं के आधार पर आज ख्याल-गायकी के जो घराने प्रचार में हैं उनके कलाकारों ने ख्याल गायकी को जीवित नहीं रखा, अपितु उसे अपनी साधना एवं तपस्या से श्रेष्ठ एवं सम्माननीय स्थान भी प्रदान किया है। ऐसे कतिपय संगीतोपासक महानुभावों का यहां नाम निर्देशन करना उचित ही होगा।

आज के ख्याल-गायकों के घराने व उनके कलावन्तों का नाम निर्देशन :—

(१) ग्वालियर घराना

नत्थन पीरबक्श (मूल पुरुष) बड़े महम्मदखां, मुबारकअली, हद्दू हस्सू खाँ, बाला गुरू जी, शंकर पण्डित, एकनाथ पण्डित, बाबा दीक्षित, निसार हुसेन खाँ, बझे बुवा, रहीमत खाँ, वासुदेव बुवा जोशी, बालकृष्ण बुवा, इचलंकरजकिर, पं० विष्णुदिगम्बर, फैज महम्मद खां, अनन्त मनोहर जोशी, मीराशी बुवा एवं राजा भैया पूंछवाले आदि इस घराने के प्रसिद्ध कलाकार हैं। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि आज जो अनेक संप्रदाय अर्थात् घराने दिखाई दे रहे हैं उनका जन्म उपर्युक्त महानुभावों एवं ख्यालगायकों के तपोनिष्ठ मुनियों द्वारा हुआ है। संप्रदाय परम्परा एवं कण्ठ धर्म के अनुसार स्वतंत्र शैली वैशिष्ट्य के आधार पर ही जन्म लेते हैं।

२. जयपुर घराना व उसके कलोपासक

शास्त्रीय संगीत में ख्याल-गायन की रंजनक्षमता राग-लक्षणों के अनुसार स्वर, काव्य—समन्वय एवं लय वैशिष्ट्य पर ही निर्भर होती है। इनका उचित प्रदर्शन अल्लादिया खाँ ने किया और इस प्रकार ख्याल गायकी के जयपुर-घराने का जन्म हुआ। अल्लादिया खाँ का ग्वालियर-घराने के गायक मुबारक अली की गायकी से निकट का सम्पर्क था। यद्यपि मुबारक अली से अल्लादिया खाँ को प्रत्यक्ष शिक्षण प्राप्त नही हुआ था, किन्तु मुबारक अली की गायकी उनके मन में समा गई। फलतः अल्लादिया खाँ ने अपनी गायकी में मुबारक अली की गायकी के कुछ गुणों को अपनाया। इस प्रकार ग्वालियर घराने की गायकी के प्रभाव स्वरूप जयपुर व ग्वालियर दोनों घराने ख्याल गायकी की दृष्टि से एक-दूसरे के निकट माने जाते हैं।

जयपुर घराने के अल्लादिया खाँ (मूल पुरुष) के अतिरिक्त विख्यात नाम खाँ साहब हैदरखाँ, मोगू बाई कुर्डीकर, केसरबाई केरकर, मंजी खाँ, भूरजी खाँ, मल्लिकार्जुन, मंसूर आदि हैं।

३. किराना घराना व उसके विख्यात गायक

श्वासनलिका का उचित संकुचन करके रेशम जैसी नाजुक एवं मुलायम स्वरोच्चारण-शैली तथा स्वर-स्थानों की शुचिता से ख्याल गायकी में लुभावनी मधुरता का सर्जन करना किराना-घराने की विशेषता है। इसके मूल पुरुष खाँ

साहेब वहीद खाँ के अतिरिक्त अन्य विख्यात कलावंत अब्दुल करीम खाँ, हीरा बाई, बडोदेकर, राम भाऊ, सवाई गंधर्व, भीमसेन जोशी आदि माने जाते है।

४. आगा घराना व उसके विख्यात गायक

इस घराने की स्वरोच्चारण-शैली ग्वालियर, जयपुर तथा किराना से, अनेक अर्थों में भिन्न है। इस गायकी में कलात्मक कल्पना विलास से एक ऐसी विशिष्ट आकृति सर्जित होती है मानों कोई कलात्मक वास्तुकृति ही सामने दिखाई दे रही हो। इस घराने को प्रस्थापित करने का श्रेय ग्वालियर गायकी में तालीम प्राप्त घग्गे खुदावक्ष को है। इनके अतिरिक्त इस घराने के विख्यात गायकों में नत्थन खाँ, नत्थन खाँ के सुपुत्र विलायत हुसैन खाँ, फैय्याज खाँ, जगन्नाथ बुवा पुरोहित, भास्कर बुवा वखले एवं अब्दुल्ला खाँ है। भास्कर बुवा वखले की गायकी में ग्वालियर, जयपुर एवं आगरा घरानों का विशिष्ट प्रकार का सयोग दिखाई देता था। इस कारण इन्हें उक्त तीनों ही घरानों का प्रतिनिधि माना जाता था।

५. पटियाला-घराना

इस घराने के संस्थापक एवं गायक वड़े गुलाम अली खाँ समझे जाते है जिनकी गायकी चमत्कृतिपूर्ण व रस-भावपूर्ण थी। ख्याल-गायन के साथ ठुमरी गायन-शैली भी इनकी विशेषता थी। आज उनकी चमत्कृतिपूर्ण व रसभावपूर्ण ख्याल-गायकी अन्य जयपुर, ग्वालियर, किराना तथा आगरा घरानों से सम्पूर्णतः भिन्न भाव प्रधान विशिष्ट गायकी मानी जाती है।

६. इन्दौर-घराना

इन्दौर-घराने का दूसरा नाम भेंडी बजार वाला (मुंबई) घराना भी है। कारण कि इन्दौर-घराने के पूर्वज गायक बम्बई भेंडी बाजार में रहा करते थे। बम्बई में इन गायकों का किराना घराने के अब्दुल वहीद खाँ की गायकी से सम्पर्क रहा। इसलिए इन्दौर-घराने पर किराना घराने का किंचित प्रभाव दिखाई देता है। यह प्रभाव आलापचारी में ही विशेषतः लक्षित होता है। किराना घराने की स्वर लगाव शैली का भी विशेष प्रभाव इस घराने की गायकी पर दिखाई देता है। इन्दौर-घराने की गायकी की विशेषता प्रमुख रूप से यह है कि विशेष स्वर-समूहों के अनेक कलात्मक प्रस्तुतीकरण इसमें होते हैं। इसके मूल पुरुष शाह मीर खाँ हैं। शाह मीर खाँ के सुपुत्र खाँ साहेब अमीर खाँ, खाँ साहेब नजीर खाँ एवं श्रीमती अंजनी बाई मालपेकर आदि इसके अन्य प्रसिद्ध कलाकार हैं।

ख्याल-गायकी को विस्तृत करने का, जीवित रखने का एवं समाज में सम्मानीय स्थान देने का पूर्ण श्रेय प्रचलित उक्त छः घरानों को है।

ख्याल-गायकी में प्रयुक्त होने वाले ताल विशेष रूप से तिलवाड़ा, त्रिताल, एक ताल, आड़ा चौताल, झूमरा, झपताल एवं रूपक हैं। इन्हें विलम्बित लय में ही

प्रयुक्त किया जाता है। बड़े ख्याल भी विलंबित लय में गाये जाते हैं व छोटे ख्याल मध्य लय एवं द्रुत लय में गाये जाते है। ख्याल-गायकी में राग-लक्षणों के अतिरिक्त, कण, मीड, गमक आदि से युक्त आलापचारी तथा विभिन्न प्रकार की रागोचितशुद्ध तथा कूट तानें, बोल-तानें आदि का प्रदर्शन भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विशिष्ट लयकारी की कलात्मकता तथा बोल अंग द्वारा काव्य सौंदर्य व स्वर सौंदर्य की अभिव्यक्ति ख्याल-गायकी की अपनी निजी विशेषता है। काव्य, स्वर, एवं लय के उचित संयोग द्वारा संगीत का संपूर्ण सौंदर्य एवं कलात्मकता ख्याल गायकी में ही प्रदर्शित की जाती है। प० भातखण्डे जी ने क्रमिक पुस्तक मालिका के विभिन्न भागों में सदारंग, अदारंग, मनरंग आदि द्वारा रचित बड़े एवं छोटे ख्यालों को स्वर-ताल-लिपि-बद्ध रचना के रूप में वर्णित किया है। आज साधारणतया वे ख्याल ही प्रचार में हैं।

ख्याल गीत-प्रकार में काव्य, रस, ताल आदि की विशेषता के विवेचन के पश्चात् विभिन्न घरानो के ख्यात नाम गायकों के शैली-वैशिष्ट्य पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि "ग्वालियर घराने को" ख्याल गायकी की गंगोत्री की संज्ञा देना अनुचित न होगा। उस गंगोत्री से विभिन्न प्रकार की जो धाराएँ प्रवाहित हुई हैं व उन्होंने जो मोड़ लिये है उनके फलस्वरूप अनेक घराने केवल अंकुरित ही नही हुए अपितु फल-पुष्पों से भी सम्पन्न हुए दिखाई दे रहे हैं। आज उन फल-पुष्पों का रस एवं सौरभ का आस्वाद लेते हुए संगीत-रसिक आनन्दविभोर हो रहे है। संभव है कि भविष्य में ख्याल-गायकी के नवीन घराने और प्रस्थापित हों, कारण कि सम्प्रदाय एवं पृथगात्मता के सम्मिश्रण से ही घराने जन्म लेते हैं व फलते-फूलते हैं। आशा है कि संगीत-रसिक ख्याल-गायकी के रसास्वादन की अपनी उच्च परंपरा के अनुसार नवीन संभाव्य घरानों को प्रश्रय देंगे व ख्याल-गायकी को विकासोन्मुख करने का श्रेय प्राप्त करेंगे।

धमार

धमार ताल में गाये जाने वाले गीत-प्रबंध को धमार कहते हैं। इस गीत में अबीर, गुलाल, अरगजा आदि सुगंधित शुष्क पिष्ट एवं पलाश-पुष्पों के केशरी रंगो द्वारा होली अथवा होरी खेलने का वर्णन होता है। इसके अतिरिक्त मन्दिरों में भगवान श्री कृष्ण डफ, नगारा आदि वाद्यों के साथ होरी नामक गीत धमार-ताल में गाकर गोपियों के साथ होरी खेलते हैं, इस प्रकार का भी वर्णन इन काव्यों में दिखाई देता है। धमार गीत शृंगारिक भावनाओं के अतिरिक्त भक्ति काव्य में भी अंकित किया जाता है। श्री कृष्ण-गोपी के होरी खेलने के अन्तर्गत पवित्र शृंगारिक भाव, भक्ति एवं अन्य ऋतुवर्णनात्मक काव्य का इस गीत-प्रकार में समावेश दिखाई देता है। इसकी विशेषता यही है कि इस काव्य को केवल धमार-ताल में ही निबद्ध गीत के रूप में गाया जाता है। इसी कारण इसे धमार कहते है।

अनेक धमार-गीत रामपुर एवं लखनऊ के संगीतज्ञ नवाबों से प्राप्त करके पं० भातखण्डे जी ने क्रमिक पुस्तक मालिका के छः भागों में संगृहीत है।

डागर-घराने के ध्रुवपद एवं धमार गायक "डागर बंधु" आज इस गीत के श्रेष्ठ गायक माने जाते हैं। ध्रुवपद-गायन के सदृश ही इस गीत प्रकार को प्रारंभ करने के पूर्व उस विवक्षित राग का रागलक्षणों के अनुसार "नोम तोम" द्वारा सम्पूर्ण विस्तार किया जाता है, जिसका विवेचन पूर्व में किया गया है। ध्रुवपद के सदृश इसके भी, स्थायी व अन्तरा, दो भाग होते हैं। किन्ही किन्ही धमारों के स्थायी अंतरा, संचारी एवं आभोग, इस प्रकार चार भाग होते हैं। धमार-गीत-गायन भी शास्त्रीय संगीत में लय-प्रधान गायन-प्रकार समझा जाता है व श्रेष्ठ ध्रुवपद-गायक ही धमार-गायन को प्रस्तुत करने की क्षमता रखते हैं। धमार-गायन के साथ मृदग अथवा पखावज की संगति दी जाती है। दुगुन, तिगुन, चौगुन, आड़, कुआड़ आदि विभिन्न लयकारियों व उपज-अंगों के प्रस्तुतीकरण द्वारा ही धमार-गीत-शैली के कलात्मक सौंदर्य की अभिव्यक्ति होती है। भाव, स्वर, ताल, लय के पूर्ण सामंजस्य से गायक एवं श्रोता आत्मविभोर हो जाते हैं। शास्त्रीय सगीत में ध्रुवपद-धमार-गायन भक्ति के अंतर्गत गायन माना जाता है।

तराणा

तराणा को "तराना" भी कहा जाता है। भरत नाट्य के "अल्लरिपु, तिल्लाना, मोहिनी अट्टम्" आदि जो आठ प्रकार के नृत्य हैं, उनमें "तिल्लाना" तराने जैसे अक्षरों पर किया जाता है, जिससे यह समझा जा सकता है कि 'तराना' गीत-प्रकार भरत कालीन है। भरत-काल के पूर्व "तराना" गीत-प्रकार का सकेत प्राप्त नही होता है। तराना की रचना ना, ता, रे, दानि, ओदतन, तनोम्, यलली, यंलोम एवं तदरेदानि, आदि अर्थहीन अक्षरों एवं शब्दों से हुई है। "भरत नाट्यम्" नृत्य में विभिन्न स्वर-समूहों द्वारा विशेष प्रकार की हस्त-मुद्राओं का प्रदर्शन किया जाता है, जिसमें अर्थ भावना की अपेक्षा स्वर एवं लय के समन्वय से नृत्य-प्रदर्शन करना एक विशेष अंग माना जाता है। उसी प्रकार तिल्लाना नृत्य में "तराने' की बंदिश के विभिन्न अक्षरों एवं अक्षर-समूहों द्वारा स्वर और लयकारी का चमत्कृतिजन्य प्रदर्शन होता है। अतः तराने के साथ भरत नाट्यम् नृत्य एक चमत्कृतिजन्य प्रकार है, यह कहना अनुचित नही है। अनेक विद्वान तदरे दानि, यलम् आदि शब्दों में विभिन्न अर्थ भावना को खोजने का प्रयत्न करते हैं। यदि इसमें किसी अर्थ-भावना का स्पष्टीकरण करने में वे सफल होंगे तो शास्त्रीय संगीत की सम्पन्नता में अधिक वृद्धि होगी।

आज अनेक तराने जो अधिक गाये जाते हैं, वे परम्परागत रूप में अपने-अपने घरानों की विशेष देन हैं। तरानों की अनेक नवीन रचनाएं भी आज प्रचलित हैं। तरानों में क्वचित समय फारसी भाषा के एक दो चरन भी दिखाई देते हैं जिससे

यह कहना अनुचित न होगा कि तराना-गीत पर भी पठान व ईरानी संस्कृति का प्रभाव है। तराना गीत-प्रकार अधिकतर त्रिताल व एक ताल में ही पाये जाते हैं। आडा-चौताल, रूपक, झपताल जैसे तालों में भी अनेक गायक तराने गाते हैं। यह गीत-प्रकार अधिकतर द्रुतलय का ही है और द्रुत से द्रुततर लय में इसे गाने से ही इसकी शोभा है। स्वर एव लय के अनेक चमत्कृति जन्य प्रकार इसके बोलों के समन्वय से जब रचे जाते हैं तब स्वर तथा लय का आनन्द आता है। शास्त्रीय संगीत में तराना गीत-प्रकार एक उच्च श्रेणी का गायन समझा जाता है व ख्याल-गायक ही इसको गाते हैं।

त्रिवट

इस गीत-प्रकार की रचना मृदंग अथवा पखावज के बोलों पर स्वर-ताल में निबद्ध होती है। "तराना" गीत-प्रकार के समान ही यह गीत-प्रकार द्रुत लय में गाया जाता है किन्तु इस गीत-प्रकार के मृदंग अथवा पखावज के साथ ही गाये जाने पर स्वर एव लय की चमत्कार जन्य आनद की अनुभूति होती है।

इस गीत-प्रकार में मृदंग अथवा पखावज के बोलों पर विवक्षित रागों के गमकादिक अलंकारों की रचना गायी जाती है। गायक द्वारा मृदंग अथवा पखावज के बोल जिस प्रकार विभिन्न लयों मे गाये जाते हैं, वैसे ही बोल उसी लय में मृदंग अथवा पखावज-वाहक द्वारा बजाये जाते हैं। यह प्रक्रिया विशेष रूप से स्वर-प्रधान व लय-प्रधान मानी जाती है। इसका गायन अधिकतर ख्याल-तराना-गायक ही सरलता एवं कुशलता से करते हुए देखे गये हैं। ये अधिकतर त्रिताल, एक ताल एव झपताल जैसी मध्य और द्रुत लय में गाये जाने वाले तालों में निबद्ध होते हैं। शास्त्रीय संगीत में त्रिवट गायन स्वर एवं लय प्रधान गीतों में उच्च श्रेणी का गीत प्रकार समझा जाता है।

चतुरंग

चतुरंग शास्त्रीय संगीत में एक विशिष्ट गीत-प्रकार माना जाता है जिसमें (१) कविता, (२) तराना, (३) सरगम, एवं (४) त्रिवट, (मृदंग-तबला अथवा पखावज के बोल) एक ही राग एवं ताल में निबद्ध होते हैं। इस प्रकार से चार अंगों की यह स्वर-ताल-बद्ध रचना शास्त्रीय संगीत में चमत्कृति जन्य एवं अतीव रंजनात्मक होती है। विवक्षित राग में कविता के शब्दों के साथ ख्याल-अंग से राग की सम्पूर्ण विशेषतायें बताई जाती हैं, तो तराना और सरगम के अंगों में स्वर व लय के समन्वय का विशिष्ट प्रयोग वैचित्र्यपूर्ण दिखाई देता है। त्रिवट अंग के भाग में त्रिवट-प्रकार गाया जाता है। अर्थात् ख्याल, तराना, त्रिवट व सरगम, इन चारों का वैचित्र्यदायक मिश्रण इस गीत-प्रकार की एक विशेषता है। ये गीत अधिकतर मध्य लय के तालों में निबद्ध होकर द्रुतलय में गाये जाते हैं। तराना व त्रिवट गीत-प्रकारों की अपेक्षा

चतुरंग गीत-प्रकार चार अंगों के मिश्रण का अपना एक विशिष्ट प्रकार है तथा शास्त्रीय संगीत के ख्याल, तराना, त्रिवट-गायक ही इस गीत-प्रकार को सम्पूर्ण रूप में रंजकता प्रदान करते हुए गा सकते हैं।

स्वर-मालिका अथवा सरगम

स्वर-मालिका अथवा सरगम की तालबद्ध रचना भी गीत-प्रकारों में अंकित की गई है किन्तु यह तालबद्ध रचना अन्य शास्त्रीय गीतों के समान गीत रूपमें गाई नही जाती है। इसमें रागोचित विशेष स्वर-समूह तालबद्ध होते हैं। राग के स्वरों का अभ्यास करने हेतु संगीत विद्यार्थियों को इसकी शिक्षा प्रदान की जाती है। सरगम का स्वर-तालबद्ध उचित अभ्यास विद्यार्थियों को विवक्षित राग का प्राथमिक ज्ञान कराने में सहायक सिद्ध होता है। यह मनोरंजक रचना प्रचलित विभिन्न तालों में प्राप्त होती है।

लक्षण-गीत

लक्षण-गीत की नाम-संज्ञा से ही अर्थबोध होता है कि यह किसी लक्षण, सिद्धान्त एवं नियम को बताने वाला गीत-प्रकार है। राग किस थाट से निर्मित हुआ, उसकी जाति क्या है, उसके वादी-संवादी क्या हैं, उसमे प्रयुक्त होने वाले स्वरों का अल्प अथवा बहुल प्रमाण कैसा है, उसमें वर्जित स्वर कौन से है, कौन से विशेष स्वर-समूह हैं एवं गान-समय क्या है, आदि राग-लक्षण अथवा राग-तत्त्वों का वर्णन उस विवक्षित राग में तालबद्ध किया हुआ होता है। इसी कारण राग के लक्षण अर्थात् तत्त्व एवम् नियम-उपनियमों का ज्ञान देने वाले गीत को लक्षण-गीत कहा गया है। इस गीत-प्रकार का गायन ख्याल-तराना जैसे अन्य शास्त्रीय गीत-प्रकारों के समान विशेष रूप में नहीं किया जाता है। लक्षण-गीत उस राग के विशेष लक्षणों का ज्ञान स्वर, तालबद्ध रचना के रूप में कराने में सहायक होता है। पं० भातखण्डे जी द्वारा "चतुर" उपनाम से रचित अनेक लक्षण-गीत क्रमिक पुस्तक मालिका के ६ भागों में आज मिलते हैं जिनके द्वारा राग-लक्षणों का साधारण ज्ञान विद्यार्थियों को होता है। ये गीत-प्रकार भी प्रचलित विभिन्न तालों में निबद्ध होते हैं।

ठुमरी

ख्याल (बड़े एवं छोटे, तराना, ध्रुवपद, चतुरंग एव त्रिवट गीत-प्रकार शास्त्रीय संगीत के माने जाते हैं परन्तु ठुमरी गीत-प्रकार उप शास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत माना जाता है। शास्त्रीय संगीत स्वरप्रधान है उसमें काव्य, स्वर, एवं ताल का समन्वय है, परन्तु स्वर-ताल की अपेक्षा काव्य पक्ष गौण रहता है। यह स्वर-प्राधान्य शास्त्रीय रागदारी गीत-प्रकार ख्याल, तराना, ध्रुवपद आदि में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इसी कारण उन्हें शास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत माना जाता है।

किन्तु ठुमरी में गीत-काव्य, स्वर एव ताल के समन्वय मे काव्य-पक्ष अधिक प्रबल दिखाई देता है। ख्याल, ध्रुवपदादि शास्त्रीय गीत-प्रकारों में राग-सौंदर्य एवं रसाभिव्यक्ति काव्य की अपेक्षा स्वर, ताल और लय पर अधिक निर्भर करती है। किन्तु ठुमरी गीत-प्रकार में स्वर ताल, व लय के साथ काव्य-शब्दों के लालित्यपूर्ण उच्चारण द्वारा ही गीत के भाव व राग की रसानुभूति को व्यक्त किया जाता है। शास्त्रीय गीत-प्रकारों में शब्दों के लालित्य का महत्व नहीं है यह कहना अनुचित होगा परन्तु ठुमरी-गायन में शब्द-स्वर का लालित्यपूर्ण उच्चारण एक विशेष अग है, जिससे गीत की रंजनात्मक भावाभिव्यक्ति सुलभ होती है। अतः साधारणतः ठुमरी स्वर-ताल के समन्वय सहित शब्द-प्रधान उपशास्त्रीय संगीत का गीत-प्रकार माना जाता है। शब्दाश्रित होने का अर्थ यह नही कि उसमें स्वर गायकी का महत्त्व नही है। ठुमरी की काव्य-रचना ख्याल के सदृश ही छोटी होती है और साधारणतः शृंगारिक होती है। इस शब्द-काव्य की छोटी रचना को उपशास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत पूर्ण रूप से शब्द-प्रधान गीत कहने के स्थान पर किंचित शब्दाश्रित गीत-प्रकार कहना अधिक उचित होगा। "शब्द" को द्वि पदों वाली वस्तु कहा जाय तो अनुचित नही होगा। शब्द का एक पद साहित्य से सम्बन्धित है तो द्वितीय पद संगीत से संलग्न है। साहित्य में शब्द का कार्य अर्थ-सूचकता है। उसके भाषिक तथा साहित्यिक कार्य को अर्थबोध (Denotation) कहा जायेगा किन्तु शब्द के सांगीतिक संलग्नता को अर्थ-बोध (Denotation) के स्थान पर "गूढ़ार्थ" अथवा "ध्वन्यर्थ" (Conotation) कहा जाना अधिक उचित होगा, जिनमें "शब्द" स्वरों पर सम्पूर्णतः समर्पित हो जाते हैं और स्वर में विलीन हो जाते हैं; उनका अलग असितत्व नही रहता। साहित्य में शब्द का कार्य असंदिग्ध व निश्चित अर्थबोध होता है किन्तु उसका सांगीतिक कार्य ध्वन्यर्थात्मक एवं प्रतीकात्मक होता है अर्थात् उस ध्वन्यर्थ में संदिग्धता बनी रहती है। शब्द का अर्थ प्रत्यक्ष रूप से निश्चित अर्थबोध देता है किन्तु संगीत में शब्द के विभिन्न प्रकार की ध्वनियों में विलीनीकरण से विभिन्न गूढार्थ बोधक भावों की अनुभूति होती है। ठुमरी गीत-प्रकार में काव्य के शब्द सगीत के स्वरों में विलीन हो जाते है। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। ठुमरी-गायकी में स्वर एवं शब्द का लालित्यपूर्ण उच्चारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी में ठुमरी-गायकी की विशेषता निहित है। उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य-शब्दों के स्वरों पर समर्पण एवं उनमें विलीनीकरण की क्रियाएं ठुमरी की विशिष्ट गायकी के माध्यम से चलती रहती हैं।

ठुमरी-गायन कब व कैसे प्रचार में आया, यह बात अभी संदिग्ध है। मुगल सस्कृति के प्रभाव से कव्वाली ख्याल व कलावन्ती ख्याल भारतीय शास्त्रीय संगीत के श्रेष्ठ गीत-प्रकार माने जाने लगे। अकबर के समय में ही ठुमरी जैसे शृंगारिक गीत के प्रचार का आभास होता दिखाई दिया, उस समय सन्त व भक्त कवियो के भक्ति-पदों के विशेष प्रचलन के कारण ठुमरी गीत को अधिक प्रश्रय मिलना कठिन हो

गया। वाजिदअली शाह के समय तक शनैः शनैः ठुमरी का वातावरण बना। उनके समय में इस गीत के प्रति रुचि अधिक बढ़ी, फलतः ठुमरी-गायन पनपा। जिस प्रकार ख्याल-गीत-गायन ग्वालियर में प्रश्रय प्राप्त कर पनपा उसी प्रकार ठुमरी-गीत-गायन लखनऊ में प्रश्रय प्राप्त कर विकसित हुआ। ख्याल-गायकी के आज विभिन्न घराने दिखाई दे रहे है किन्तु ठुमरी-गायकी-शैलि के घराने स्थापित नही हुए है। फिर भी लखनवी, बनारसी, पंजाबी आदि शैलियां ठुमरी-गान में आज दिखाई दे रही हैं। वर्तमान मे ख्याल-गायको के किराना व पटियाला घराने के अनेक गायक ठुमरी-गायन कौशलपूर्वक करते दिखाई देते है। बनारस, लखनऊ एवं पंजाब के कतिपय ख्याल गायक भी ठुमरी-गायन करते है। प्रत्येक की अपनी-अपनी विशेष शैली है। बनारसी ठुमरी की रोचकता पृथक् है जिसकी लखनवी ठुमरी की मधुरता व नजाकत से समानता नहीं हो सकती। ख्याल-गायकों के पटियाला घराने के गायकों द्वारा गाई जाने वाली ठुमरी की सादृश्यता किराना घराने के ख्याल-गायकों द्वारा गाई गई ठुमरी शैली से नहीं हो सकती है। अर्थात् लखनवी, बनारसी, पंजाबी आदि ठुमरियों की अपनी-अपनी स्वतंत्रता लिए हुए लालित्य पूर्ण गायन-शैली है जो रोचक एव रसानुभूतिप्रद है।

ठुमरी की शैलियों का जहां तक प्रश्न है, 'पूरब बाज' ठुमरी व 'पंजाबी' ठुमरी यही दो शैलियाँ वर्तमान में अपनी-अपनी विशेषता लिए हुए प्रचलित हैं। साधारण रूप मे यही कहा जा सकता है कि लखनवी, बनारसी एवं अन्य ख्याल-गायकों द्वारा गाई जाने वाली ठुमरी शैली पंजाबी ठुमरी गायन-शैली से भिन्न है। किसी शैली में शब्दाश्रित स्वर-विलास द्वारा भड़कीलापन अधिक है तो किसी शैली में वही भड़कीलापन किंचित् कम प्रतीत होता है। शैली कैसी भी हो ठुमरी-गायन का उद्देश्य सौंदर्य, रस एव भावाभिव्यक्ति है, यह तथ्य सर्वमान्य है।

पूर्व में कहा गया है कि ठुमरी गीत की काव्य-रचना शृंगारिक और छोटी होती है, जिसके स्थायी व अंतरा ऐसे दो भाग होते है। ठुमरी-गीत के राग साधारण रूप में चचल प्रकृति के है व इसी कारण ठुमरी-गीत अधिकतर खमाज, काफी, पिल्लू, सोरठ, देस, भैरवी, माड एवं झिंझूटी आदि रागों में निबद्ध होते हैं। सनद पिया, कदरपिया, नजरपिया आदि द्वारा रचित उपर्युक्त रागों में अनेक ठुमरियां वर्तमान में गाई जाती हैं। इन ठुमरियो का संकलन श्रद्धेय प० राजाभैया पूंछ वाले द्वारा रचित 'ठुमरी तरंगिणी' मे मिलता है। उपर्युक्त ठुमरियां अधिकतर १४ मात्राओं वाले दीपचंदी ताल में गाई जाती है व अंत में तबलावादक द्वारा कहरवा ताल की लग्गियाँ दी जाती हैं जिससे शब्द काव्य, स्वर एवं लय का समन्वय ठुमरी में निहित पद्य, कोटि की रस भावाभिव्यक्ति सभव होता है।

टप्पा

ध्रुवपद की/बेसरा गीति अर्थात् ध्रुवपद-गायन की बेसरा शैली के आधार

पर टप्पा गीत की रचना उप शास्त्रीय संगीत में शोरी मियां से की है, ऐसा माना जाता है। कहते है कि पंजाब में ऊँट हांकने वाले टप्पा नामक लोकगीत गाते थे। उन्ही लोकगीतों को शोरी मियां अर्थात् गुलाम नबी शोरी ने शास्त्रीय राग, खमाज, काफी, सिंधूरा, भैरवी, माण्ड, बिहाग आदि में परिणत करके प्रकारित किया। गुलाम नबी शोरी स्वयं ख्याल-गायक थे। उन्होने टप्पे की रचना चंचल प्रकृति के रागों में की। अतः उसकी गायकी भी ख्याल-गायकी के किंचित् निकट हो गई है। ख्याल-गायकी में मुरकिया आलकारिक एवं खटकेदार तानों को द्रुतगति में प्रयुक्त करने की कण्ठ-क्षमता की आवश्यकता होती है व उसी कण्ठक्षमता को ध्यान मे रखकर गुलाम नबी शोरी ने टप्पा गीत की रचना की एवं इसकी गायकी को प्रचारित किया। टप्पा गीत में स्थायी व अंतरा के दो अवयव होते है। इसकी भाषा पजाबी होती है व पजाबी ताल में ही यह गीत निबद्ध होता है। पंजाबी ताल के १६ मात्राओं के एक आवर्तन मे स्थायी व दूसरे आवर्तन मे अतरा गाने की शैली टप्पा गीत की एक प्राथमिक विशेपता है। यह गीत छोटी-छोटी पेचदार व द्रुतगति की तानों द्वारा रचित होता है। अतः कण्ठ धर्म की शैली को एक विशेष प्रकार का मोड़ व अभ्यास देने की आवश्यकता होती है। टप्पा-गीत एव उसकी गायकी को कौशल व रंजकता प्रदान करने हेतु कण्ठ में विशेप मोड़ देने व विशिष्ट प्रकार के कण्ठाभ्यास करने की अति आवश्यकता है। उपर्युक्त विवरण से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि टप्पा-गीत एव गायन-शैली गुरु मुख विशिष्ट तालीम से और विशिष्ट अभ्यास से साध्य है। ग्वालियर घराने के ख्याल-गायक स्व० शंकर पण्डित तथा स्व० श्र० प० राजाभैया पूंछवाले जिस कौशल से ख्याल-गायन करते थे उसी कौशल से टप्पा-गायन भी किया करते थे। वर्तमान में इनकी शिष्य परंपरा में कतिपय शिष्य ख्याल-गायकी के साथ टप्पा-गायन-शैली का भी कौशल युक्त प्रदर्शन करते दिखाई दे रहे हैं। इनके अतिरिक्त बनारस की श्रीमती सिद्धेश्वरी देवी एवं श्रीमती गिरिजा देवी आज टप्पा गायन-शैली की ख्याल नाम गायिका मानी जाती है। स्व० श्र० पं० राजा भैया पूंछवाले की 'षष्ट्यब्द पूर्ति महोत्सव' (६१ वी वर्षगांठ) के उपलक्ष्य में प्रकाशित 'संगीतोपासना' पुस्तक में आज उनके द्वारा गाये गये अनेक टप्पे स्वर, ताल, लिपिबद्ध रूप में उपलब्ध है। टप्पा गायन-शैली का कौशल बताने हेतु ख्याल-गायकी के सदृश्य अभ्यास परिश्रम एवं कण्ठक्षमता की आवश्यता होते हुए भी टप्पा गीत प्रकार को उप शास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत माना जाता है। क्योकि टप्पा-गीत ख्याल-गीत की अपेक्षा चचल प्रकृति का गीत है। ख्याल-गीत एवं उसकी गायकी की गंभीरता न तो टप्पा गीत मे है न उसकी गायकी में। ख्याल-गीत एवं गायकी गम्भीर प्रकृति की होतीहै, जबकि टप्पा-गीत व गायकी चंचल प्रकृति की है।

दादरा

यह गीत-प्रकार साधारणतः सुगम सगीत के अन्तर्गत आता है। ठुमरी एवं टप्पा जैसे गीत-प्रकारों के गायन करने वाले ही यह गीत-प्रकार गाते हुए दिखाई

देते हैं। यह गीत-प्रकार सम्पूर्ण रूप से शब्द-प्रधान रहता है, ऐसा कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा। स्थायी के अतिरिक्त इस गीत में दो या तीन व इससे अधिक अंतर भी होते हैं। शब्द-काव्य शृंगारिक तथा साधारण ऋतुवर्णनात्मक अर्थात् बसत, सावन जैसे मौसम को लेकर होता है। किसी भी संगीत-रचना में अधिकतर यही देखा गया है कि उसके शब्दों का लालित्य युक्त उच्चारण करने हेतु कुछ शब्दों का रूप बदल दिया जाता है यथा 'चन्द्र' का 'चाँद' या 'चन्दा', 'पत्र' का 'पत्रिका' आदि। इससे सांगीतिक उच्चारण में लालित्य दिखाई देता है व शब्द के उच्चारण की कठोरता नष्ट हो जाती है। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर दादरा गीत में भी काव्य के शब्द परिवर्तित रूप में आते हैं। इसलिए उनका सांगीतिक उच्चारण लालित्यपूर्ण ध्वनित होता है।

दादरा नाम की संज्ञा से यह गीत दादरा ताल में ही निबद्ध होना चाहिए, ऐसा नियम नही है। अनेक दादरा-गीत दादरा ताल में निबद्ध पाये जाते हैं व अन्य अनेक दादरा संज्ञा नामक गीत कहरवा जैसे आठ मात्रा के तालों में भी निबद्ध पाये जाते हैं। इस गीत की रचना अधिकतर चंचल प्रकृति के साधारणतया पहाड़ी, मांड, देस, सोरठ, झिंझूटी आदि जैसे रागों में की जाती है। उपर्युक्त रागों के चलन, प्रकृति एवं रसभाव की दृष्टि से विचार किया जाये तो यह उचित ही प्रतीत होता है कि इस प्रकार के सुगम संगीत के अन्तर्गत आने वाले दादरा गीत की रचना उपर्युक्त रागों में ही हो। गायकी के औचित्य की दृष्टि से उपर्युक्त राग अन्य गम्भीर रागों की अपेक्षा निम्न स्तर में आते हैं, इसी कारण इस गीत-प्रकार का शब्द-काव्य राग-स्वरों का उतना ही आश्रय लेता है जितना उसे आवश्यक है। आलाप, तान व मुरकियाँ आदि गायकी-प्रकार इस गीत में नही बताये जाते हैं। अतः दादरा गीत-प्रकार भारतीय शास्त्रीय संगीत में कतिपय प्रचलित रागों का एवं तालों का सहारा लेकर सुगम संगीत के अन्तर्गत गाया जाना वाला एक मनोरंजक एवं भावाभिव्यंजक गीत-प्रकार है।

बनारस, लखनऊ आदि के गायक ढोलक अथवा तबले की संगत पर अति रुचि पूर्ण एवं मनोरंजक शैली में इस गीत को प्रस्तुत करते हुए पाये जाते हैं।

अध्याय छह

तानों के प्रकार

तान शब्द संस्कृत की 'तन्' धातु से उत्पन्न है, जिसका अर्थ तानना या खींचना होता है। तान अर्थात् कंठ को तान कर या खींच कर स्वर-समूहों का प्रस्तुतीकरण। रागोचित विभिन्न स्वर समूहों को विभिन्न एवं उचित गतियों में, कंठ-शैली के विशिष्ट माध्यम से, प्रस्तुत करने को तान कहते हैं। इसे और स्पष्ट समझने हेतु तान-क्रिया के विषय में भरत मुनि के विचारों को देखा जाय तो अनुचित नहीं होगा। तान-क्रिया के सम्बन्ध में भरत मुनि कहते हैं:—

'द्विविधा तान-क्रिया तंत्रयाम्। प्रवेशो निग्रहाश्च।' अर्थात् तान-क्रिया दो प्रकार की है: (१) प्रवेश तान-क्रिया, एवं (२) निग्रह तान-क्रिया। उपर्युक्त में 'तंत्रयाम्' है जिसका अर्थ तंत्री अथवा तंतु-वाद्य यानि वीणा आदि होता। प्रथम प्रकार "प्रवेश तान-क्रिया" जिसका अर्थ भरत मुनि ने इस प्रकार बताया है, "अत्र प्रवेशो नाम अधर स्वर प्रकर्षणात् उत्तर स्वर मार्दश्च"। प्रवेश तान-क्रिया का अर्थ हुआ अधर स्वर यानी नीचे का निम्न ऊँचाई का स्वर व प्रकर्षण यानी उसका आकर्षण अर्थात् निम्न ऊँचाई के स्वर से तार को खींच कर मींड द्वारा स्वरों को प्रवेश देना। आज के संदर्भ में यह इस प्रकार समझा जा सकता है। वीणा के सा के पड़दे पर सा रे गा म चार स्वर मींड से प्रकर्षित अर्थात् खींच कर निर्मित करने की व उसी प्रकार प्रकर्षण द्वारा निर्मित 'म' से पुनः उलट क्रिया से उसी पड़दे पर 'म ग रे सा' स्वर-प्रयोग निर्मित करने की क्रिया को प्रवेश तान-क्रिया कहते हैं। अर्थात् ऐसी क्रिया में स्वर-निर्माण की गति शीघ्र आती है और तनाव-खिचाव (प्रकर्षण) द्वारा तान-निर्माण होती है।

निग्रह तान-क्रिया के सम्बन्ध में भरत मुनि कहते हैं—"निग्रहः असंस्पर्शः मध्यम स्वर संस्पर्शः।" आज के संदर्भ में यह इस प्रकार समझा जा सकता है, निग्रह तान-क्रिया में वीणा के "सा" के पड़दे पर इस प्रकार खिचाई की जाये जिससे सा-म-स्वरों का निर्माण हो व 'रे ग' मध्य स्वरों का उसमें लोप दिखाई दें। ऐसी ही उलट-प्रक्रिया में म-सा स्वरों का निर्माण किया जाता है। इसे सा से म तक घसीट अथवा म से सा तक घसीट या मींड कहते है। अर्थात् प्रवेश व निग्रह दोनों ही तान-क्रियाओं में प्रकर्षण-तानना-खींचना महत्वपूर्ण है।

तान-क्रिया के क्षेत्र के सम्बन्ध में भरत मुनि कहते हैं, "मध्यम स्वरेण वैणेन मूर्छना निर्देशः अनाशित्वात्।" तान-क्रिया में वीणा पर मध्यम स्वर से मूर्छना की

प्राप्ति होती है। यहां "मध्यम स्वर से तात्पर्य है सप्तक के स्वरों से। कारण कि गायन-वादन-क्रिया अधिकतर मध्य स्वर-सप्तक में ही विशेष रूप में की जाती है व इसी कारण मध्य स्वर-सप्तक को भरत ने "अविनाशित्वात्" अर्थात् मध्य स्वर-सप्तक अविनाशी है, ऐसी संज्ञा दी है। प्रवेश व निग्रह दोनों ही तान-क्रियाएं अधिकतर मध्य स्वर-सप्तक में ही की जाती हैं और इस प्रकार गायन-वादन-क्रिया को मनोरञ्जक बनाया जाता है।

भरत मुनि ने षड्ज ग्राम की ७ मूर्छनाओं व मध्यम ग्राम की ७ मूर्छनाओं में स्वर-प्रस्तार अथवा तानों के प्रकार बताये हैं। प्रत्येक मूर्छना में एक-एक स्वर क्रमशः वर्जित करके सात स्वर के स्थान पर छः स्वर की मूर्छना के निर्माण से तान का रूप स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार षड्ज ग्राम में षाडव अर्थात् छः स्वरों वाली मूर्छनाओं अथवा तानों के भरत ने २८ रूप बताये हैं। इसी सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भरत मुनि ने तानों की संख्या इस प्रकार दी है:—

(१)	षडज ग्राम की षाडव जाति की तानें	अट्ठाईस	२८
(२)	षडज ग्राम की औडव तानें	इक्कीस	२१
(३)	मध्यम ग्राम की षाडव तानें	इक्कीस	२१
(४)	मध्यम ग्राम की ओडव तानें	चौदह	१४
		योग	८४

इस प्रकार षड्ज ग्राम की षाडव-ओडव तानें ४९ व मध्यम ग्राम की षाडव-ओडव तानें ३४ मिला कर कुल ८४ तान-प्रकार बताये गये हैं।

भरतकालीन तान-प्रस्तार की प्रक्रिया को आज के तान-प्रस्तार का मूल माना जा सकता है। प्रवेश तान-क्रिया 'सा रे ग म' व 'म ग रे सा' व इनके आरोही-अवरोही के संयोग "सा रे ग म—म ग रे सा" आज भी प्रयुक्त होते हुए दिखाई देते है। अर्थात् यह सरल प्रक्रिया हुई। "निग्रह" तान-क्रिया में सा-म व म-सा का संयोग इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि स्वरों के लोप अथवा वर्ज्यावर्ज्यों द्वारा तान-प्रस्तार में सरलता के अतिरिक्त अन्य प्रक्रियाएं भी प्रयुक्त होकर तानों का निर्माण होता है। अतएव तान-प्रस्तारों का विकास होता गया व आज तानों के "शुद्ध व कूट" दो प्रकार दिखाई दे रहे हैं, जिन्हें भरत कालीन प्रवेश व निग्रह तानों का ही परिवर्तित व विकसित रूप कहा जाये तो अनुचित नहीं होगा।

शुद्ध तानों के अन्तर्गत सरल एवं रागांग तानो को अंकित किया जाता है। सरल अथवा सपाट तान "सारेगम-पधनिसं निध पम गरेसा" कही जाती है व इसमें रागोचित स्वरों के सरल आरोही-अवरोही को क्रम से प्रयोग करते समय अवरोही क्रम के प्रथम स्वर की द्विरुक्ति भी की जाती है। ऐसी तान-क्रिया में तान का सरल रूप नष्ट नही होता है। किसी स्वर विशेष की द्विरुक्ति से तान-क्रिया विशेष मनोरंजक हो जाती है। केवल सरल आरोही-अवरोही "सारेगसगरेसा" के स्थान पर "सा रे

ग म म ग रे सा" में अवरोही क्रम के प्रथम स्वर की द्विरुक्ति करने से तान की स्पष्टता अधिक होती है व गायन में कंठ को विशेष रीति से मोड़ने का अभ्यास भी मिलता है। कहते हैं कि इस प्रकार की स्वरों की द्विरुचि से तान मे "दाना" दिखाई देता है व सांगीतिक भाषा मे तान दानेदार बनती हैं जो तान की एक विशेषता समझी जाती है। ऐसी तान को रागांग तान कहते है। अर्थात् शुद्ध तान के अन्तर्गत सरल-सपाट व रागांग तानों को समाविष्ट किया जाता है।

सरल तानों के प्रकारों में "सट्टे" की तान का भी एक प्रकार है जो केवल अवरोही क्रम से ही प्रयोग में आता है। जैसे—मगरेसा, पमगरेसा, धपम गरेसा, नीधपमगरेसा आदि। इस प्रकार की "सट्टा" तान के गायक-वादक अधिकतर ख्याल अथवा गत का मुखड़ा लाने के पूर्व इसे प्रयोग में लाते है व सम पर आकर मिलते हैं, जिससे तान, मुखड़ा व सम आदि में एक विचित्र एव मनोरंजक कौशल दिखाई देता है।

सरल व रागांग अर्थात् शुद्ध तानों के प्रकारो के अतिरिक्त दूसरा तान-प्रकार कूट तानों का है। कूट तान में स्वरों के प्रयोग में तान की सरलता अर्थात क्रम नही दिखाई देता है किन्तु उसमें सरलता के स्थान पर कूटता अर्थात स्वरों के फेर-बदल द्वारा विभिन्न स्वर-समूहों की रचना होती है।

शुद्ध तानों के अन्तर्गत आने वाली सरल एवं रागांग तानों की प्रक्रिया में तान की एक सरल रेखा सा रे ग म प म ग रे सा दिखाई देती है किन्तु कूट तानों के अन्तर्गत इस सरल रेखा के स्थान पर स्वर-समूहों के चक्र दिखाई देते हैं। इस प्रकार की तान को फिरत तान भी कहते हैं। पूर्व में कहा गया है कि तान-प्रक्रिया का क्षेत्र साधारण रूप में मध्य सप्तक रहता है उसका अर्थ वह नही है कि मन्द व तार सप्तक के क्षेत्र में तान-प्रक्रिया होती हो नही। रागोचित चलन की दृष्टि से मंद्र सप्तक व तार सप्तक क्षेत्र का भी उचित प्रयोग तान-प्रक्रिया में किया जाता है, फिर भी साधारणतया कंठ-क्षेत्र की दृष्टि से मंद्र व तार सप्तक-क्षेत्र की अपेक्षा मध्य सप्तक-क्षेत्र ही अधिक प्रयुक्त किया जाता है। अधिकतर फिरत तानों का प्रारंभ मध्य सप्तक के स्वर से किया जाता है, जैसे"गमगरे, गमपमगरे, गमपधपपगरे", आदि।

फिरत तान के पश्चात् वक्र, गरेपग, पमगगरे, ममग, पपम, इस प्रकार वक्र आलंकारिक या सरल आलंकारिक सारे, रेग, गम, या सारेग, रेगम, गमप, ऐसी आरोही-अवरोही क्रम की तानें गायी जाती हैं। सरल अलंकारिक या वक्र आलंकारिक तानें कूट तानों के अन्तर्गत अकित की जाती हैं। तान वक्र या सरल या आलंकारिक हो उसकी रचना में गायक-वादक की कल्पना-शक्ति व रचना-कौशल का परिचय मिलता है। ऐसी तानें अति मनोरंजक होती हैं। गमक एवं कंपन युक्त तान सरल आरोही-अवरोही क्रम में भी प्रयुक्त की जाती है व अलंकारों द्वारा भी गायी जाती है। ऐसी तान-प्रक्रिया में एक ही स्वर के स्थाय वर्ण उच्चारण अर्थात् एक ही स्वर

की द्विरुक्ति-त्रिरुक्ति करके कंठ की विशिष्ट शैली गायन किया जाता है। ऐसी तानों को गमक-तानें कहते हैं।

तानों का एक विशिष्ट प्रकार बोल-तान भी है। बड़े ख्याल वा छोटे ख्याल के गीत के बोलों को स्वरों में निबद्ध करके इनकी रचना की जाती है। बोल-तानों की सरल व रागांग तानों की रचनाएं गायी जाती हैं व कूट तानों अर्थात् आलंकारिक मुरकी व खटकेयुक्त तानों की भी रचनाएं गायी जाती हैं। बोल-तानें आकार में नही गाई जाती है अपितु उन्हें गीत के शब्दों के माध्यम से गाया जाता है।

तानें शुद्ध हों या कूट, उनके उचित प्रयोग हेतु कंठ के विशेष अभ्यास की आवश्यकता होती है। तानों को परिश्रम पूर्वक उचित अभ्यास से कंठ में आवश्यक गुण, कंठ स्वाधीनता, रुचि-वैशिष्ट्य एवं श्वास-दमन, आते हैं और इससे ख्याल-गायन रुचिकर होता है। ख्याल-गायन ऐसी विभिन्न प्रकार की शुद्ध एवं कूट तानों द्वारा राग का विस्तार करते हैं अर्थात् राग के विकास, कलात्मक अभिव्यक्ति एवं स्वरूप-निर्देशन में तान-प्रक्रिया का महत्वपूर्ण स्थान है। तानों के विशिष्ट प्रकारों के प्रयोग से ख्याल-गायकी के विभिन्न घरानों का भी संकेत मिलता है। ख्याल-गायकों के विभिन्न घराने आज भी तानों की अपनी-अपनी विशिष्टता लिये हुए है और सरल, सपाट, रागांग, फिरत, वक्र, आलंकारिक, गमक, कंपन और छोटी-छोटी मुरकियां व खटकों से युक्त तान, जबड़ा-तान, सट्टा आदि तानों का प्रदर्शन करते हुए दिखाई देते हैं।

पूर्व में कहा गया है कि तान द्वारा ख्याल-गायकी में राग का विस्तार होता है; किन्तु ख्याल-गायकी में राग का सम्पूर्ण स्वभाव-चित्रण, रसभावानुभूति एवं आनन्द लाभ उचित आलापों द्वारा ही होता है। ख्याल-गायकी में आलाप-प्रक्रिया द्वारा "रंजयति इति राग." इस उद्देश्य की पूर्ति होती है। तान-प्रक्रिया की दृष्टि से उसका स्थान यहां गौण समझना चाहिए। क्योंकि तान-क्रिया का अधिक प्रयोग राग-सौंदर्य, राग-माधुरी एवम् रागरसानुभूति के लिए विशेष सहायक नही होता है। तान-प्रक्रिया रंजनात्मक है। किन्तु रंजनात्मक प्रक्रिया एक विशिष्ट शैली है। उसका प्रयोग उचित मात्रा में, उचित शैली में, उचित क्षेत्र व समय विशेष में होने से ही ख्याल-गायन सफल होता है व "रंजयति इति रागः" यह संगीत का उद्देश्य साध्य होता है।

अध्याय ७

हिन्दुस्तानी एवं कर्नाटकी ताल-पद्धतियों का तुलनात्मक विवेचन

प्रचलित हिन्दुस्तानी एवं कर्नाटकी ताल-पद्धतियों का विवरण देने के पूर्व वैदिक एवं प्राचीन काल मे ताल-पद्धति की क्या भूमिका थी, इसका संक्षेप में अवलोकन करना अनुचित न होगा। वैदिक काल में सामवेद की ऋचाओं का गायन छंदोबद्ध था अर्थात् ऋचाये निश्चित अक्षर संख्याओं में निबद्ध होती थी, जिन्हें छंद कहा जाता था। वैदिक ऋचाओं को गाने के निम्न सात छंद पाये जाते हैं, जिनकी अक्षरसंख्या निश्चित थी :—

(१)	गायत्री छंद	२४ अक्षरयुक्त
(२)	उष्णिक छंद	२८ ,,
(३)	अनुष्टुप छंद	३२ ,,
(४)	वृहती छंद	३६ ,,
(५)	पंक्ति छंद	४० ,,
(६)	त्रिष्टुप छंद	४४ ,,
(७)	जगती छंद	४८ ,,

आगे चलकर ये छंद ८० अक्षरो तक बढ़ाये गये पाये जाते है। उपर्युक्त निश्चित अक्षर-संख्या से यही ज्ञात होता है कि विभिन्न प्रकार की ऋचाएं विभिन्न प्रकार के छंद-वृत्त में गाई जाती थी अर्थात् ऋचाओं का निश्चित छंद एक निश्चित समयावधि में आवृत्त होता था। इससे यह स्पष्ट होता है कि ऋचाओ की स्वर-बंदिश निश्चित थी, उनके अक्षर निश्चित थे व उनके गायन करने की समयावधि निश्चित थी। वैदिक काल मे इस प्रकार ऋचा-गायन छंदबद्ध था जिसमें ह्रस्व-दीर्घ मात्राओं का निश्चित उच्चारण निश्चित समयावधि में किया जाता था। अर्थात् वैदिक ऋचाएं जिस प्रकार से स्वर छंदोबद्ध थी उसी प्रकार से आज के गीत की बंदिश भी स्वर-तालबद्ध व निश्चित रहती है। वैदिक ऋचाओं की छंदोबद्धता को साधारण रूप में उनकी ताल बद्धता स्वीकारना अनुचित न होगा।

वैदिक काल के पश्चात् भरत-काल में "ताल" शब्द प्रचार में आया व भरत ने ताल, काल, कला, लय (गति) आदि विषयों का विवेचन किया। ताल के मात्रा, लय एवं क्रिया तीन प्रमुख लक्षण बताये गये हैं।

हाथ द्वारा ताल-क्रिया किस प्रकार दी जाती थी इसका वर्णन भरत ने किया है जिसमें ताली अर्थात् सशब्दपात-क्रिया व खाली अर्थात् निःशब्द पातक्रिया कब व कैसे दी जानी चाहिए, यह स्पष्ट किया गया है।

(१) ध्रुवा (२) शम्या (३) ताल एवं (४) सन्निपात, ये ताल क्रियाएं चर्चित हुई हैं।

(१) ध्रुवा ताल-क्रिया यानी सीधे हाथ से चुटकी बजाने की क्रिया।
(२) शम्या ताल-क्रिया में सीधे हाथ के पंजे द्वारा उलटे हाथ के पंजे पर ताली।
(३) ताल-क्रिया यानी उलटे हाथ के पंजे से सीधे हाथ के पंजे पर ताली।
(४) सन्निपात यानी दोनों हाथ के पंजे सामने रखकर दोनों को सशब्द जोड़ देने से जो ताली होती है।

आज कर्नाटक एवं हिन्दुस्तानी संगीत की ताल-पद्धतियों में भी सात क्रियाए कुछ कुछ उक्त क्रियाओं पर आधारित प्रतीत होती हैं।

आज प्रचलित कर्नाटकी ताल-पद्धति ताल चिह्नों की दृष्टि में भरत कालीन ताल-चिह्नों के समान प्रतीत होती है। कर्नाटकी ताल-पद्धति में आज लघु, गुरु, प्लुत, द्रुत, एवं अणुद्रुत चिह्न दिखाई दे रहे हैं, किन्तु हिन्दुस्तानी ताल-पद्धति में इन चिह्नों के नामों का प्रयोग दिखाई नहीं देता है। उनके स्थान पर दो मात्राएं, चार मात्राएं ऐसा प्रयोग है तथा संनिपात, अवाप जैसी कर्नाटकी ताल-क्रियाओं के शब्दो के स्थान पर ताली, खाली आदि शब्द-प्रयोग-प्रचार में हैं। उपर्युक्त दोनों ही ताल-पद्धतियों को स्पष्ट रूप में समझने हेतु उनमें प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक शब्द एवं उनकी संक्षिप्त परिभाषाएं व ताल-लिपि आदि पर पृथक्-पृथक् विचार करना चाहिए।

हिन्दुस्तानी ताल-पद्धति

हिन्दुस्तानी ताल-पद्धति में प्रचलित पारिभाषिक शब्दो की परिभाषाएं :—

ताल

"वाद्यं तुर्याननं प्रोक्तं कला पातलयान्वितम्" इस भरतोक्ति का स्पष्ट भावार्थ जो आज प्रचार में है वह यह है कि कला (मात्रा) एवं लय (गति) युक्त गीत अथवा गत-रचना के गायन अथवा वादन की कालावधि के निर्धारण को ताल कहते है। अर्थात् संगीत में गीत अथवा गत के प्रत्येक चरण की अथवा आवृत्ति की निश्चित सीमा बद्धता को ताल कहते हैं। भरत ने ताल के मात्रा, लय एवं क्रिया ऐसे तीन प्रमुख लक्षण बताये हैं व उसी के आधारस्वरूप ताल के दश लक्षण अर्थात् दश प्राण अधिक विस्तृत रूप में आज विकसित हैं :

"ताल के दश प्राण" को यों पारिभाषित किया गया है :—

काल मार्ग क्रियांगानि ग्रह जाति कलालयः यति प्रस्तारकोः उक्तः तालप्राणो दशस्मृताः ।।

अर्थात् (१) काल, (२)मार्ग, (३) क्रिया, (४) अंग, (५) ग्रह,(६) जाति, (७) कला, (८) लय, (९) यति एवं (१०) प्रस्तार—ये ताल के दश लक्षण अथवा प्राण कहे जाते हैं। इनका संक्षेप में वर्णन निम्नांकित है :—

१. काल

काल का अर्थ अवधि, समय अथवा अवकाश होता है। गायन, वादन एव नर्तन में उसके विभिन्न भागों के प्रस्तुतीकरण में निश्चित परिमाण में जो अवधि, समय या काल व्यतीत होता है, उसे काल कहते है। संगीत में ताल से ही काल की सीमा निश्चित होती है। ताल व काल परस्परावलंबित हैं। काल को आज निःशब्द घात क्रिया अथवा खाली कहते हैं जिसे प्रचलित पद्धति में मात्रा के नीचे शून्य द्वारा बताया जाता है।

२. मार्ग

ताल का मार्ग अर्थात् रास्ता। इसमें मात्राओं की निश्चित इकाई मानकर उसके सम परिमाण में ताली किस मात्रा पर तथा खाली किस मात्रा पर यह बताया जाता है। हिन्दुस्तानी प्रचलित त्रिताल की मात्राएं सोलह इकाई की मानी जाती हैं। ऐसी अवस्था में एक मात्रा से सोलह मात्रा तक की सीमा को मार्ग कहते हैं।

३. क्रिया

कार्य अर्थात् काम से क्रिया शब्द उत्पन्न हुआ है, इसलिए कोई भी काम करने को क्रिया कहा जाता है। ताल की क्रिया में ताल एवं काल अर्थात् ताली देना व खाली देना ये दो क्रियाएं इसके अन्तर्गत आती है, जिन्हें सशब्द पातक्रिया तथा निःशब्द पातक्रिया कहा जाता है। सशब्द पातक्रिया में ध्रुवा, शम्या, ताल एव सन्निपात—ये ताली बजाने की संकेत स्वरूप क्रियाएं अंकित की जाती हैं, जिनका वर्णन पूर्व में किया गया है। निःशब्द पातक्रिया में भी आवाप, निष्काम, विक्षेप, एवं प्रवेश—ये चार क्रियाएं खाली बताने के संकेत स्वरूप बताई गई हैं। इन क्रियाओं में कोई भी ध्वनि सुनाई नहीं देती है। इसी कारण इसे खाली अर्थात् निःशब्द या शब्दहीन पात यानी पतनक्रिया कहते है।

आवापः—पतन-क्रिया में सीधे हाथ के पंजे के मध्य भाग में एक एक अंगुली को समेट के गिनती करते है, जिससे मुठ्ठी भर जाने का आभास हो।

निष्काम क्रिया में उसी आवाप स्थिति के हाथ को उलट देते है।

विक्षेप क्रिया में निष्काम क्रिया की स्थिति वाले हाथ को अपनी दाई ओर फेंकते है। प्रवेश क्रिया में विक्षेप स्थिति वाले हाथ को पूर्व स्थान पर लाकर अंगुलियों

को क्रमवार खोलते हैं। आज भी खाली देते समय सीधे हाथ के पंजे को बाये हाथ के कुछ नीचे करके अंगुलियों से गिनती द्वारा खाली की क्रिया बताई जाती है।

४. अंग

ताल सम परिमाण में निश्चित मात्राओं की एक इकाई माना जाता है, जिनकी मात्राएं निश्चित संख्या में मर्यादित होती हैं। इन निश्चित मात्राओं का किसी ताल में सम विभाजन होता है और पुनः किसी ताल में मात्राओं का विभाजन विषय-प्रमाण में होता है। ऐसे विभाजन को ताल-अंग अथवा विभाग कहते हैं, जैसे त्रिताल के चार भाग है। इन अंगों के नाम, मात्रा व चिह्न प्रचलित तालों के संस्कृत श्लोकों में पाये जाते है। इनके अंगों के नाम, मात्रा व चिह्न-संकेत निम्नांकित है :—

मात्रा सख्या	चिह्न नाम	चिह्न संकेत
१	विराम	⌣
२	द्रुत	०
४	लघु	।
८	गुरु	ऽ
१२	प्लुत	३
१६	काकपद	+

हिन्दुस्तानी ताल-वर्णन के संस्कृत श्लोकों में मात्रा-संख्याओं के संकेत स्वरूप उक्त नामों का ही प्रयोग किया गया है। उक्त चिह्न-नामों में ३, ५, ६, ७, ९, १०, ११ आदि संख्याओं के संकेत नाम चिह्नों का स्पष्टीकरण नहीं हैं। अतएव उक्त संख्याओं के संकेत हेतु इन्ही चिह्नों में से व नामों में से उपयोग करके संख्यापूर्ति की जाती है। जैसे तीन संख्या-को द्रुत विराम कहकर बताया जाता है। ताल-मात्राओं की विभाजित स्थिति के स्पष्टीकरण को ताल का अंग कहते है।

५. ग्रह

जहाँ से ताल प्रारंभ होता है उस स्थान को "ग्रह" कहते है। गीत अथवा गत का आरंभ एक साथ होना ताल का प्रथम प्रारंभ होना या गीत के पश्चात् होना ऐसी विविधताए "ग्रह" में पायी जाती है, इन विविधताओ के भरत मुनि ने ताल-विधान में निम्नाकित विविध प्रकार बताये हैं :—

१. समपाणि

गीत अथवा गत एवं ताल का एक साथ प्रारभ करना।

२. उपरिपाणि

गीत की अथवा गत की कुछ मात्राओ के पश्चात् ताल प्रारंभ करना।

३. अवपाणि

ताल प्रारंभ होने के पश्चात् गीत का प्रारंभ करना।

४. अर्धपाणि

गीत का आधा भाग होने के पश्चात् ताल का आरंभ होना।

भरतकालीन उपर्युक्त "ग्रह" योजना प्रचलित ताल-पद्धति में दिखाई नहीं देती है। प्रचलित संगीत में गीत या गत किसी विवक्षित मात्रा से प्रारंभ होकर जब सम पर अर्थात् ताल की प्रथम मात्रा पर गाई बजाई जाती हैं, उसी क्षण तबले में ताल प्रारंभ की जाती है। किन्तु 'ग्रह' योजना परिवर्तित रूप में आज भी प्रचलित है, जैसे :—

(१) सम :—गायन-वादन की सम अर्थात् प्रथम मात्रा व तबला अथवा मृदंग की प्रथम मात्रा एक ही साथ आती है, उसे 'सम' ग्रह कहा जाता है।

(२) विषम :—गायन व वादन में यह कौशल्य दिखाया जाये कि तबले की सम पर गीत अथवा वाद्य के सम का स्पष्टीकरण न हो सके। अर्थात् सम को अपने गायन अथवा वादन में गीत अथवा गत के समवाले अक्षर या स्वर को छुपाया जाये, ऐसी स्थिति को 'विषम' ग्रह कहा जा सकता है।

(३) अतीत :—तबला अथवा मृदंग की सम व्यतीत होने पर ताल की दूसरी मात्रा पर गीत अथवा गत के सम के अक्षर अथवा स्वर को बताना। इस स्थिति को 'अतीत' ग्रह कहा जा सकता है।

(४) अनाघात :—अन्+आघात ग्रह-योजना, न आई हुई सम अर्थात् पश्चात् आने वाली सम की मात्रा। जैसे तबले पर जो ताल बज रही है उसकी एक आवृत्ति पूर्ण न होकर उसकी अन्तिम मात्रा पर गीत या गत की प्रथम अर्थात् सम वाले अक्षर या स्वर की कौशल पूर्वक योजना में तबले की सम गीत अथवा गत की सम के एक मात्रा पश्चात् आती है। इसे 'अनाघात' ग्रह स्थिति कहा जा सकता है।

इस प्रकार की ग्रह योजनाये ध्रुवपद एवं धमार गायकों द्वारा आज भी प्रदर्शित की जाती है। कतिपय कुशल ख्याल-गायक भी सम बताने हेतु उक्त चारों ढग, कौशल पूर्वक, प्रस्तुत करते हुए दिखाई देते हैं। अतएव भरतकालीन चार ग्रहों का आज प्रचलित शास्त्रीय पद्धति में भी विशिष्ट एवं परिवर्तित रूप में प्रदर्शन हो रहा है, यह स्पष्ट है।

६. जाति

किसी ताल के भागों में मात्रा-संख्याये समान होती है व किसी अन्य ताल के भागों में मात्रा-संख्यायें विषम होती है। इन्हीं मात्रा-संख्याओं के वजन पर ताल की लय निर्भर करती है। इसी को जाति कहते है। ये जातियां चतस्त्र, तिस्त्र, मिश्र, खण्ड एवम् संकीर्ण पांच प्रकार की बताई गई हैं। इन जातियों का कर्नाटक

ताल-पद्धति में एक महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु हिन्दुस्तानी ताल-पद्धति में इसका महत्व कर्नाटक पद्धति की अपेक्षा गौण माना गया है। ताल की सम प्रमाणता या विषम प्रमाणता निश्चित रहने से हिन्दुस्तानी ताल-पद्धति में जाति का महत्व गौण हो जाता है।

रंगमंच पर विभिन्न प्रकार के नाट्य-पात्र गायन करते थे व उनके गायन के बीच के अवकाश मे तत्र वाद्य-वादन में जिस प्रकार के स्वर-बोल बजाये जाते थे, उनके साथ समरस समलय एव सुसम्वाद करने वाले बोल मृदंग पर बजत थे, ऐसी व्यवस्था भरत ने नाट्यशास्त्र में की है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत भरत ने ताल-वाद्य की १८ जातियां बताई हैं। उनका विस्तृत वर्णन देने की अपेक्षा एक उदाहरण प्रस्तुत करने से जाति के गायन एवं तंत्रवादन की सुसंवादित संगत की कल्पना का आधार प्राप्त होता है। भरत की अठ्ठारह जातियों में शुद्धा जाति मे एकाक्षरी बोलों की सम परिमाण लय रखी जायेगी किन्तु सम-विषमा जाति में द्रुत एवं मध्य लय के मिश्रित बोल मृदंग पर बजाये जाने चाहिए। उक्त आधार से यह स्पष्ट हो जाता है कि ताल के 'जाति' लक्षण का भी एक स्वतन्त्र महत्व है और उसमें सम-विषम मात्रा-सख्याओं के विभाजन में ताल के बोलों का भी अपना एक स्वतन्त्र महत्व होता है।

७. कला

साधारण रूप मे कला शब्द का ताल-विधान की दृष्टि से पारिभाषिक अर्थ मात्रा लिया जाता है। दो मात्राओं के बीच आठ कलाओं का अवकाश बताया गया है व पांच निमिष की एक कला बताई गई है। इस सम्बन्ध में परिमाण यह है :—

१०० कमल-पत्रों में सुई डालने मे लगने वाला समय	१ क्षण
आठ क्षण	१ काष्टा
आठ काष्टा	१ निमिष
पांच निमिष	१ कला

उपर्युक्त परिमाण से कला एवं मात्रा के बीच के समयावकाश की साधारण कल्पना की जाती है। मृदग व तबला-वादन में कला का विशिष्ट अर्थ भी लगाया जाता है। वादन करते समय हाथ की विविध क्रियाएं होती रहती हैं; किसी क्षण दायां हाथ सम्पूर्ण रूप में झुका हुआ लगता है, दूसरे क्षण वही हाथ मृदंग अथवा तबले से चिपका हुआ लगता है, अन्य क्षण बांया हाथ भी अनेक विभिन्न प्रकार की क्रियाएं करता रहता है। इन दोनों हाथों की इस विविध प्रकार की विविध क्रियायें कला के अन्तर्गत मानी जाती है। वस्तुतः मृदंग व तबला-वादन में कला का अर्थ मात्रा-संकेत ही समझना अधिक उचित होगा।

८. लय

'कला काल कृतोलयः", भरत मुनि ने लय की यह परिभाषा दी है। घड़ी के लंदक (Pendulum) द्वारा समान परिमाण में समय के अखण्ड गतिमापन को लय कहते है। लय साधारण रूप में तीन प्रकार की बताई जाती है, (१) विलंबित (२) मध्य एवं (३) द्रुत। विलंबित लय का अर्थ धीमी गति, मध्य लय का अर्थ साधारण गति किन्तु विलबित गति से द्विगुण एवं द्रुत का अर्थ तेज गति और मध्य से द्विगुण, ऐसा साधारण प्रमाण है। भरत काल मे गति के संकेत स्वरूप द्विकल, चतुष्कल, अष्टकल एवं द्वादशकल जैसी संज्ञाएं पायी जाती है जिनको लय-प्रकार बताया गया है। आज हिन्दुस्तानी ताल-पद्धति में विलंबित, मध्य एवं द्रुत इन प्रमुख तीन लयों के आधार पर बने अन्य अनेक लय-प्रकार दिखाई देते हैं जिनका आधार मध्य लय अर्थात् बराबर की लय का स्वीकृत प्रमाण मानना चाहिए। भरत ने भी "यस्तत्र तु लयो मध्य : तत्प्रमाण कला मतः" इस सूत्र द्वारा इसकी पुष्टि की है। विभिन्न लयो के प्रकारों को सोदाहरण स्पष्ट करने हेतु हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति का ६ मात्राओ वाला ताल दादरा लिया जाये तो उसमें विभिन्न लय-प्रकार निम्नांकित रूप में स्पष्ट हो सकते हैं :—

दादरा ताल ६ मात्राएं

(१) मध्य अर्थात् बराबर की लय

१	२	३	४	५	६
×			०		

इसमें। मात्रा मे एक ही मात्रा बोली जायेगी।

(२) द्विगुण अर्थात् दुगुन जिसमें एक मात्रा-काल में दो मात्राओं को बोलना जैसेः—

१२	३४	५६	१२	३४	५६
×			०		

(३) चौगुन जिसमें एक मात्रा में चार मात्राओं को सम्मिलित करके सम तक बोलते जायें जैसे .—

१२३४	५६१२	३४५६	१२३४	५६१२	३४५६
×			०		

(४) तिगुन अर्थात् एक मात्रा में तीन मात्राएं बोलनी चाहिए जैसे :—

१२३	४५६	१२३	४५६	१२३	४५६
×			०		

इन लयों के अतिरिक्त आड, कुआड तथा बियाड लयकारियां भी आज प्रचार में हैं।

अधिक उचित होगा। जिस प्रकार गीत-गायन में राग का विस्तार आलाप, तान आदि माध्यमों द्वारा किया जाकर राग को एवं गीत को रंजक बनाया जाता है उसी प्रकार ताल में कायदा, बोल, पलटे, मुखड़े, टुकड़े, परण व उसके विभिन्न प्रकार तथा विभिन्न लयकारियों आदि का प्रदर्शन किया जाकर ताल-वादन मनोरंजन बनाया जाता है। इस प्रकार ताल को विभिन्न रूपों में सजाया जाता है व उसे विभिन्न अलंकारों से विभूषित करके चित्ताकर्षक बनाया जाता है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत, चाहे कर्नाटक पद्धति का हो अथवा हिन्दुस्तानी पद्धति का, में ताल की इकाई (unit) प्रमुख महत्त्व की समझी जाती है। लय, प्रस्तार, ताल के मुखड़े, परण आदि दोनों पद्धतियों में समान रूप से पाये जाते है किन्तु पृथक्-पृथक् दो पद्धतियाँ होने से उनकी नाम-संज्ञाये आज भिन्न दिखाई देती है। वादन-कौशल के उपकरण भिन्न भिन्न होने से वादन-शैलियाँ भी विभिन्न दिखाई देती हैं।

हिन्दुस्तानी तालों के बोलाक्षरों के सम्बन्ध में यह पाया जाता है कि उनमें अधिकतर जो बोलाक्षर दिखाई देते है, उनका आधार प्राचीन मृदंग-वादन के बोल है। प्राचीन मुख्य अक्षर क, ख, ग, घ, ट, ठ, ड, ण, त, थ, द, ध, द, र, ल, ह, सोलह बताये गये है। उपर्युक्त सोलह अक्षरों में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ एव अः—ये स्वर मिलाये जाकर स्वर युक्त बोल बजाये जाते थे! इसके पश्चात् स्वरवर्णयुक्त कतिपय संयुक्ताक्षरों का प्रयोग भी किया जाता था। जैसे :—कं, धं, त्र, ते, ध्णं, वड आदि।

हिन्दुस्तानी ताल-पद्धति मे अधिकतर ख्याल-गायन के साथ तबले की संगत होती है। आज तबला-वादन मे उक्त बोलों के आधार पर धा, ता, तू, ना, धि, ति, वड, ता, धे, तिरकिट आदि अक्षरों एवं संयुक्ताक्षरों द्वारा बोलों का निर्माण किया गया है और उन्ही के आधार पर विभिन्न ठेके, कायदे, मुखड़े, टुकड़े, प्रकार-बोल, परन, रेले आदि की रचनाएँ बनाकर वादन को मनोरंजक किया जाता है।

हिन्दुस्तानी तालों में तिलवाडा, एक ताल, झूमरा, त्रिताल, रूपक, आडाचौला एवं झपताल आदि ताल ख्याल-गायन के साथ तबला एव डग्गा द्वारा बजाये जाते है अन्य ताल चौताल, सूलताल, ब्रह्म, मत्त, तीव्रा जैसे ताल ध्रुवपद-गायन के साथ मृदंग अथवा पखावज पर बजाये जाते है। बोलों की विभिन्नता के कारण स्पष्ट उच्चारण हेतु यह माध्यम भिन्न भिन्न करना पड़ा। कतिपय बोल तबले व डग्गे पर स्पष्ट उच्चारित हो सकते हैं व अन्य शेष व विशिष्ट बोल मृदंग अथवा पखावज पर स्पष्ट रूप मे उच्चारित हो सकते है।

हिन्दुस्तानी ताल-लिपि में निम्नांकित संज्ञाएं एवं चिह्न हैं जिनके द्वारा ताल लिपिबद्ध किये जाते हैं :—

(१) विभाग:—मात्राओं का सम अथवा विषम विभाजन खड़ी रेखाओं द्वारा बताया जाता है। जैसे १२३४ | ५६७८ | जिसमें चार-चार मात्राओं के विभाग है।

(२) सम.—यह प्रत्येक ताल की प्रथम मात्रा पर होती है व हिन्दुस्तानी ताल-पद्धति में प्रत्येक ताल प्रथम मात्रा से ही आरम्भ किया जाता है। इसका चिह्न गुणाकार × है। सम पर हमेशा ताली ही बजाई जाती है।

(३) ताली:—सम के पश्चात् ताल के कतिपय अन्य भागों में ताली बजाने के सकेत चिह्न है व सम के प्रथम ताल की अतिरिक्त अन्य तालियों को क्रमशः दूसरी, तीसरी एवं चौथी तालियो को २, ३, ४, इन अंकों द्वारा बताया जाता है, जैसे:—

१२३४	५६७८	९१०१११२	१३१४१५१६
×	२	०	३

उक्त ताल मे सम १ मात्रा पर, २ री ताली ५वी मात्रा पर व तीसरी ताली तेरहवी मात्रा पर स्थित है।

(४) खाली अथवा काल:—इसमें ताली के स्थान पर जो क्रिया की जाती है उसे नि.शब्द पातक्रिया कहते है अर्थात् ताली न बजाई जाकर दाहिना हाथ बाये हाथ की अपेक्षा थोड़ा नीचा करके अंगुली द्वारा मात्राओं को प्रकट किया जाता है। इसे काल या खाली कहते हैं जिसका चिह्न शून्य होता है। उपर्युक्त १६ मात्राओ की ताल-लिपि में तीसरे विभाग की प्रथम मात्रा ९वी के नीचे खाली का चिह्न बताया गया है।

(५) विराम:—यह अर्धचंद्राकार जैसा चिह्न एक से अधिक मात्राओं को सम्मिलित करके एक मात्रा काल मे बोलने का संकेत-चिह्न है, जैसे
१२ ३४ ५६ आदि।

हिन्दुस्तानी ताल-पद्धति के सम्बन्ध में ताल-नियम, ताल के दश लक्षण, स्वर युक्त बोल, परण आदि जो आधारभूत तथ्य उपर्युक्त वर्णन में प्रस्तुत किये गये है वे ही साधारणतया कर्नाटकी ताल-पद्धति में आधार स्वरूप माने जाते है। हिन्दुस्तानी ताल-पद्धति मे तालों की सख्या असीमित सी बताई जाती है, किन्तु कर्नाटकी ताल-पद्धति में तालों की संख्या सीमित है व ताल-लिपि एवं चिह्न संज्ञाएं भिन्न है।

कर्नाटकी ताल-संख्या देने के पूर्व उक्त पद्धति के ताल संकेत, स्वरूप, सज्ञाएँ एवं चिह्नों के सम्बन्ध में निम्नांकित तथ्य दिये जा रहे है.—

संज्ञा	चिह्न	मात्रा सख्या
१—विराम	‿	१ मात्रा
२—द्रुत	०	२ मात्राए
३—लघु	।	४ ,,
४—गुरु	ऽ	८ ,,
५—प्लुत	३	१२ ,,
६—काकपद	+	१६ ,,

सम्पूर्ण कर्नाटकी ताल-पद्धति को उपर्युक्त चिह्नों का प्रचार है व ताल उपर्युक्त चिह्नों द्वारा लिपिबद्ध किये जाते हैं।

कर्नाटकी अथवा दक्षिणी ताल-पद्धति में निम्नांकित मुख्य सात ताल हैं :

(१) ध्रुव (२) मठ, (३) रूपक, (४) झंप, (५) त्रिपुट, (६) अठ एवं (७) एक ताल

उपर्युक्त मुख्य तालों की निम्नांकित विभिन्न जातियों के आधार स्वरूप ताल-संख्या विस्तृत की गई है :—

[१] चतस्र जाति [२] तिस्र जाति [३] मिश्र जाति,[४] खण्ड जाति एवं [५] संकीर्ण जाति।

उपर्युक्त पाँच जातियों के आधार पर प्रत्येक ताल की पांच जातियां मानी जाकर ७ × ५ = ३५ ताल-प्रकार बने हैं, जिनमें जाति बदलने पर ताल की मात्रा-संख्या कम या अधिक होती है व उसी के अनुसार ताल-विभागों में मात्रा संख्याए घटती बढ़ती हुई दिखाई देती है। इसकी स्पष्टता निम्नांकित मानचित्र द्वारा की जा रही है :—

क्रमांक	तालनाम	चतस्र जाति	तिस्र जाति	मिश्र जाति	खंड जाति	संकीर्ण जाति
१.	ध्रुव	४,२,४,४	३,२,३,३	७,२,७,७	५,२,५,५	९,२,९,९
२.	मठ	४,२,४	३.२,३	७,२,७	५,२,५	९,२,९
३.	रूपक	४,२	३,२	७,२	५,२	९,२
४.	झंप	४,१,२	३,१,२	७,१,२	५,१,२	९,१,२
५.	त्रिपुट	४,२,२	३,२,२	७,२,२	५,२,२	९,२,२
६.	अठ	४,४,२,२	३,३,२,२	७,७,२,२	५,५,२,२	९,९,२,२
७.	एक ताल	४	३	७	५	९

इस ताल-पद्धति में उपर्युक्त चिह्नों द्वारा प्रत्येक ताल को इस प्रकार लिखा जायेगा।

क्रमाक	ताल नाम	तालचिह्न	चिह्न स्पष्टीकरण	मात्रा संख्या
१.	ध्रुव ताल	।०।।	लघु, द्रुत, लघु एव पुनः लघु	१४ मात्राये
२.	मठ ताल	।०।	लघु, द्रुत, एव लघु	१० ,,
३.	रूपक	।०	लघु, एवं द्रुत	६ ,,
४.	झप ताल	।◡।	लघु, विराम, एवं द्रुत	७ ,,
५.	त्रिपुट	।००	लघु, द्रुत एवं द्रुत	८, ,,
६.	अठताल	।।००	लघु, लघु, द्रुत, एवं द्रुत	१२ ,,
७.	एक ताल	।	लघु	४ ,,

उपर्युक्त मानचित्र द्वारा यह स्पष्ट होता है कि दक्षिणी अथवा कर्नाटकी सात ताल मानचित्रों में निर्दिष्ट ताल-चिह्नों द्वारा लिखे जायेगे अर्थात् ध्रुवताल का चिह्न संकेत "।०।।" यह होगा, जिसकी परिभाषा लघु [।] द्रुत [०] लघु [।] एवं

पुनः लघु [।] लघु, द्रुत, लघु, लघु, [।०।।] यह होगी। इसी प्रकार अन्य शेष तालों की उपर्युक्त मानचित्र में वर्णित चिह्नों द्वारा निश्चित परिभाषा समझनी चाहिए।

इस ताल-पद्धति के प्रथम मानचित्र में प्रथम ताल ध्रुवताल की मात्रा-संख्या ४, २, ४, ४, कुल १४ बताई हैं, किन्तु उसी ताल मे तिस्र जाति के अन्तर्गत ये संख्याये ३, २, ३, ३ कुल ११ मानी गई हैं। अर्थात् एक ही ध्रुवताल की चतस्र जाति में ४, २, ४, ४ = १४ मात्रायें व तिस्र जाति में ३, २, ३, ३ = ११ मात्रायें होती हैं। शेष तीन जातियों में भी ताल की मात्रा-संख्या ताल के एक होते हुए भी घटती-बढ़ती क्यों हुई, यह प्रश्न स्वाभाविक है। दक्षिणी ताल-पद्धति में यह विशेषता है कि उनके लघु चिह्न-संकेत निश्चित किये हुए हैं किन्तु उसी ताल की जाति बदलने पर लघु की मात्रा संख्या में घट-बढ़ होती है जिसका कारण यही है कि इस ताल-पद्धति में जाति बदलने पर लघु की मात्रा-प्रमाण-संख्या में भेद किया जाता है। अर्थात् ध्रुवताल चतस्र जाति का रहेगा तब उसकी मात्रा संख्या ४, २, ४, ४ = १४ होगी व चिह्न संकेत लघु, द्रुत, लघु, लघु रहेगा। यहाँ लघु की मात्रा-प्रमाण-संख्या चार मानी जायेगी, किन्तु जब ध्रुवताल तिस्र जाति का होगा तब चिह्न संकेत वही चतस्र जाति वाले अर्थात् लघु, द्रुत, लघु, लघु निश्चित रूप में रहेंगे, किन्तु लघु की मात्रा-प्रमाण-संख्या चार के स्थान पर तीन समझी जायेगी व तिस्र जाति का वही ध्रुवताल उन्ही चिह्नों द्वारा (।०।। लघु, द्रुत, लघु, लघु) लिखा जाकर मात्राएं ३, २, ३, ३ = ११ होंगी। इसी प्रकार शेष अन्य जातियों में ध्रुवताल का निश्चित चिह्न ।०।। [लघु, द्रुत, लघु, लघु] वही रहेगा किन्तु उसकी जाति के अनुसार लघु की मात्रा-प्रमाण-संख्या मिश्र जाति में सात, खण्ड जाति में पाँच एवं संकीर्ण जाति में नौ होंगी। इसका स्पष्टीकरण पृष्ठ ७८ पर दिए गए मानचित्र द्वारा किया जाता है :—

इस मानचित्र से यह स्पष्ट होगा कि दक्षिणी अर्थात् कर्नाटकी ताल पद्धति में प्रमुख ताल सात है किन्तु प्रत्येक ताल की पांच-पांच जातियां होने से दक्षिणी ताल पद्धति की ७ × ५ = ३५ ताले हो जाती है। दूसरी विशेषता यह है कि ताल-चिह्न लघु गुरु, द्रुत आदि नाम-संज्ञाएं और चिह्न-संकेत जाति बदलने पर पर भी उसी निश्चित अवस्था में रहते है किन्तु जाति के अनुसार लघु की मात्रा-प्रमाण-संख्या क्रमशः चार, तीन, सात, पांच, एव नौ हो जाती है।

उपर्युक्त तालों में विभागों के बारे में यह निश्चित किया हुआ है कि जितने चिह्न होगे उतने ही विभाग होगे। जैसे ध्रुवताल, लघु, द्रुत, लघु, लघु अर्थात् ।०।। इन चार चिह्नों के संकेत स्वरूप हैं तब इस ताल के विभाग चार ही समझे जायेंगे। चतस्र जाति में ध्रुवताल इस प्रकार लिखा जायेगा :—

।०।। (लघु, द्रुत, लघु, लघु) ४, २, ४, ४

१ २ ३ ४, ५ ६, ७ ८ ९ १०, ११ १२ १३ १४

× २ ३ ४

मानचित्र

क्रमाक	ताल नाम	निश्चित चिह्न	चिह्न स्पष्टीकरण	चतस्र जाति	मात्रा संख्या	तिस्र जाति	मात्रा संख्या	मिश्रजाति	मात्रा संख्या	खंड जाति	मात्रा संख्या	संकीर्ण जाति	मात्रा संख्या
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
१	ध्रुव ताल	।०।।	लघु, द्रुत, लघु, लघु	४,२,४,४	१४	३,२,३,३	११	७,२,७,७	२३	५,२,५,५	१७	९,२,९,९	२९
२	मठ ताल	।०।	लघु, द्रुत, लघु	४,२,४	१०	३,२,३	८	७,२,७	१६	५,२,५	१२	९,२,९	२०
३	रूपक ताल	।०	लघु, द्रुत	४, २	६	३, २	५	७, २	९	५, २	७	९, २	११
४	झंप ताल	।◡०	लघु, विराम, द्रुत	४, १, २	७	३,१,२	६	७,१,२	१०	५,१,२	९	९,१,२	१२
५	त्रिपुट	।००	लघु, द्रुत, द्रुत	४,२,२	८	३,२,२	७	७,२,२	११	५,२,२	९	९,२,२	१३
६	अठ ताल	।।००	लघु, लघु, द्रुत, द्रुत	४,४,२,२	१२	३,३,२,२	१०	७,७,२,२	१८	५,५,२,२	१४	९,९,२,२	२२
७	एक ताल	।	लघु	४	४	३	३	७	७	५	५	९	९

ध्रुवताल तिस्र जाति (३, २, ३, ३)

। ० । ।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११

× २ ३ ४

इसी प्रकार शेष अन्य जातियों के अन्य ताल लिखे जायेंगे। दक्षिण अथवा कर्नाटकी ताल पद्धति में निःशब्द पातक्रिया अर्थात् खाली का चिह्न निर्दिष्ट नहीं है, किन्तु निःशब्द पातक्रिया आवाप, निष्काम, विक्षेप एवं प्रवेश-क्रियाओं द्वारा निश्चित हस्त-संकेतों से बताई जाती है। खाली बताने हेतु निश्चित चिह्न नहीं होता है।

दक्षिणी अथवा कर्नाटकी एवं उत्तरी अथवा हिन्दुस्तानी तालों में कौन सी तालें समान होती हैं, इसका विवेचन करने के पूर्व यह उल्लेख आवश्यक है कि हिन्दुस्तानी ताल को दक्षिणी ताल-लिपि में लिखते समय हिन्दुस्तानी तालों का काल अर्थात् खाली के सम्पूर्ण विभाग को उस विभाग के पूर्व विभाग में सम्मिलित करके लुप्त करना पड़ेगा, क्योंकि दक्षिणी ताल-लिपि में खाली का चिह्न-संकेत नहीं है। इसके अतिरिक्त ताल-चिह्न भी उसी प्रकार रखने होंगे जिससे विभागों का स्पष्टीकरण हो। इसका स्पष्टीकरण यों है। हिन्दुस्तानी पद्धति का १६ मात्राओं का ताल, त्रिताल, दक्षिणी ताल-लिपि में लिखना होगा तो उसकी नौवी मात्रा पर खाली होने वाला ९, १०, ११, १२, यह विभाग उसके पूर्व के ताली वाल विभाग अर्थात् ५, ६, ७, ८ मात्राओं के विभाग में सम्मिलित करके उस विभाग को चार मात्रा के स्थान पर आठ मात्रा का बनाना पड़ेगा, जैसे हिन्दुस्तानी त्रिताल सोलह मात्रा का इस प्रकार लिखा जायेगा :—

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६

× २ ० ३

खाली का विभाग दूसरी तालों के विभाग में सम्मिलित किया जाकर उसे तीन विभाग का किया गया :—

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६

× २ ३

दक्षिणी ताल-लिपि के अनुसार इस परिवर्तित ताल में हिन्दुस्तानी त्रिताल के चार-चार मात्राओं के चार विभागों के स्थान पर चार-आठ एवं चार मात्राओं के तीन विभाग खाली के विभाग को लुप्त करके किये गये हैं। इस परिवर्तित ताल को दक्षिणी ताल-पद्धति के संकेत चिह्नों द्वारा स्पष्ट करना हो तो ४, ८, ४ अर्थात् लघु गुरु, लघु ।ऽ। इस प्रकार लिखना होगा जिससे यह स्पष्ट होता है कि चिह्न-संकेत तीन अर्थात् । ऽ । हैं तो इसके विभाग भी तीन होंगे :

दक्षिणी अथवा कर्नाटकी ताल-पद्धति के नियमानुसार हिन्दुस्तानी ताल का

परिवर्तन करते समय खाली विभाग को उसके पूर्व के ताली-विभाग में सम्मिलित करते समय यदि चिह्न एक से अधिक दक्षिणी चिह्नों का प्रयोग करना पड़े तब ऐसे दक्षिणी चिह्नों को उनके माथे पर रखना चाहिए जिससे कि उस परिवर्तित ताल के विभाग अधिक न हों। जैसे हिन्दुस्तानी ताल, झपताल, का दक्षिणी परिवर्तित रूप मात्राओं के अनुसार यह होगा :—

हिन्दुस्तानी ताल झपताल मात्रा १०

१ २	३ ४ ५	६ ७	८ ९ १०
×	२	०	३

परिवर्तित दक्षिणी अथवा कर्नाटकी रूप :—

१ २	३ ४ ५ ६ ७	८ ९ १०
×	२	३

हिन्दुस्तानी ताल, झपताल, के खाली विभाग की छठी एवं सातवी मात्रा को दूसरी ताली के विभाग में मिला देने से उपर्युक्त रूप प्राप्त होता है। इसे कर्नाटकी ताल चिह्नों में लिखते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि यह ताल सम, विषम मात्राओं में विभाजित होने से दक्षिणी चिह्नों द्वारा स्पष्टः संकेतित हो। अब दक्षिणी ताल चिह्नों में उक्त परिवर्तित रूप इस प्रकार दर्शाया जायेगा :—

० ◡० ◡०

उक्त चिह्नों से या परिवर्तित रूप से यह स्पष्ट होता है कि इसके तीन विभाग होंगे अर्थात् १ २ | ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० | यहाँ इस परिवर्तित ताल में दूसरे विभाग की पांच मात्राओं को लघु विराम अर्थात् ◡| बताया जा सकता है किन्तु लघु विराम (◡|) के स्थान पर हिन्दुतानी ताल, झप ताल, की उस विषम-सम मात्राओं के सम्मेलन की द्रुत-विराम-द्रुत ०◡० इस प्रकार बताना अधिक उचित होगा। हिन्दुस्तानी ताल के पांच मात्रा वाले एक ही विभाग की मात्राओं का दक्षिणी ताल-पद्धति में परिवर्तन करना हो तब लघु-विराम ◡| बताना चाहिए अर्थात् विषम-सम मात्राओं वाले या सम-विषम मात्राओं वाले ही दो विभागों का ताली खाली का सम्मिश्रण ०◡० या ◡०० बताना चाहिए व जहाँ सम-विषम या विषम-सम मात्राओं वाले विभाग का सम्मिश्रण न हो व केवल ५ मात्राओं वाला एक ही विभाग हो, वहां लघु-विराम ◡| का रूप बनाना चाहिए जैसे हिन्दुस्तानी ताल, धमार, देखिये :—

१ २ ३ ४ ५	६ ७ ८ ९ १०	११ १२ १३ १४
×	२	३

दक्षिणी ताल में परिवर्तित धमार का रूपः—

१ २ ३ ४ ५	६ ७ ८ ९ १०	११ १२ १३ १४
।	०	।

उपर्युक्त धमार लघु-विराम, द्रुत-द्रुत-विराम एवं लघु द्वारा बताया गया है। इसमें पांच मात्राओं वाला केवल एक ही विभाग [प्रथम विभाग] लघु-विराम द्वारा व सम-विषम मात्राओं वाले दोनों विभागों का सम्मिश्रण द्रुत-द्रुत विराम द्वारा बताया गया है।

अब ऐसे कौन-से हिन्दुस्तानी ताल हैं जो दक्षिणी रूप ग्रहण करने के पश्चात् किसी दक्षिणी ताल के सदृश हों, यह प्रश्न आता है। हिन्दुस्तानी पद्धति के ऐसे दो ताल, [१] एक ताल एवं [२] चौताल, हैं। दोनों ही तालों के मात्रा-विभाजन, ताली-खाली आदि समान होने के कारण केवल एक ताल का ही उदाहरण पर्याप्त है :—

हिन्दुस्तानी एक तालः—	१ २	३ ४	५ ६	७ ८	९ १०	११ १२
	×	०	२	०	३	४
दक्षिणी परिवर्तित रूपः—	१ २ ३ ४		५ ६ ७ ८		९ १०	११ १२
	×		२		३	४

उपर्युक्त परिवर्तित रूप को ताल-लिपि संकेतानुसार ।।०० लघु, लघु, द्रुत, द्रुत लिखा जायेगा, जो प्रमुख सात दक्षिणी तालों में से चतस्र जाति का अठताल बनता है, जहां लघु की मात्रा-प्रमाण-संख्या चार मानी जाती है। अर्थात् एक ताल एवं चौताल ऐसे केवल दो ही ताल दक्षिणी रूप ग्रहण करने के पश्चात् दक्षिणी ताल के अठ ताल के समान हो जाते हैं। इसी प्रकार त्रिपुट तिस्र जाति हिन्दुस्तानी तीव्रा के समान है।

दोनों ही ताल-पद्धतियों के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि ताल, काल, मात्रा, लय, ताल के दश लक्षण, विभिन्न प्रकार के क़ायदे, परण, टुकड़े, मुखड़े में प्रयुक्त स्वर वर्णयुक्त बोल आदि की परिभाषाएं दोनों ही ताल-पद्धतियों में समान रूप में स्वीकृत पायी जाती हैं। प्रस्तुतीकरण का माध्यम, उपकरण, सशब्द पात, [ताली] निःशब्द पातक्रिया [खाली] निदर्शक प्रक्रिया, गीत-प्रकार व उसके प्रस्तुतीकरण के अनुसार संगत एवं राग रंजकत्व-निदर्शक शैली आदि बातों में दक्षिणी पद्धति की अपनी एक विशिष्ट एवं स्वतंत्र शैली है। दोनों पद्धतियों के गायन एवं वादन में आज भिन्नता पायी जाती है। वस्तुतः दोनों ही पृथक् पृथक् क्षेत्रों में अपनी निजी विशेषताए लिये हुए हैं।

प्रस्तुतीकरण के माध्यम एवं उपकरण के सम्बन्ध में विभिन्नता का विचार करते है तब यह प्रतीत होता है कि हिन्दुस्तानी ताल-वादन-पद्धति का माध्यम अधिकतर तबला-डग्गा है, जिसके बनाने के उपकरण, विशिष्ट प्रकार की मिट्टी, विशिष्ट प्रकार

की लकड़ी के खोड, चमड़ा, स्याही आदि हैं। किन्तु कर्नाटकी ताल-वादन का माध्यम अधिकतर, 'घटम्' अर्थात् मिट्टी का घड़ा होता है। कभी कभी तावें के घड़े के साथ भी यह गायन-वादन किया जाता है। प्रमुख ताल-वाद्य "मृदंग" इस पद्धति में दिखाई देता है। वास्तव में मृदंग का अर्थ मृत् अर्थात् मिट्टी व अंग याने शरीर है। मिट्टी का जिसका शरीर है उसे मृदंग कहा जाये। प्राचीन काल में मिट्टी के घड़े के माध्यम से ताल-वादन किया जाता था। इस कारण से इसे मृदंग कहा गया है। आज मृदंग का जो रूप है उसके उपकरण मिट्टी के स्थान पर लकड़ी के खोड, चमड़ा, स्याही, आटा आदि होने से उसके आकार, प्रकार व रूप में भिन्नता आ गई है, फिर भी उसे मृदंग ही कहा जाता है। सारांश यह है कि ताल-वादन का माध्यम भिन्न होने से ताल-वादन-प्रक्रिया में दोनों ही पद्धतियों में विभिन्नता पायी जाती है।

ताल-क्रिया में ताली-खाली-प्रक्रिया की दोनों ही पद्धतियों की अपनी अपनी स्वतन्त्र शैली दोनों ताल-पद्धतियों की भिन्नता बताती है। ख्याल-ध्रुवपद आदि गायन-प्रकारों के अनुकूल ताल-वादन-शैली हिन्दुस्तानी ताल-पद्धति की विशेषता है व वर्णम्, कृति, तिल्लाना आदि गायन-प्रकारों के अनुकूल ताल-वाद्य एवं ताल-वादन-शैली दक्षिणी पद्धति की अपनी विशेषता है।

सारांश यह है कि ताल संगीत की एक विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण इकाई (unit) है। कर्नाटक पद्धति और हिन्दुस्तानी पद्धति दोनों में ताल की इकाई (unit) का विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान है। अतएव दोनों ही संगीत पद्धतियों के गायन-वादन के प्रस्तुतीकरण की शैलियों के अनुकूल ताल के विभिन्न रूप निर्धारित किये गये हैं।



अध्याय ८

राग-जाति

भारतीय शास्त्रीय संगीत, जो आज हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति के नाम से प्रचलित है, रागदारी संगीत पर ही आधारित है। राग शब्द के प्रचार में आने के पूर्व प्राचीन काल में जाति शब्द ही प्रचलित था। भरतकालीन प्राचीनकाल में जाति गायन ही प्रचार में था। मूर्छना इस जाति के निर्माण का आधार थी। भरत के षड्ज ग्राम की सात एवं मध्यम ग्राम की सात कुल चौदह मूर्छनाओं को जाति-निर्माण का मूल माना जाता है। इन्ही के आधार पर भरत मुनि ने जाति के वर्गीकरण के तीन प्रकार बताये हैं। प्रथम प्रकार में षड्ज ग्राम की सात एवं मध्यम ग्राम की ग्यारह, कुल १८ जातियां बताई हैं। इसके पश्चात् जाति के जो दश लक्षण बताये हैं उनके अनुसार जातियों का सम्पूर्णतत्व षाडवत्व एवं ओडुवत्व प्रदान करके मूर्छनाओं से अन्य अनेक जातियों का निर्माण हुआ है। संपूर्णत्व, षाडवत्व एवं ओडुवत्व के वर्गीकरण का अर्थ यह है :—

१. संपूर्णत्व—जिस जाति में सात स्वरों के द्वारा गायन हो।

२. षाडवत्व—जिस जाति में छ स्वरों के द्वारा गायन हो।

३. ओडुवत्व—जिस जाति में पांच स्वरों द्वारा गायन हो।

उक्त नियम के अनुसार षड्ज ग्राम में नित्य पूर्ण अर्थात् संपूर्ण जाति चार, व मध्यम गायन में ३, कुल सात संपूर्ण जातियां भरत ने मानी हैं, जिन्हें शुद्ध जाति संज्ञा दी गई है। उदाहरण स्वरूप भरत की षड्जग्रामिक मूर्छना उत्तरमंद्रा मूर्छना में से निर्मित षड्ज ग्राम की नित्य संपूर्ण जाति षड्ज कैशिकि है, जो सात स्वरों की होने के कारण संपूर्ण जाति मानी जाती है। इसी प्रकार मध्यम ग्राम की सौवीरी, हरिणाश्वा एवं शुद्ध मध्या, तीनों ही मूर्छनाओं में से नित्य संपूर्ण जातियां मध्यमोदीच्यवा, गांधारपंचमी एवं कार्मारवि क्रमशः मानी जाती हैं।

भरतकालीन मूर्छना पर आधारित संपूर्ण, षाडव एवं ओडुव जातियों के संबंध में उक्त जानकारी देने का प्रयोजन यह है कि प्रचलित राग-गायन के संपूर्ण, षाडव एवं ओडुव जाति-प्रकारों का मूल आधार क्या था एवं आज उसका परिवर्तित किन्तु विकसित रूप क्या है, यह विदित हो जाये। भरतकालीन षड्ज ग्रामिक मूर्छनाओं से कौन सी जातियां संपूर्ण जाति की थी, कौन सी षाडव की तथा कौन सी ओडुव की थीं व आज के रागों से उनका साधारण क्या संपर्क स्थापित हो सकता है, इसकी संक्षिप्त जानकारी निम्न मानचित्र से स्पष्ट हो सकती है :—

भरतकालीन षड्ज ग्रामिक एवं मध्यम ग्रामिक मूर्छनाओं द्वारा संपूर्ण, षाडव तथा ओडुव जाति-प्रकारों की जातियों का मानचित्र निम्नलिखित है :

भरतकालीन संपूर्ण, षाडव-ओडुव जाति-दर्शक :—

क्रमांक	जाति नाम	मूर्छना नाम एवं ग्राम	जाति का ग्राम नाम	जाति	वर्जित स्वर
१.	षाड्जी	उत्तरायता ष.ग्रा.	षड्ज ग्राम	षाडव	नि
२.	आर्षभी	शुद्ध षड्जा ष.ग्रा	,,	षाडव	सा
३.	गांधारी	पौरवी	मध्य ग्राम	ओडुव	रिध
४	मध्यमा	कलोपनता म ग्रा	,,	,,	ग नि
५	पंचमी	,,	,,	,,	,,
६.	धैवती	अभिरुद्गता	षड्ज ग्राम	,,	सा, प
७.	नैषादी	,,	ष. ग्राम	,,	स, प्र
८.	षड्ज कैशिकी	उत्तरमंद्रा	,,	नित्य पूर्ण	कोई नही
९.	षड्जोदीच्यवा	अश्वक्रांता	,,	ओडुव	रि, ध
१०.	षड्ज मध्या	मत्सरीकृता	,,	,,	ग, नि
११.	गांधारोदीच्यवा	पोरवी म ग्रा.	म. ग्रा.	षाडव	री,
१२.	रक्तगांधारी	कलोपनता	,,	ओडुव	रि, ध
१३.	कैशिकी	हरिणाश्वा म.ग्रा.	,,	ओडुव	रि, ध
१४.	मध्यमोदीच्यवा	सौवीरी,	,,	नित्य पूर्ण	कोई नही
१५.	कार्मारवि	शुद्धमध्या	,,	नित्य पूर्ण	,,
१६.	गाधार पचमी	हरिणाश्वा	,,	षाडव	सा
१७.	आंध्री	सोवीरी	,,	षाडव	सा
१८.	नन्दयन्ती	हृष्टाका	,,	षाडव	सा

उक्त मानचित्र में प्रदर्शित जातियों में से कतिपय जातिया नित्य षाडव एवं नित्य सपूर्ण रहती हैं। इन्ही में से कतिपय षाडजी गांधारोदीच्यवा आंध्री आदि जैसी षाडव जातिया संपूर्ण हो सकती है, ऐसा भरत ने बताया है। उक्त अट्ठारह जातियों मे भरत ने सात शुद्ध जातियां बताकर यह कहा है कि शुद्ध जाति संपूर्ण होनी आवश्यक है ? यह कथन जातियों के षाडवतत्व व संपूर्णत्व प्राप्त करने के उक्त कथन का समर्थन करता है, यह निर्विवाद है। भरत कालीन कतिपय ओडुव जातियां प्रचलित हिन्दुस्तानी भूप, सारंग, धानी, भूपाली, भैरव आदि रागों के साधारणतया समान है, जबकि अन्य कतिपय संपूर्ण एवं षाडव जातियां प्रचलित हिन्दुस्तानी खमाज भैरवी, यमन, बहादुरी तोडी, काफी आदि रागों से सादृश्य रखती हुई प्रतीत होती है।

भरतकालीन मूर्छना द्वारा निर्मित संपूर्ण षाडव एव ओडुव जातियों के कारो के उक्त सक्षिप्त विवेचन से यह तथ्य प्रकट होता है कि मूर्छना द्वारा जाति का निर्माण हुआ है। इन जातियों के संपूर्ण, षाडव एवं ओडुव वर्गीकरण से जातियों की संख्या मे वृद्धि हुई और इस प्रकार जाति-गायन विकासशील होता गया। किन्तु

बाद में जब जाति के स्थान पर राग शब्द प्रचार में आया, तब शनैः, शनैः जाति-निर्माता मूर्छना का स्थान थाट ने ग्रहण कर लिया व मूर्छना द्वारा निर्मित जाति का स्थान थाट द्वारा निर्मित राग ने ले लिया है। प्रचलित हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति थाट-राग के वर्गीकरण पर ही आधारित है। भरतकालीन जाति के शुद्ध रूप में सात स्वरों का होना आवश्यक है। इस तत्व का परिपालन आज के राग-जाति-वर्गीकरण में भी दिखाई देता है। यदि राग मे सात स्वर होने चाहिए यह तत्व सिद्धांततः स्वीकार किया जाता है तो उसके निर्माणकर्ता थाट अथवा मेल में भी सात स्वरों की नितांत आवश्यकता है। अर्थात् थाट-राग-वर्गीकरण की इस प्रक्रिया में यह तत्व सिद्धांत रूप में स्वीकृत किया गया है कि राग मे अधिक से अधिक सात स्वर व कम से कम पांच स्वर होने आवश्यक है। क्योंकि पाच स्वरों से कम संख्या वाले स्वरों को राग की संज्ञा दी जाने से 'रंजयति इति रागः' तथ्य की अवहेलना होती है। राग यदि रंजक नहीं है तो राग कीं सज्ञा की पात्र नहीं है।

अत. प्रचलित रागजाति के संबंध में यह तथ्य सर्वमान्य है कि राग. की संपूर्ण, पाडव एवं ओडुव सज्ञक मुख्य तीन जातियां है। रागलक्षण के अनुसार राग में आरोह-अवरोह होना आवश्यक है। सिद्धांततः आरोह में सात स्वर हों व अवरोह मे छः या पाच हों तो आरोही सात स्वर के साथ अवरोही छः या पांच स्वर के सम्मिश्रण से अन्य राग का निर्माण हो सकता है। आरोही हो अथवा अवरोही उसे राग का रूप अधिक से अधिक सात व कम से कम पाच स्वरों की नितांत आवश्यकता है। इस सिद्धांत के अनुसार ही राग की प्रमुख तीन जातियों में से अन्य नव विधा राग-जातिया प्रचार मे आई हैं। प्रत्येक प्रमुख जाति की तीन तीन उप-जातियां बनाई गई है। राग-जाति के नौ प्रकार निम्नांकित हैं :—

क्रमांक	जाति नाम	आरोही में स्वर संख्या	अवरोही स्वर संख्या
१.	सपूर्ण-सपूर्ण	सात स्वर	सात स्वर
२.	संपूर्ण पाडव	सात स्वर	छः स्वर
३,	संपूर्ण ओडुव	सात स्वर	पाच स्वर
४.	पाडव संपूर्ण	छः स्वर	सात स्वर
५.	पाडव पाडव	छ. स्वर	छ स्तर
६.	पाडव ओडुव	छः स्वर	पांच स्वर
७.	ओडुव संपूर्ण	पांच स्वर	सात स्वर
८.	ओडुव पाडव	पाच स्वर	छः स्वर
९.	ओडुव ओडुव	पांच स्वर	पांच स्वर

जिस प्रकार भरतकालीन पाडजी, आर्षभी गांधारी, मध्यमा, पंचमी धैवती एव नैषादी, ये शुद्ध जातियां सपूर्ण थी। इन्हें पाडवत्त्व तथा संसर्गजन्य मिश्रजातित्त्व भी प्राप्त होकर हुआ था, उसी प्रकार आज राग-गायन उक्त नौ राग-जातियों के इन लक्षणो द्वारा विकसित हुआ है।

पूर्व में यह कहा गया है कि प्रचलित हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति में से "थाठ से राग-निर्माण होता है" यह सिद्धांत आज भी स्वीकृत है। उक्त सिद्धांत के अनुसार प्रचलित हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति में पं० भात खण्डे जी ने प्रमुख दस थाट स्वीकृत किये हैं व उन्हीं के आधार पर उक्त नौ राग-जातिओं के माध्यम से गणित की दृष्टि से कितनी राग-संख्याएँ निर्मित होती हैं, यह मनोरंजक तथ्य भी चर्चित किया है। उन्होंने इसे थाट-राग-वर्गीकरण या जन्य-जनक वर्गीकरण की संज्ञा दी है। क्योंकि थाट राग का निर्माणकर्त्ता अर्थात् जनक व राग निर्मित्त अर्थात् जन्म है।

व्यावहारिक दृष्टि से पं भातखण्डे द्वारा स्वीकृत प्रमुख दस थाट व उनके नाम एवं शुद्ध विकृत स्वर निम्नांकित हैः—

क्रमांक	थाटनाम	प्रयुक्त होने वाले स्वर	विकृत स्वर
१.	बिलावल	सारेगम पधनिसा	कोई नही
२.	कल्याण	सारेगम पधनिसा	म तीव्र
३.	खमाज	सारेगम पधनिसां	नि कोमल
४.	भैरव	सारेगम पधनिस	रे ध कोमल
५.	पूर्वी	सारेगम पधनिसां	रे, म, ध विकृत
६.	मारवा	सारेगम पधनिसां	रे, म विकृत
७.	काफी	सारेगम पधनिसां	ग नि कोमल
८.	आसावरी	सारेगम पध निसां	ग, ध, नि कोमल
९.	भैरवी	सा रे ग मप ध नि सां	रे, ग, ध, नि कोमल
१०.	तोडी	सारे ग म पध निसां	रे, ग, म, ध, विकृत

प्रचलित हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति मे स्वीकृत उपर्युक्त दस थाट-स्वरों में से नौ प्रकार की राग-जातियों के कितने राग निर्मित हो सकते हैं, अब यह देखना है। प्रथम थाट, बिलावल, में से नौ प्रकार की जातियो के कितने राग निर्मित होंगे, इसका विवेचन अब किया जायेगा।

बिलावल थाट से निर्मित नौ प्रकार की रागजातियों की राग-संख्या निम्नांकित है:—

क्रमांक	जाति नाम	राग संख्या	स्पष्टीकरण
१.	संपूर्ण-संपूर्ण	१	केवल एक राग, कारण आरोही में सात स्वर व अवरोही में सात स्वर
१.	संपूर्ण षाडव	६	आरोही में सात स्वर व अवरोही में प्रत्येक

			नार नि, ध, प, म, ग, रे, ये छः स्वरों में से एक-एक स्वर वर्जित करने से अवरोही प्रत्येक बार छः स्वरों का होगा [१ × ६ = ६]
३.	संपूर्ण ओडुव	१५	आरोही संपूर्ण रखकर अवरोही में नीध, नीप, नीम, नीग, नीरे, धप, धम, धग, धरे, पम, पग, परे, मग, मरे एवं गरे इन १५ स्वर जोड़ियों में से प्रत्येक बार एक एक स्वर जोड़ी वर्जित करके १५ ओडुव अवरोही प्रकारों को प्रत्येक बार सात स्वरों के आरोही प्रकार से जोड़ने से पृथक्-पृथक् संपूर्ण ओडुव जाति के प्रकार प्राप्त होंगे। [१ × १५ = १५]
४.	षाडव-संपूर्ण	६	सात स्वरों के आरोही मे रे, ग, म, प, ध, नि, इन छः स्वरों में से प्रत्येक बार एक एक स्वर कम करने से छः षाडव आरोही प्राप्त होंगे। प्रत्येक षाडव आरोही को सात स्वरो के संपूर्ण अवरोही से जोड़कर छः षाडव संपूर्ण प्रकार प्राप्त होंगे [१ × ६ = ६]
५.	षाडव-षाडव	३६	आरोही के छः षाडव-प्रकार एवं अवरोही के छः षाडव-प्रकार प्राप्त होने के पश्चात् आरोही के प्रत्येक षाडव-प्रकार को अवरोही के छहों प्रकारों से पृथक्-पृथक् रूप में जोड़ने से एक षाडव आरोही के छः षाडव-षाडव प्रकार होंगे। इसी प्रकार दूसर षाडव को पुनः प्रत्येक षाडव-अवरोही से जोड़ने से दूसरे ६ षाडव-षाडव प्रकार प्राप्त होंगे। अतः आपके पास छ. षाडव आरोही होने से ६ × ६ = ३६ षाडव-षाडव प्रकार प्राप्त हो सकेंगे।
६.	षाडव-ओडुव	९०	आरोही षाडव प्रकार छः व अवरोही ओडुव प्रकार पंद्रह प्राप्त होने के पश्चात् प्रत्येक षाडव आरोही को पंद्रह अवरोही ओडुव प्रकारों से पृथक् रूप में जोड़े जायेगे जिससे ६ × १५ = ९० षाडव-ओडुव प्रकार प्राप्त होंगे।
७.	ओडुव-संपूर्ण	१५	सात स्वरों के आरोही में से रेग, रेम, रेप, रेध, रेनि, गम, गप, गध, गनि, मप, मध, मनि, पध, पनि, एवं धनि ऐसी १५ स्वर जोड़ियां प्रत्येक बार वर्ज्य करके पांच स्वरों के ओडुव आरोही के पंद्रह प्रकार

			प्राप्त होंगे । इन पंद्रह ओड्व आरोही प्रकारों को पंद्रह बार संपूर्ण अवरोही से जोड़ने से पंद्रह ओड्व-संपूर्ण प्रकार प्राप्त होंगे [१५ × १ = १५]
८.	ओड्व-षाढव	९०	पंद्रह ओड्व आरोही प्रकार एवं छः षाडव अवरोही प्रकार प्राप्त होने के पश्चात्-पंद्रह ओड्व आरोही प्रकारों को प्रत्येक बार पृथक्-पृथक् षाडव अवरोही प्रकार से जोड़ने से १५ × ६ = ९०. ओड्व-षाडव प्रकार प्राप्त होंगे ।
९.	ओड्व ओड्व	२२५	पंद्रह ओड्व आरोही एवं पंद्रह ओड्व अवरोही प्राप्त होने के पश्चात् प्रत्येक पंद्रह ओड्व अवरोही को पृथक्-पृथक् रूप में ओड्व अवरोही से जोड़ने से १५ × १५ = २२५ ओड्व-ओड्व प्रकार प्राप्त होंगे ।

इस प्रकार उपर्युक्त ९ राग-जातियों से एक विलावल थाट से निम्नांकित राग-संख्या प्राप्त होती हैं :—

क्रमांक	जाति प्रकार	राग संख्या
१.	संपूर्ण संपूर्ण	१
२.	संपूर्ण-षाडव	६
३.	संपूर्ण ओड्व	१५
४.	षाडव संपूर्ण	६
५.	षाडव षाडव	३६
६.	षाडव ओड्व	९०
७.	ओड्व संपूर्ण	१५
८.	ओड्व षाडव	९०
९.	ओड्व ओड्व	२२५

एक विलावल थाट के नौ प्रकारों से उक्त ४८४ [चार सौ चौरासी] राग प्राप्त होते है । प्रचलित दस थाटों में से ४८४० [चार हजार आठ सौ चालीस] राग प्राप्त हो सकग । यह सही है कि गणित की दृष्टि से दस थाटों में मे ४८४० राग प्राप्त होते हैं किन्तु व्यवहार में गायन-वादन एवं उस पर निर्भर रंजकत्व और प्रचलन की दृष्टि से आज लगभग केवल १५० से २०० रागों तक ही राग-संख्या सीमित है । ववेही राग आज रंजकत्व दृष्टि से गायन-वादन के प्रचार में विशेष रूप से दिखाई देते है ।

यहाँ एक बात कहना अप्रासंगिक नही होगा कि दस थाट, जिनसे निर्मित रागों पर आज हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति आधारित है, वे सात शुद्ध एवं पांच विकृत, ऐसे कुल बारह स्वरों के सप्तक से निर्मित ७२ थाटों में से ही है। अर्थात् बारह

स्वरों के सप्तक में से बहत्तर थाट निर्मित हो सकते हैं ऐसा दक्षिण के पं० व्यंकट-मखी का सिद्धांत है, इस पद्धति में स्वीकृत किया गया है। ७२ थाटों में से ७२ × ४८४ = ३४८४८ [चौंतीस हजार आठ सौ अड़तालीस] राग, उक्त राग जातियों के प्राप्त हो सकते है। यह सर्वमान्य तथ्य है।

उपर्युक्त नौ प्रकारों की राग जातियो की उक्त राग-संख्या गणित की दृष्टि से उचित मानी जा सकती है, किन्तु व्यावहारिकता एवं रंजकत्व की दृष्टि से यह संख्या १५०/२०० तक ही सीमित है।

अध्याय ९

पारिभाषिक शब्द

निम्नलिखित पारिभाषिक शब्दों की परिभाषाएं एवं विवेचन :—

(१) शुद्ध छायालग एवं संकीर्ण राग, (२) परमेल प्रवेशक राग (३) गमक; एवं (४) वाग्गेयकार।

शुद्ध, छायालग एवं संकीर्ण राग

शुद्ध, छायालग एवं संकीर्ण राग का वर्गीकरण नवधा राग-जाति-वर्गीकरण से भिन्न विषय है। परन्तु शुद्ध, छायालग एवं संकीर्ण वर्गों के राग उक्त नौ राग-जातियों में से किसी भी एक राग-जाति से सम्बद्ध होते हैं, क्योंकि राग-लक्षणो के अनुसार किसी भी राग में संपूर्णत्व या षाडत्व या ओडुवत्व होना अनिवार्य है। अतः राग का शुद्धत्व, छायालगत्व एवं संकीर्णत्व राग में राग-लक्षणों की समायोजना एवं भिन्न योजना से संबंधित है, यह कहना अनुचित न होगा। प्रयुक्त होने वाले स्वर-युगल, संवाद, विशिष्ट प्रकार का स्वर-विन्यास, कणयुक्त एवं मीडयुक्त विशिष्ट स्वरोच्चारण, न्यासायन्या क्रिया, तिरोभाव-आविर्भाव आदि एवं अल्पत्व बहुत्वादि प्रक्रियाओं का राग में विशेष किन्तु विचित्र चमत्कारजन्य ऐसा ताना-बाना रहता है, जिससे कि राग अपना स्वतन्त्र अस्तित्व लिये हुए भी स्वरूप, सौंदर्य एवं रसभावार्थ-व्यंजना की क्षमता का पूर्ण रूप मे परिचायक सिद्ध होता है। अतएव उपर्युक्त विशिष्ट एवं चमत्कारजन्य प्रक्रियाओं को दृष्टिगत रखकर ही राग के शुद्धत्व, छायालगत्व एवं संकीर्णत्व पर विचार करना चाहिए। मतंग मुनि ने भी रागों का शुद्ध, छायालग तथा संकीर्ण में वर्गीकरण किया है। उक्त वर्गीकरण के संबंध में क्रमिक पुस्तक में पं० भातखण्डेजी ने स्पष्टीकरण दिया है :—

(१) तत्र शुद्धत्वं नाम शास्त्रोक्त नियमात् रंजकत्वं भवति।

(२) छयालगत्वं नामानि छायालगत्वेन-मुख्य हेतुत्वं रंजकत्वं भवति।

(३) संकीर्णनामानि शुद्ध छायालगत्वेन-मुख्यत्वेन रक्तिहेतुत्वं भवति।

भावार्थ यह है कि जो राग केवल शास्त्रोक्त राग-लक्षणों एवं नियम-उपनियमों के ही अनुसार शुद्धता सहित गाया-बजाया जाता है व जिसमें रंजन क्षमता होती है उसे 'शुद्ध राग' कहना चाहिए। ऐसे वर्ग के रागों में उनके अपने स्वतंत्र स्वर-युगल, संवाद, कण, मीड आदि प्रक्रियाएं निर्धारित होती है, जिस पर राग की प्रकृति, चलन, सौंदर्य एवं रंजनक्षमता स्वतंत्र रूप से निर्भर करती है और इसका अन्य रागों से

स्वतंत्र एव शुद्ध अस्तित्व दिखाई देता है। इस वर्ग में इन दस थाटों में से निर्मित अनेक राग अंकित किये जा सकेंगे। यमन, भैरव, विलावल, भैरवी, तोड़ी, श्री, बसंत एवं सारंग आदि अनेक राग शुद्ध राग है क्योंकि इन रागों में प्रयुक्त होने वाले स्वर-विन्यास, कण, मीडयुक्त स्वरोच्चारण, अन्य अनेक स्वर-युगल, सम्वाद आदि राग-लक्षणोंयुक्त प्रक्रियाएं इनकी अपनी स्वतन्त्र समझी जाती हैं।

राग के छायालग वर्ग की परिभाषा के अनुसार किसी अन्य राग के स्वर-विन्यास एवं स्वरसंवादादि की प्रयुक्ति से इस वर्ग के राग का स्वरूप बनता है अर्थात् अन्य किसी राग की छाया उस राग मे आती है। किसी अन्य राग की छाया लगने से राग का स्वरूप बनता है तब उसे छायालग राग समझा जाता है। ऐसे रागों के स्वतंत्र लक्षण अवश्य होते हैं, किन्तु कुछ स्वर-समूह, स्वर-संवाद एवं इसी प्रकार के प्रयोग अन्य रागो से बहुत मिलते-जुलते दिखाई देते है। अधिकतर ऐसे समान स्वर-समूह, स्वर-संवाद, कण, मीड, उच्चारण आदि प्रकार सम्मेलोत्पन्न रागों के ही होते है। उदाहरणस्वरूप कल्याण थाट के कामोद व छायानट, मल्हार के मिया मल्हार और गौड मल्हार, कानडे के अडाणा, दरबारी-कानडा आदि राग छायालग रागों में अंकित किये जा सकेंगे। कल्याण थाट से निर्मित दो मध्यम युक्त हमीर, केदार, कामोद, छायानट आदि रागों मे प्रयुक्त होने वाले स्वर-विन्यास एवं उनके आरोह-अवरोहादि में चलन व प्रकृति के सादृश्य से यह स्पष्ट होता है कि ये राग छायालग राग के वर्ग में अंकित होंगे। फिर भी ये अपने-अपने स्थान पर रंजकता एवं रसभावाभिव्यक्ति-क्षमता से सम्पन्न तथा स्वतंत्र हैं। कामोद एवं छायानट रागों मे प्रयुक्त होने वाले स्वर-समूह, पूर्वांग में 'गमप गमस-रेसा' एवं उत्तरांग में धनिप, की प्रयोग-विशिष्टता पर विचार किया जाये तो यह स्पष्ट होगा कि उक्त स्वर-प्रयोगों के बिना दोनो ही राग अपना स्वरूप प्रकट नही कर सकते हैं। उक्त स्वर-समूहों के प्रयोग के अभाव मे कामोद कामोद नही कहलायेगा और न छायानट छायानट ही। यह सर्वमान्य तथ्य है कि 'गमप गमसारेसा' का स्वर-विन्यास कामोद राग का प्राण है, किन्तु छायानट 'रेगमप गमरेसा' के रूप में गाया जाता है। ऐसे ही अन्य स्वर-समूह मल्हार प्रकार, अडाणा कानडा प्रकार काफी-बरवा, देशी एवं अन्य तोड़ी-प्रकारों में पाये जायेंगे। स्पष्ट है कि एक दूसरे के स्वर-समूहादि के सम्मिश्रण से एक दूसरे की छाया लेते हुए भी इनमें से प्रत्येक राग अपने स्वतंत्र नियमों द्वारा गाया जाकर रसानुभूति उत्पन्न करता है।

संकीर्ण राग-वर्ग के अंतर्गत ऐसे राग आते हैं, जो दो रागों के स्पष्ट मिश्रण से बने हुए प्रतीत होते हैं। इस प्रकार के संकीर्ण राग सममेलोत्पन्न अर्थात् समान थाट-निर्मित एवं भिन्न मेलोत्पन्न अर्थात् भिन्न थाट निर्मित हो सकते हैं। सारांश यह है कि संकीर्ण राग, सममेलोत्पन्न अथवा भिन्न मेलोत्पन्न, दो रागों के मिश्रण से गाया-बजाया जाता है। दोनों ही रागों के संपूर्ण लक्षणों का प्रदर्शन एक के बाद एक इस प्रकार किया जाता है, जिससे दोनों ही राग भिन्नशः स्पष्ट होते हुए भी

एक ही राग-रूप प्रतीत होते है। संकीर्ण राग, जो दो रागों के अपने-अपने स्वतंत्र राग-लक्षणों के अनुसार गाये बजाये जाते हैं, में कुछ स्वर-समूह, स्वर-संवाद या स्वर-स्थान इस प्रकार निश्चित किये हुए होते हैं जिससे दोनों ही रागों का क्रमशः स्पष्ट स्वरूप प्रकट किया जा सके। प्रायः यह देखने मे आया है कि ऐसे रागों के गीत को स्थायी एक राग में निबद्ध हो तो उसका अंतरा दूसरे राग में निबद्ध होता है। आज ऐसे भी अनेक ख्याल (बड़े एवं छोटे) गाये जाते हैं जिनके केवल एक ही अवयव अर्थात् स्थायी में ही दोनों रागों का मिश्रण दिखाई देता है। आलाप-तान-प्रक्रियाओं द्वारा जब राग का गायन-वादन किया जाता है तब प्रायः यह नियम सा बन गया है कि ख्याल का मुखड़ा जिस राग में निबद्ध हो उसी राग में स्वरो का आलाप अथवा तान प्रारंभ की जाती है, उसके पश्चात् कौशलपूर्वक दूसरे राग के मनोरंजक स्वर-समूहों को उसमें सम्मिलित करते हुए पुनः पूर्व के राग में ही आलाप अथवा तान की समाप्ति करके उसी राग में निबद्ध मुखड़ा लेकर सम पर आया जाता है, जिससे कि गायन-वादन मे विसंगति न हो व रंजकता बढ़े। संकीर्ण राग-गायन का अन्य प्रकार यह भी दिखाई देता है कि आरोही में एक राग के राग-लक्षण होते है तो अवरोही में अन्य राग के लक्षण होते हैं। तानक्रिया में दो रागों का प्रदर्शन अधिकतर आरोही-अवरोही के विभाजन से ही किया जाता है। आरोही में एक राग की तान दिखाई देगी तो अवरोही मे दूसरे राग की तान दिखाई देगी। बागेश्री-बहार, नायकी कान्हडा जैसे सममेलोत्पन्न एवं माल कंस-बहार, जोगी-आसावरी, बसंत-बहार एवं अडाणा-बहार जैसी भिन्न मेलोत्पन्न राग संकीर्ण राग-वर्ग के अंतर्गत माने जाते हैं। उदाहरणस्वरूप बागेश्री एवं बहार के दो सममेलोत्पन अर्थात् काफी थाट से निर्मित हैं। मिश्रण से बागेश्री-बहार संकीर्ण राग बनेगी। संकीर्ण राग बागेश्री-बहार में बागेश्री राग के स्वर-समूह, वादी-संवादी एवं संपूर्ण लक्षण प्रयुक्त किये जायेंगे तथा बहार राग के भी संपूर्ण रागोचित स्वर समूहादि का प्रयोग किया जायेगा। गायक-वादक ऐसे विशिष्ट स्वर-समूह या स्वर-स्थान निश्चित करते हुए दिखाई देते है, जिससे कि बागेश्री गाते-बजाते हुए बहार राग में प्रवेश करते समय गायन-वादन में किसी भी प्रकार की विसंगति दिखाई नहीं देती है। बागेश्री-बहार में दोनों ही रागों के स्वतंत्र नियमों का उचित पालन किया जाता है। संकीर्ण राग इस प्रकार एक चमत्कारजन्य मनोरंजकता का परिचय देते है।

संकीर्ण राग की एक विशेषता यह है कि अधिकतर गीत की स्थायी या उसका मुखड़ा, नाम की प्रथम राग में ही निबद्ध पाया जाता है। बागेश्री-बहार की संकीर्ण राग के गीत का स्थायी या तो संपूर्णतः बागेश्री राग मे निबद्ध होगा या स्थायी का मुखड़ा बागेश्री में होगा। संपूर्ण स्थायी बागेश्री मे निबद्ध हो तो गीत के अंतरे का उठाव बहार राग में निबद्ध होगा या सपूर्ण अंतरा ही बहार मे इस प्रकार से निबद्ध होगा कि उसके पश्चात् बागेश्री राग में निबद्ध में स्थायी का मुखड़ा अंतरे

एकाकार हो जाये। इस प्रकार के संकीर्ण रागों की आरोही तानें अधिकतर बागेश्री में निबद्ध होंगी व अवरोही तानें बहार में निबद्ध पायी जायेंगी।

राग-लक्षणों का उचित रूप में पालन करके गायन-वादन द्वारा रंजकत्व का लक्ष्य प्राप्त करना एक अत्यंत कठिन एवं परिश्रम-साध्य-कौशल है, यह सर्वमान्य तथ्य है। संकीर्ण रागों का गायन-वादन तो और भी विशिष्ट, मार्मिक, ज्ञानपूर्ण एवं कठिन होता है। इस प्रकार के रागों का सफल गायन-वादन सफल राग-लक्षणों के सुप्रयोग के अतिरिक्त दोनों रागों के मर्म-स्थानों के उचित प्रदर्शन, कण्ठ-कौशल या हस्त-कौशल पर विशेष रूप से निर्भर करता है।

शुद्ध, छायालग एवं संकीर्ण रागो के वर्गीकरण में एक विशेष बात यह पायी जाती है कि अधिकतर शुद्ध रागों के आरोही सरल रूप में प्रयुक्त होते हैं।

शुद्ध रागों में वक्र स्वर या वक्र स्वर-विन्यास का प्रयोग क्वचित् ही दिखाई देता है। यदि किसी राग में किंचित् वक्र स्वर हो भी तो उसका प्रयोग नाम मात्र का होता है। यदि उसे किंचित् काल-दुर्लक्षित भी किया जाये तो राग-स्वरूप की हानि नही होती है।

शुद्ध राग प्रायः वही होते हैं जो सरल आरोही-अवरोही के क्रम में सहजता से गाये-वजाये जाते हों व जिनमें वक्रता का स्थान गौण हो।

छायालग रागों में अधिकतर विशिष्ट प्रकार के कोई एक या दो स्वर-विन्यास वक्रता लिये हुए होते हैं। छायानट-कामोदादिरागों में 'गमरेसा' तथा मल्हार-कान्हडा आदि में 'गमरेस' प्रयोग वक्रता लिए हुए हैं। ऐसे रागों की आलाप-तान-क्रिया में मगरेसा जैसे सरल अवरोही के स्थान पर 'गमरेसा' का वक्र प्रयोग आवश्यक प्रतीत होता है। सारांश यह है कि छायालग राग अधिकतर एक या दो वक्र स्वरों द्वारा बने स्वर-समूहों युक्त दिखाई देते हैं अर्थात् उनके आरोही-अवरोही में सरलता अत्यल्प पायी जाती है।

संकीर्ण राग में सममेलोत्पन्न एवं भिन्न मेलोत्पन्न रागों का मिश्रित रूप होने से सरल एवं वक्र प्रयोग दिखाई देते हैं। संकीर्ण राग में शुद्ध छायालग वर्गों के रागों का मिश्रण अनिवार्य रूप में होता है। पूर्व में कहा गया है प्रत्येक राग के गायन-वादन का मुख्य उद्देश्य रंजकत्व एवं रसभावाभिव्यक्ति है। किन्तु संकीर्ण राग के गायन-वादन द्वारा रंजकत्व व रसभावाभिव्यक्ति उपलब्ध करना एक विशेष कलापूर्ण कौशल है।

परमेल-प्रवेशक राग:—

परमेल प्रवेशक राग का गायन-वादन समय की ओर संकेत करता है; परमेल प्रवेशक अर्थात् दूसरे मेल (थाट) के रागो में प्रवेश करने का संकेत देने वाला राग। परमेल प्रवेशक राग की व्याख्या करने के पूर्व, पं० भातखण्डे जी ने प्रमुख दस थाटों में निर्मित रागों के गायन-वादन के समय निर्धारण विषयक जो सिद्धांत दिये हैं उनका संक्षेप में अवलोकन करना आवश्यक है।

सात स्वरों सा, रे, ग, म, प, ध, नि, में से रे ग ध नि इन चार स्वरों के निम्नांकित तीन वर्ग बनाये गये है। इन वर्गो वाले थाटों मे से निमित रागों के गायन का समय-निर्धारण किया गया है।

स्वरों के तीन वर्ग एवं उनसे निर्मित थाटों व रागों के नाम ये हैं:—

(१) रि, ध व ग शुद्ध, आश्रित-कल्याण, बिलावल, एवं समाज थाटों से निर्मित राग।

(२) रि, ध, कोमल व ग शुद्ध, इनसे युक्त भैरव, पूर्वी एवं मारवा थाटों से निर्मित होने वाले राग।

(३) ग, नि, कोमल तदाश्रित काफी, आसावरी, भैरवी एवं तोड़ी थाटों से निर्मित राग।

उक्त तीन वर्गो में से रि, ध, कोमल एवं ग शुद्ध से युक्त थाट भैरव, पूर्वी एवं मारवा से निर्मित रागों को संधि-प्रकाश राग माना जाता है। ये राग संधिप्रकाश समय में गाये-बजाये जाने चाहिए, ऐसा कहा गया है। संधि-प्रकाश समय चौबीस घण्टे के एक दिन के अवकाश में प्रातः सूर्योदय के कुछ पूर्व से सूर्योदय के कुछ पश्चात् तथा सायं सूर्यास्त के कुछ समय पूर्व से सूर्यास्त के पश्चात् की कुछ अवधि तक का होता है। उक्त वर्ग के रागों में ऋषभ (रि) का कोमलत्व एवं गांधार का शुद्धत्व अनिवार्य है, धैवत शुद्ध या कोमल कैसा भी हो सकता है। इसी कारण मारवा थाट, जिसमें ऋषभ कोमल और गांधार शुद्ध के साथ धैवत शुद्ध भी है, को इस वर्ग में अंकित किया गया है। परमेल प्रवेशक राग का मारवा थाट से निर्मित मारवा राग की ओर विशेष संकेत होने के कारण मारवा थाट के इस वर्ग में सम्मिलन हेतु यह ज्ञात होना आवश्यक था। भैरव, पूर्वी एवं मारवा थाट से निर्मित सा, रे, ग, म क्षेत्र में से कोई भी स्वर वादी वाले पूर्वांग वादी राग सांय के संधिप्रकाश समय में गाये जायेंगे व उसके पश्चात् रात्रि के प्रथम प्रहर में शुद्ध रि,ध एवं शुद्ध होने वाले कल्याण, बिलावल एवं खमाज थाट निर्मित राग गाये जायेंगे यह सर्व साधारण निश्चित समय बताया गया है। अतएव उदाहरण स्वरूप सायं के संधिप्रकाश के समय गाये जाने वाले दूसरे वर्ग के थाटों भैरव, पूर्वी, मारवा में से निर्मित मारवा थाट से निर्मित मारवा राग लें। मारवा थाट से निर्मित मारवा राग में सा, रे ग, म, ध, नि स्वर प्रयुक्त होते हैं जिसके पूर्वांग में ऋषभ (रि) कोमल है। अर्थात् इसके पूर्व के भैरव व पूर्वी आदि थाटों से निर्मित सायं-कालीन पूर्वांग वादी संधिप्रकाश-रागों में ऋषभ और धैवत दोनों कोमल लगते हैं परन्तु मारवा में कोमल ऋषभ (रि) ही ऐसा एक स्वर लगता है जो उसके पूर्व रागों में भी लगता है व अन्य सभी स्वर कल्याण थाट के स्वरों के समान हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि अब कोमल ऋषभ एवं कोमल धैवत के गायन का समय समाप्त हो रहा है व अब शुद्ध स्वर यानी रि ध व ग शुद्ध वाले कल्याण, बिलावल एवं खमाज थाटों से निर्मित राग सायंकालीन संधिप्रकाश वेला समाप्त होने के पश्चात गाये

जायेंगे अर्थात् मारवा मेल के रागों के गायन-वादन का समय अब समाप्त हो रहा है और कल्याण, बिलावलादि परमेल अर्थात् दूसरे थाटों के रागों के गायन-वादन का समय आ रहा है। क्योंकि ऋषभ कोमल (रि) के अतिरिक्त मारवा के संपूर्ण स्वर परमेल अर्थात् दूसरे थाट कल्याण के सदृश हैं, अतएव मारवा को परमेल प्रवेशक राग माना जाता है।

इसी प्रकार शुद्ध रि ध व ग वाले प्रथम वर्ग के कल्याण, बिलावल एवं खमाज थाटों में से खमाज थाट से निर्मित जयजयवन्ती राग परमेल प्रवेशक राग कहा जाता है। क्योंकि जयजयवन्ती राग के स्वरों के गायन में भी कोमल गांधार एव कोमल-निषाद कल्याण, बिलावल, खमाज से निर्मित रागों की समय-समाप्ति का व काफी थाट से निर्मित कोमल ग व कोमल निषाद युक्त राग के समय का संकेत मिलता है।

उक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि परमेल प्रवेशक राग उसे कहते हैं जिसमें उसके पश्चात् के थाट से निर्मित रागों के गायन-वादन के समय का संकेत हो। अर्थात् परमेल प्रवेशक राग ऐसे राग होते है जिनमे अधिकतर स्वर एवं उनके शुद्ध-विकृत रूप तत्काल पश्चात् गाये जाने वाले थाट से निर्मित रागों के शुद्ध-विकृत स्वरों के रूप के समान होते है, फलतः राग-गायन की समय-समाप्ति एवं अन्य मेलजन्य राग-गायन-समय की सूचना प्राप्त होती है। ऐसे राग सायंकालीन संधि-प्रकाश-राग मारवा एवं रात्रि के द्वितीय प्रहर में गाये जाने वाला राग जयजयवन्ती है।

गमक—"स्वरस्य कंपो गमकः श्रोतृचित्त सुखावहः" यह गमक की परिभाषा हुई। अर्थात् गमक एक विशेष प्रकार के स्वरों के कंपन को कहते है, जिसके प्रयोग से श्रोताओं के चित्त को सुख, आनन्द एवं प्रसन्नता प्राप्त होती है। आज हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति में "गमक" शब्द का जो साधारण अर्थ लिया जाता है वह यह है कि हृदय में वांछित प्रकार की श्वसन क्रिया का निर्माण करके द्वारा विशिष्ट प्रकार के कंपन पैदा कर स्वर-उच्चारण किया जाय। गमक की यह साधारण परिभाषा है। गमक को विश्लेषणात्मक रूप में समझने हेतु गमक के जो पन्द्रह विभिन्न प्रकार बताये गये है, उनकी ओर ध्यान देना आवश्यक है। गमक के पन्द्रह प्रकार निम्नांकित है :—

(१) कंपित (२) आंदोलित (३) आहत (४) प्लावित (५) उल्हसित (६) स्फुरित (७) त्रिभिन्न, (८) वली, (९) हुंफित, (१०) लीन, (११) तिरिप, (१२) मुद्रित, (१३) कुरुला, (१४) नमित, एवं (१५) निश्रित।

उक्त गमकों के विभिन्न प्रकारों का पृथक्-पृथक् विश्लेषण निम्नांकित रूप में किया जा सकता है :—

१. कंपितः—मूल स्वर के आगे के या पूर्व के स्वर से मूल स्वर को वारंबार अतिशीघ्रता से स्पर्श करते हुए मूल-स्वर का उच्चारण जब कंपन द्वारा किया जाता है तब कंपित गमक का उच्चारण समझा जाता है। गायन अथवा वादन करते समय

मूल स्वर ऋषभ है, उसके पूर्व स्वर षड्ज व पश्चात् का स्वर गांधार में से किसी एक स्वर का स्पर्श देते हुए मूल ऋषभ (रि) का उच्चारण कंपित हो जाता है जैसे गरे ऽऽऽ अथवा सारेऽऽऽ प्रयोग में ऋषभ का गांधार या षड्ज से ऐसा स्पर्श होता है कि रि स्वर का कंपित उच्चारण होता हुआ दिखाई देता है। वीणा अथवा सितार के गांधार के परदे पर बांयी मध्यमांगुलि व ऋषभ के परदे पर बांयी तर्जनी रखकर दाहिने हाथ के मिजराब से तार को अपनी ओर खीचकर बजाया हुआ 'दा' व उसके बजाने के तत्काल बाद गांधार की मध्यमांगुलि को हटा दिया जाय तो ऋषभ का उच्चारण कंपित प्रतीत होगा। सितार-वादन-क्षेत्र में आज इसे "जमा जमा" यह संज्ञा दी जाती है व कण्ठ-गायन क्षेत्र में उसे कण्ठस्वर कहा जाता है। यह कंपित स्वर आगे या पीछे के स्वर के स्पर्श द्वारा निर्मित होता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि एक ही स्वर पर यदि ध्वनि को कंपन दिया जाता है और उस कंपन में मूल-स्वर के आगे की या पूर्व की स्वर-ध्वनि का स्पर्श या कण हो, तब इसे कंपित गमक कहा जाता है। इस कंपित ध्वनि को कण, स्पर्श-स्वर अथवा कण से उच्चारित स्वर भी कहते है।

२. स्फुरित :—उक्त कंपित स्वर का बार-बार शीघ्रता से उच्चारण करते समय जब मूल स्वर स्पष्ट रूप में उच्चारित होता है तब उसे स्फुरित गमक कहते है। जैसे वीणा अथवा सितार के गांधार के परदे पर मध्यामांगुलि व ऋषभ के परदे पर तर्जनी की सहायता से अपनी ओर आघात करके 'दा' अक्षर बजाया जाये व बजाने के शीघ्र पश्चात् ही मध्यमांगुलि को एक झटका देकर उठाया जाये व यह प्रक्रिया अति शीघ्रता से बारम्बार की जाये तब स्फुरित गमक निर्मित होता है। जैसे :—ग गे ग ग रे ऽ ऽ ऽ सारांशतः सितार-वाद्य के "जम जमा" की अति शीघ्र गति से बारंबार उच्चारण करने से स्फुरित गमक प्रतीत होता है। कण्ठ-संगीत में कण्ठ द्वारा ऐसे प्रयोग किये जाते हैं।

स्फुरित गमक का अर्थ अन्य प्रक्रिया से भी आज प्रचारित है। जिस प्रकार कंपन गमक अर्थात् 'जम जमा' में मूल स्वर के पश्चात् के स्वर का कण दिया जाता है उसी प्रकार उसके पूर्व के स्वर का भी स्पर्श प्रयुक्त होता है। 'रि' स्वर मूल हो और उसका उच्चारण गांधार एवं षड्ज स्वर के शीघ्र स्पर्श करने से "गरेसारे" प्रयोग से होता हो तब उसे साधारण रूप में मुरकी अथवा (रे) 'कंस स्वर' (Bracket note) कहा जाता है। सितार में ऐसा स्वर-प्रयोग मिजराब के एक ही आघात से किया जाता है। मिजराब के एक ही आघात में चार स्वरोंयुक्त यह स्वर ध्वनि कपन एव स्फुरित गमक के मिश्रण से होती है। इस प्रकार स्फुरित गमक के दो प्रकार (१) रे ऽऽऽ व (२) 'गरेसारे' (रे) माने जाते है।

३. आहत गमक :—आहत का अर्थ किसी पर आघात करना होता है। उक्त कंपन गमक को आज 'जमजमा' या कण-स्वर के रूप में जाना जाता है। उसी जम जमा के प्रयोग में ऋषभ को गांधार का कण दिया जायेगा किन्तु यह कण एक

ही परदे पर तार को खींचकर दिया जायेगा। इसका दूसरा प्रयोग यों भी माना जाता है, जम जमा में मूल स्वर के पश्चात् का जो कण दिया जाता है उसका किंचित् स्पर्श मात्र दिखाई देता है, जिसकी गति अति तीव्र होती है। किन्तु आहत गमक में यह स्पर्श कुछ गंभीर रूप में स्पष्टतः दिखाई देता है, अर्थात् इसमें पश्चात् के या पूर्व के स्वर का कण आघात द्वारा स्पष्टतः ध्वनित होता है, जिसे आज खटका कहते हैं। कंपित गमक अर्थात् जम जमा में व आहत में यह भेद स्पष्ट है कि आहत गमक में एक ही परदे पर उसके पश्चात् का स्वर झटके के साथ उच्चारित होता है या जम जमा के प्रयोग में कण-स्वर का कुछ गंभीर रूप में स्पष्ट झटके से स्वर को उच्चारित किया जाता है। आहत गमक को आज खटका यह संज्ञा दी जाती है। कभी-कभी कंठ गायन में आहत को आलंकारिक रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है जैसे स रे ग म अलंकार बनाते समय 'रि' को 'सा' स्वर का स्पष्ट आघात, 'ग' स्वर को 'रि' स्वर का स्पष्ट आघात दिया जाकर आलंकारिक रूप प्रदान किया जाता है।

४. आंदोलित गमक.—आंदोलन दोलन शब्द महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ झुलाना होता है। स्वर को झुला देने का अर्थ यह हुआ कि उसे पूर्व के स्वर तथा पश्चात् के स्वर के स्पर्श सहित उच्चारित किया जाये अर्थात् उसे झुलाया जाये। यही आंदोलित गमक है, आंदोलित गमक के भी दो रूप आज प्रचलित हैं। प्रथम प्रकार का उदाहरण यह है कि कोमल गांधार को उसके पश्चात् के शुद्ध मध्यम स्वर के गंभीर व किंचित मीड-युक्त स्पर्श से गाया जाये जैसे ममम म / ग॒ऽऽऽ। दूसरा आंदोलन का प्रकार यह है कि कोमल गांधार स्वर को उक्त प्रक्रिया द्वारा मध्यम स्वर से आंदोलित करने के तत्काल पश्चात् उसके पूर्व के स्वर ऋषभ से भी किंचित् स्पर्श से झुलाया जाये व यह प्रक्रिया बार-बार उसी गति में की जाये तो आंदोलित गमक का दूसरा रूप दिखाई देता है। आज उक्त दोनों ही प्रकार आंदोलित गमक के रूप में प्रयुक्त होते हैं। आज भारतीय शास्त्रीय संगीत में आंदोलित स्वर, राग के विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण अंग समझे जाते हैं।

५. प्लावित गमकः—एक स्वर से दूसरे स्वर तक कण्ठ को विच्छिन्न न करते हुए जो दो स्वरों का प्रयोग किया जाता है, उसे प्लावित गमक कहते हैं। आज इसे 'मीड' संज्ञा दी जाती है। कण्ठ-संगीत में यह प्रयोग अवरोही प्रक्रिया में अधिक स्पष्ट होता है, जैसे पग, इन दो स्वरों का उच्चारण करते समय दोनों स्वरों के बीच की ध्वनि की विच्छिन्न अवस्था नष्ट करके उस ध्वनि का एक ही श्वसन-क्रिया में किंचित् मोड़ देकर उच्चारण किया जाये। ऐसे उच्चारण में पंचम स्वर के उच्चारण के विस्तार (Magnitude) में एक ही श्वसन में गांधार स्वर के उच्चारण तक पहुंचने की क्रिया के कारण किंचित् संकुचन सा दिखाई देता है व उसके पश्चात्

गांधार स्वर के उच्चारण की ध्वनि उसी पंचम स्वर के ध्वनि-उच्चारण के समान हो जाती है। अर्थात् प एवं ग दोनों ही स्वरों की ध्वनि विच्छिन्न न होते हुए दोनों स्वरों के बीच की ध्वनि में किंचित् संकुचन लाकर ग तक की ध्वनि का उच्चारण एक ही श्वसन-क्रिया में जब किया जाता है तब उसे प्लावित या मींड गमक कहते हैं। इसे किंचित् अर्धचंद्राकार रूप में लिपिबद्ध किया जाता है, जैसे पग, यह अर्ध-चंद्राकार मीड-निर्देशक कहा जाता है।

६. उल्लसित गमकः—इसमें प्रत्येक स्वर अपने पूर्व के स्वर से इस प्रकार स्पर्श करता है जिससे यह प्रतीत हो कि वह स्वर हिल रहा है। उल्लसित अर्थात् उत्साहित प्रवृत्ति में जैसी भावाभिव्यक्ति दिखाई देती है उसी प्रकार का इस गमक के उच्चारण में कोमलता का भाव होता है। इसमें खटका, मुरकी तथा झटके का उच्चारण नही होता बल्कि हिले हुए स्वर का उच्चारण रेशम जैसा कोमल होता है, जैसे स रे सा, रे ग रे अथवा स रे स रे सा, रे ग रे ग रे। मूल स्वर को उसके पूर्व के स्वर से हिलाने के स्थान पर उसके पश्चात् के स्वर से भी किंचित् हिलाने की प्रक्रिया इस
ग ग रे रे म म ग ग
गमक प्रकार के अंतर्गत होती है। जैसे रे रे, सा सा एव ग ग रे रे उक्त दोनों प्रकार के गमकों का आज भारतीय शास्त्रीय संगीत में प्रयोग दिखाई देता है। स्वरों के कोमलतापूर्वक उच्चारण से विभिन्न अलंकारों की रचना में उल्लसित गमक का अधिकतर प्रयोग किया जाता है जिससे कि गायन-वादन में कोमलता के भाव की अभिव्यक्ति सम्यक् होती है।

७. त्रिभिन्न गमकः—यहां 'त्रि' का अर्थ तीन सप्तक समझा गया है जिसके फलस्वरूप तीनों ही सप्तकों में समान स्वरों का क्रमशः तत्काल उच्चारण होता है। यदि मध्यसप्तक में म प गाया जाये तो उसके तत्काल पश्चात् वही म प स्वर युगल तार-सप्तक में मं पं करके गाया जाये और उसके पश्चात् शीघ्र ही वही स्वर-युगल मंद सप्तक में म़ प़ करके भी गाया जाये। ऐसी प्रक्रिया में अर्थात् मध्य सप्तक में म प स्वर युगल के उच्चारण के पश्चात् तार-सप्तक में उन्ही स्वरों का गायन करते समय कण्ठ द्वारा घसीट जैसी क्रिया होती दिखाई देती है। सितार या वीणा में यह क्रिया घसीट ही कहलाती है, जिसे सूत भी कहते हैं। इसी प्रकार तार-सप्तक के मं पं के उच्चारण के पश्चात् शीघ्र ही जब म़ प़ स्वर मंदसप्तक में गाने की क्रिया की जाती है तब कभी कभी किंचित् मींड का भी आभास होता है किन्तु यह आवश्यक नही है कि उसे इस प्रकार मीड दी ही जाये। मींड के बिना भी तार-सप्तक से मंद्र सप्तक के स्वर गाये-बजाये जाते हैं, म प, मं पं तथा म़ प़, यह त्रिभिन्न गमक का उदाहरण है।

८. तिरिप गमकः—इसमें स्वर का प्रयोग अतीव शीघ्रता से किया जाता है। यदि यह कहा जाये कि स्वर को संपूर्ण मात्रा-काल में बोलने के स्थान पर एक तुर्यांश मात्रा-काल में ही उच्चरित किया जाता है तो अनुचित न होगा। यदि

एकताल में निबद्ध, सा रे । ग म । ध प, इस स्वरलिपि में सा के पश्चात् रे स्वर का उच्चारण ऋषभ स्वर के तीन चतुर्थांश मात्रा-काल के पश्चात् ऋषभ स्वर के पूर्ण मात्राकाल को एक चतुर्थ मात्रा-काल कर दिया जाये, जिसका संकेत स्वर लिपि पद्धति में सा, रे इस प्रकार लिखा हुआ दिखाई देते हैं तो तिरिप गमक की सर्जना होगी। आज प्रचलित हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति की भातखण्डे-स्वर-लिपि-पद्धति के शास्त्रीय गीत-प्रकारों में ऐसे प्रयोग स्पष्ट दिखाई देते हैं, जिन्हें 'तिरिप' गमक के अतर्गत माना जाता है।

९. बली गमक:—इस गमक प्रयोग में चार स्वरों को इस प्रकार बार-बार शीघ्रता से गाया-बजाया जाता है कि उस उच्चारण के अनेक वलय अर्थात् चक्र जैसे बनते प्रतीत होते है। सा रे ग रे इन चार स्वरों के बार-बार शीघ्रता से गाये जाने से गायन में वैचित्र्य एव विशिष्ट मनोरंजकता निर्मित होती है। इसमें सा रे ग रे के स्थान पर 'ग रे सा रे' या रे ग म ग जैसे अन्य चार स्वरों के बार-बार शीघ्रतापूर्ण उच्चारण से भी बली गमक की रचना होती है।

१०. हुम्पित गमक—हुम्पित के उच्चारण में मूल स्वर का उस राग में निषिद्ध स्वर से सहज ही स्पर्श होता है। निषिद्ध स्वर से किंचित् स्पर्श भी राग में निषिद्ध समझा जाता है किन्तु मूल स्वर के पूर्व का निकटतम स्वर उस राग में यदि वर्जित हो तो इस गमक में उस मूल स्वर के निकट की श्रुति का सहज ही उच्चारण होता रहता है। भारतीय शास्त्रीय सगीत राग-माधुरी (Melody) पर आधारित है, जिसमें वाद्य या कण्ठ द्वारा स्वर का एकदम से नियत स्थान पर पहुंचाना या खड़ा स्वर लगाना रसहानिकारक माना जाता है। कभी कभी कण या किसी गमक-प्रयोग के विना ऐसा 'खडा स्वर-प्रयोग' वैचित्र्यदायक अवश्य माना जायेगा, परन्तु यह केवल वैचित्र्य की दृष्टि से एक या दो बार ही क्षम्य माना जा सकेगा। अतः मूल स्वर के उच्चारण के पूर्व या पश्चात् के निकटतम स्वर का अथवा निकटतम श्रुति का मूल स्वर से जो सहज ही स्पर्श होता रहता है, उस प्रक्रिया तो हुम्पित गमक कहते हैं।

११. लीन गमक—यह गमक-प्रकार किंचित् मींड अर्थात् प्लवित गमक जैसा दिखाई देता है। जैसे प ग के उच्चारण में प स्वर को किंचित् मींड देकर गांधार स्वर गाते ही गांधार के उच्चारण को शीघ्र ही बद कर दिया जाता है; ऐसी प्रक्रिया में गांधार स्वर का उच्चारण पूर्ण मात्राकाल का न होकर उसकी समयावधि का १/४ अंश ही होता है। किन्तु दूसरी ओर पंचम स्वर पर अधिक समय तक श्वसन-क्रिया को रोक कर उस पंचम स्वर में ही लीन हो जाने से लीन गमक का प्रयोग दिखाई देता है। भारतीय शास्त्रीय संगीत के गायक लीन गमक का एक दूसरा प्रकार भी प्रयुक्त करते हुए दिखाई देते हैं जिसमें वे तार सप्तक से सां पर अधिक समय तक ठहरते हैं व उसी स्वर में लीन हुए प्रतीत होते हैं। लीन गमक का प्रथम रूप कम प्रयोग में दिखाई देता है। सारांश यह है कि लीन गमक स्वर पर अधिक समय

तक ठहराव पर ही निर्भर करता है। इसमें श्वसन-क्रिया को रोककर उसी एक स्वर में लीन हो जाने की प्रक्रिया होती रहती है।

१२. मुद्रित गमक—मध्य सप्तक के किसी स्वर को मंद्र सप्तक के किसी स्वर का किंचित् स्पर्श देकर उच्चरित करने से ऐसा स्वर मुद्रित स्वर कहा जाता है। जैसे मध्य सप्तक के ग स्वर को मंद्र स्वर के नि़ का किंचित् स्पर्श देकर गाया जाये तो इसे गांधार स्वर नि़ से मुद्रित हुआ कहा जायेगा।

१३. कुरुला गमक—गमक का यह प्रकार अति सूक्ष्म होता है। सा रे ग म गाते समय सा ऽ ऽ रे ग म इस प्रकार गाने से इसमें ऋषभ स्वर का किंचित् आभास मात्र होता है, जिसे कुरुला गमक कहा जाता है।

१४. नमित गमक—इस गमक-प्रकार में किंचित् मीड का अश दिखाई देता है, क्योंकि इसमें दो स्वरों के प्रयोग में तीसरे स्वर का स्पर्श किंचित् मींड द्वारा किया जाता है। ग सा स्वर-युगल का उच्चारण करते समय गाधार के पश्चात् मध्य की

म

ध्वनि का किंचित् आभास मात्र देकर म ग सा का स्वर-युगल गाया जाता है।

१५. मिश्रित गमक—साधारणतया इस गमक-प्रक्रिया मे दो गमक-प्रक्रियाओं का मिश्रण दिखाई देता है। जैसे ग रे सा रे इस वली गमक का स्फुरित अर्थात् कस स्वर के गमक के साथ मिश्रित प्रयोग अनेक गायक-वादक करते हुए दिखाई देते है।

उक्त गमक प्रकार दक्षिणी अथवा कर्नाटकी पद्धति में इन्ही नामो से प्रयुक्त किये जाते है, किन्तु हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति मे गमक विभिन्न नामों से प्रचलित हैं, जिनका संक्षिप्त वर्णन उपर्युक्त विवरण मे किया गया है।

आज हिन्दुस्तानी संगीत में 'निर्जवन' नामक एक स्थाय विशेष है, जिसमे मेघगर्जना के समान हकार एवं हुंकार द्वारा स्वरों को आंदोलन दिया जाकर 'गमक' का प्रयोग होता है। भारतीय शास्त्रीय संगीत में इस 'निर्जवन' नामक स्थाय के गमक का प्रयोग कतिपय निश्चित रागो में ही किया जाता है, जिससे उन रागो का गायन-वादन अतीव रुचिकर हो जाता है। ऐसे गमक-प्रयोग उस राग विशेष की प्रकृति एवं चलन के अनुकूल होकर रागाभिव्यंजक सिद्ध होते है। यही इस गमक-प्रयोग की विशेषता है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न प्रकारों के गमकों का प्रयोग भारतीय शास्त्रीय सगीत में अनिवार्य है। कण स्वर, आंदोलन, खटका, मुरकी व कंम स्वर आदि विभिन्न गमकों के द्वारा भारतीय सगीत विशिष्ट रूप से रोचक, मनोरंजक एवं रसभावाभिव्यंजक बना है।

वाग्गेयकार—वाग्गेयकार शब्द का संधिविग्रह वाक् + गेय + कार होता है; वाक् अर्थात् वाचा गेय अर्थात् गायन करने योग्य एव कार अर्थात् कारक। वाक् अर्थात् वाचा-वाणी या भाषा के आधार पर पद्य-रचना (कविता) एवं गेय अर्थात् गायन करने योग्य स्वर-रचना और पद्य रचना के भावार्थ के अनुकूल संवेदनशील व

मनोरंजक स्वर-रचना करने वाले को वाग्गेयकार कहा जाता है। साहित्य के अंतर्गत समाविष्ट होने वाले व्याकरण, छंद, यति-भेद, भाषा आदि का तथा संगीत, कला एवं शास्त्र का सम्पूर्ण ज्ञान रखने वाले को वाग्गेयकार (Composer) कहा जाता है। प० शारंगदेव कृत "संगीत रत्नाकर" मे वाग्गेयकर की परिभाषा देते हुए कहा गया है :—

वाङ्-मातुरुच्यते गेयं धातेरित्यभिधीयते।
वाच गेयं च कुरुते यः स वाग्गेयकारकः॥

संगीत-रत्नाकर के उक्त कथन में वाक् शब्द को 'मातुः' एवं गेय शब्द को 'धातु' ऐसी पारिभाषिक संज्ञाएं दी हुई है। यहा मातु का अर्थ पद-रचना एवं धातु का अर्थ स्वर रचना समझना चाहिए। पं० लोचन कवि (मध्यकालीन) ने संगीत-रत्नाकर के उक्त कथन को किंचित् विशद अर्थ में इस प्रकार स्पष्ट किया है—

धातुमातु समायुक्त गीतमित्युच्यते बुधैः।
तत्र नादात्मको धातुरक्षर संभवः॥

उक्त विश्लेषण मे धातु (स्वर-रचना) एवं मातु (पद-रचना) के समन्वय से गीत की रचना होती है। नादात्मक रचना को धातु तथा अक्षरात्मक रचना को मातु कहते हैं।

संगीत-रत्नाकर में धातु अर्थात् स्वर रचना-संगीत कला एवं संगीत शास्त्र तथा मातु अर्थात् पद-रचना यानी संपूर्ण साहित्य, दोनो का सपूर्ण ज्ञान रखने वाले उत्तम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ वाग्गेयकार के निम्नांकित लक्षण बताये गये हैं :—

१. शब्दानुशासन ज्ञान—शब्दों की रचना किस प्रकार अनुशासित होती है, इस सबंध मे व्याकरण-शास्त्र का संपूर्ण ज्ञान।
२. अभिधान प्रवीणता—संस्कृत के अमरकोष तथा अन्य भाषा के शब्दकोष आदि का ज्ञान।
३ छंद-प्रभेद-वेदित्व—काव्य के उपयुक्त सर्वप्रकार के छदों के प्रभेदों का ज्ञान हो, जिससे पद्य रचना छदानुशासित हो सके।
४. अलंकार कौशल—साहित्य में अंकित उपमा, रूपकादि अलंकारों के उपयुक्त रचना-कौशल की क्षमता।
५. रस-भावपरिज्ञान—साहित्य-शास्त्र में समाविष्ट शृंगार, वीर, बीभत्स आदि रसों तथा क्रोध, शातादि भावों का परिपूर्ण ज्ञान।
६. देशस्थिति ज्ञान—विभिन्न देशों की संस्कृति एवं रूढ़िगत परंपराओं का ज्ञान।
७. अशेष भाषा-ज्ञान—विभिन्न देशो में प्रचलित भाषाओं का ज्ञान।
८. कलाशास्त्र कौशल—विभिन्न कलाओं एवं विभिन्न शास्त्रों में परिपूर्ण रूप से पारंगत।

९. तूर्य त्रितयचातुर्य—संगीत में समाविष्ट गीत, वाद्य एवं नृत्य-कलाओं में चतुर।

१०. हृद्य शारीर शालिता—हृद्य का अर्थ हृदय को प्रसन्न करने योग्य समझा जाना चाहिए व जिसे ऐसा मनोहर शरीर प्राप्त हुआ है, वह हृद्य शरीर कहा जायेगा। शरीर शब्द यहां सांगीतिक पारिभाषिक शब्द माना जाये । उसका पारिभाषिक अर्थ यह होगा कि कण्ठ का शरीर अर्थात् कंठ की क्षमता ऐसी हो जिससे अधिक श्रम एवं अभ्यास के बिना राग की अभिव्यक्ति सहज सुलभ रीति से हो सके और संगीत हृद्य अर्थात् मनोहारी हो सके ।

११. लयताल कलाज्ञान—विभिन्न प्रकार के ताल, कला (मात्राएं) एवं विभिन्न प्रकार की लयकारी का ज्ञान ।

१२. अनेक काकुज्ञान—"काकु ध्वनिर्विकारः" अर्थात् ध्वनियों के विभिन्न प्रकारों के विकारों को काकु कहते हैं। उदाहरण स्वरूप स्वर-का कु में एक ही स्वर के विभिन्न शैलियों द्वारा निर्मित विभिन्न विकार भाव समाविष्ट माने जाते हैं, उक्त शैलियो के स्वर-उच्चारण द्वारा निर्मित विभिन्न भावों के ज्ञान को स्वर-काकुज्ञान समझा जाता है। इस प्रकार संगीत के अतर्गत 'काकु' पारिभाषिक शब्द माना जाता है । संगीत में (१) स्वर-काकु (२) राग-काकु (३) देश-काकु (४) क्षेत्र-काकु, (५) अन्य राग-काकु (६) यंत्र-काकु ऐसे छः काकु-भेद बताये गये हैं जिनका ज्ञान वाग्गेयकार के लिए आवश्यक है ।

१३. प्रभूत प्रतिभोद्‌भेद भाक्त्व—नित्य नूतन प्रयोग सृजन करने की क्षमता युक्त अलौकिक प्रतिभा अर्थात् बुद्धि ।

१४. सुभग गेयता—सुखद गायन करने की क्षमता ।

१५. देशी राग ज्ञान—देशी संगीत के अंतर्गत आने वाले प्रचलित शास्त्रीय संगीत के सर्व रागों का यथार्थ ज्ञान ।

१६. वाक्‌पटुत्व—साहित्य एवं संगीत संबंधी उचित और प्रभावशाली वक्तृत्व करने की पटुता जिसमें है ।

१७. रागद्वेष परित्याग—किसी भी राग के प्रति अरोचक भाव का परिपूर्ण रूप से त्याग होना चाहिए अर्थात् सभी रागो के प्रति रोचक भाव हो।

१८. साद्रत्व—कण्ठ एवं वाणी में सरलता, रोचकता एवं स्नेहभाव ।

१९. उचितज्ञता—स्थान, स्थिति एवं समय के अनुसार उपयुक्त भाषण तथा गायन का ज्ञान ।

२०. अनुच्छिष्टोक्ति निर्बंध—स्वयं स्फूर्ति के अंतर्गत रचना शक्ति ।

२१. मूल धातुविनिर्मिति ज्ञान—नित्य नूतन धातु अर्थात् स्वर-रचना करने का ज्ञान ।

२२. परचित्त परिज्ञान—वक्तृत्व एवं गायन करते समय श्रोताओं के चित्त में उठने वाले भावों का ज्ञान ।

२३. प्रवंध प्रगल्भता—प्रवंध, वस्तु, रूपक आदि विभिन्न गीत-प्रवंध-प्रकारों का ज्ञान।

२४. द्रुतगीत विनिर्माण—शीघ्र-कवित्वशक्ति।

२५. पदांतर विदग्धता—विभिन्न गीत-प्रकारो एवं विभिन्न गायन-शैलियों को अनुकरणात्मक शक्ति।

२६. त्रिस्थानगमक प्रौढि—कंपित, स्फुरित, तिरिप, बलि आदि विभिन्न गमक-प्रकारों को मंद्र, मध्य एवं तार तीनों सप्तकों में गायन करने की क्षमता।

२७. आलप्ति नैपुण्य–राग लक्षणों से युक्त रागालाप, रूप का आलाप एवं आलप्ति-गायन करने की निपुणता।

२८. अवधान—साहित्य एवं संगीत संबंधी वक्तृत्व तथा गायन करते समय पूर्ण रूप से विषय विशेष में विलीन एवं एकाग्रचित्त होना।

उक्त अट्ठाईस गुणों से युक्त व्यक्ति को संगीत रत्नाकर में सर्वश्रेष्ठ वाग्गेयकार की संज्ञा दी गई है। आगे मध्यम एवं अधम वाग्गेयकारों के लक्षणों के संबंध में संगीत रत्नाकर में कहा गया है :—

विदधानोऽधिकं धातुर्मातु मंदस्तु मध्यमः। धातुमातु विदः प्रौढः प्रबन्धेष्वपि मध्यमः ॥ रम्य मातुर्विनिर्माताऽप्यधमो मंदधातुकृत् ॥

जिसे संगीत (धातु याने स्वर रचना) का अधिक ज्ञान व धातु अर्थात पद्य रचना (साहित्य) का संगीत की अपेक्षा गौण रूप में ज्ञान होता है उसे मध्यम वाग्गेयकार की सज्ञा दी जानी चाहिए।

जिसे संगीत (धातु-स्वर रचना) का ज्ञान कम तथा साहित्य (मातु-पद्य रचना) का संगीत की तुलना में अधिक ज्ञान हो ऐसे वाग्गेयकार को निम्न श्रणी का अधम) वाग्गेयकार कहा जाता है।

वाग्गेयकारों के संबंध में उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य अवश्य स्पष्ट होता है कि साहित्य एवं संगीत (शास्त्र एवं कला) अथाह सागर हैं, उनकी गहराई तक पहुंचकर, और साहित्य एवं सगीत रूपी रत्नालंकारों से विभूषित होकर और स्वयं प्रसन्नचित्त होते हुए दूसरों को प्रसन्नचित्त करने का महान् कार्य एक कठिन तपस्या है।

अध्याय १०

आधुनिक काल में संगीत की प्रगति

संगीत के इतिहास में साधारणतया-आधुनिक काल का प्रारंभ अट्ठारहवी शताब्दी के पूर्व प्रथम चरण से माना जाता है। सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक एक सप्तक में १२ स्वर माने जाकर थाट व तज्जन्य राग-पद्धति का विकास होता दिखाई देता है, इसके साथ साथ विभिन्न मतो के आधार पर ६ राग तथा ३६ रागणियां, पुत्र राग, पुत्र-वधुओं की रागिणी आदि की भी एक पद्धति का प्रचलन हो चुका था। व्यावहारिक दृष्टि से रागालाप, रूपकालाप, आलाप आदि राग-लक्षणों द्वारा राग का विस्तार किया जाता था। ध्रुवपद का गायन सर्वश्रेष्ठ माना जाता था एवं ख्याल गायन भी रुचिकर होकर लोकप्रिय होता जा रहा था।

अट्ठारहवी शताब्दी के प्रारंभ में मुगल बादशाह औरंगजेब के शासन के अंतिम चरण में दक्षिण के पं. व्यंकटम खा ने "चतुर्थंद्वि प्रकाशिका" ग्रंथ द्वारा थाट व तज्जन्य राग-पद्धति का प्रचलन किया। उस काल में शासक की संगीत के प्रति अरुचि होने के कारण संगीत की अतीव शोचनीय स्थिति बन गई थी।

इसके पश्चात् संगीत को अपनी इस शोचनीय अवस्था से पुनः उच्च व सम्मानजनक अवस्था मुस्लिम शासन के अंतिम शासन मोहम्मद शाह के समय में प्राप्त हुई। मोहम्मद शाह स्वयं संगीत-प्रेमी था तथा उसने तत्कालीन संगीत-ग्रन्थों को उचित सम्मान प्रदान करके और तानसेन-परंपरा के सदारंग एवं अदारंग जैसे गायकों को अपने दरबार में आश्रय देकर संगीत को उच्च सम्मान प्रदान किया। सदारंग अदारंग द्वारा कलावन्ती (बड़े ख्याल) ख्यालों की रचनाएँ हुईं, उसी समय से शास्त्रीय संगीत में बड़े ख्याल के गायन का श्रीगणेश हुआ। इसी काल में शास्त्रीय संगीत के अंतर्गत गुलाम नबी द्वारा पंजाबी भाषा में रचित टप्पा गीत-प्रकार उप-शास्त्रीय संगीत के रूप में प्रचार में आया।

साराश यह है कि अट्ठारहवी शताब्दी के पूर्वार्ध में ही ख्याल-गायन श्रेष्ठ श्रेणी का गायन माना जाने लगा तथा टप्पा-गायन-प्रणाली की ओर जनसाधारण की रुचि बढ़ने लगी। अर्थात् आधुनिक काल के प्रारंभ होने के पूर्व बारह स्वरों का सप्तक, थाट व तज्जन्य राग-पद्धति, ध्रुवपद, ख्यालादि का गायन तथा टप्पा-गायन आदि प्रचार में था व संगीत को उचित राज्याश्रय प्राप्त होने के कारण संगीत-शास्त्र व कला सम्मानित स्थिति में थे, यह कहना अनुचित न होगा। इसके पश्चात् अर्थात् अट्ठारहवी शताब्दी के पूर्वार्ध के पश्चात् संगीत के आधुनिक काल का प्रारंभ हुआ।

इस काल में बीकानेर के नरेश अनूपसिंह के नाम पर पं. भावभट्ट ने उत्तर पद्धति विषयक 'अनूप संगीत-रत्नाकर', 'अनूप-विलास' तथा 'अनूपांकुश ग्रंथ लिखे। उनमें उन्होने थाट व तज्जन्य राग-पद्धति का समर्थन किया है। अट्ठारहवी शताब्दी के अंतिम चरण तक इस स्थिति में विशेष परिवर्तन हुआ दिखाई नही देता है। किन्तु १९ वी शताब्दी के प्रारंभ में ही १८०४ में जयपुर-नरेश राजा प्रतापसिंह देव द्वारा 'संगीत-सार' पुस्तक का सृजन हुआ, जिसमें हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति का शुद्ध स्वर सप्तक बिलावल होना चाहिए, ऐसा कहा गया है और राग-रागिणी प्रपंच को अनुमोदित करते हुए मुख्यतया (१) भैरव (२) मालकोस (३) हिंडोल (४) श्री (५) मेघ एवं (६) नट, इन छः रागों की राग-रागणी-व्यवस्था को आधारभूत माना जाये, यह अभिमत भी प्रतिपादित किया गया है। इसी काल में कृष्णानंद व्यास द्वारा 'संगीत-कल्पद्रुमाकुर' ग्रंथ लिखा गया। इसमें भी बिलावल सप्तक को मूल सप्तक माना जाये, ऐसा प्रतिपादन है। जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह देव ने इसी काल में अनेक संगीत-विद्वानों को आमन्त्रित करके एक वृहद् सम्मेलन किया, जिसमें निर्णयात्मक रूप से हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति का मूल शुद्ध सप्तक बिलावल है, ऐसा मापदण्ड (Standard Scale) निश्चित हुआ (१७७९-१८०८)।

ईसवी सन् १८१३ के लगभग मुहम्मद रजा ने 'नगमाते आसफी' ग्रन्थ द्वारा बिलावल सप्तक को हिन्दुस्तानी संगीत का मापदण्ड (Standard Scale) स्वीकृत करते हुए 'राग-रागिणी-व्यवस्था' का कोई तर्कपूर्ण आधार खोजने का प्रयत्न किया।

उन्नीसवी शताब्दी मे बिलावल सप्तक को शुद्ध सप्तक स्वीकार किया गया। किन्तु राग-रागिणी व थाट एव तज्जन्य राग-व्यवस्था के संबंध में संघर्ष चलता रहा। 'कण्ठ कौमुदी' 'संगीत-सार' व 'यंत्र क्षेत्र दिशि' पुस्तकों द्वारा राग-रागिणी-व्यवस्था का प्रचार हुआ। परिणामस्वरूप थाट व तज्जन्य राग-व्यवस्था हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति में ज़ड पडकने लगी और एक सुनियोजित व्यवस्था के रूप में सर्वमान्य होती चली गयी। १९ वी शताब्दी के अंतिम चरण में थाट व तज्जन्य राग-पद्धति पूर्ण रूप से स्वीकृत हो चुकी थी।

प० विष्णुदिगंबर पलुस्कर व पं० विष्णु नारायण भातखंडे (चतुर पंडित) इन महान् विभूतियों से भारतीय शास्त्रीय सगीत को एक व्यवस्थित एवं सुनियोजित दिशा प्राप्त हुई, किन्तु ब्रिटिश शासन-काल में १९ वी शताब्दी के अंतिम चरण व २० वी शताब्दी के प्रारंभिक चरण के मध्यावकाश में पाश्चात्य संस्कृति एवं पश्चिमी सगीत का भारतीय शास्त्रीय संगीत पर प्रभाव पड़ना शुरू हो चुका था। किन्तु शास्त्रीय संगीत के सौभाग्यवश पं० पलुस्कर तथा 'चतुर' पं० भातखण्डे की निम्नलिखित पुस्तकों ने भारतीय शास्त्रीय संगीत का पुनरुद्धार किया——

क्रमांक	पुस्तक का नाम	नाम रचयिता
१.	संगीत बाल प्रकाश, भाग १, २, ३	प. पलुस्कर
२.	संगीत-पुस्तक, भाग १, २	पं. पलुस्कर

३.	मृदंग तबलावादन-पद्धति भाग-१	पं. पलुस्कर
४.	संगीत-शास्त्र भाग १ से ४	पं. भातखण्डे
५.	श्रीमल्लक्ष्य-संगीतम्	पं. भातखण्डे
६.	अभिनव राग-मंजरी	पं. भातखण्डे
७.	हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति भाग १ से ६ क्रमिक पुस्तक मालिका	पं. भातखण्डे
८.	A short historical survey of Indian Music.	पं. भातखण्डे

उक्त पुस्तकों के प्रकाशनो के अतिरिक्त अप्पा तुलसी कृत रागकल्प-द्रुमांकुर, राग-चंद्रिका, चंद्रिका-सार व गोस्वामी पन्ना लाल रचित 'नादविनोद' एवं श्री डी.के. जोशी कृत 'रागलक्षण' आदि पुस्तकों के प्रकाशन द्वारा भी हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति को सुव्यास्थित स्वरूप प्राप्त होता रहा। ग्वालियर, रीवां, रायपुर, महिय्यर, लखनऊ, बनारस, बड़ोदा, पटियाला, काश्मीर आदि स्थानों के नरेशों एवं नवाबों से संगीतज्ञों को सम्मान मिलने लगा। संगीत-गायकों एव वादकों को दरबारी गायक या वादक नियुक्त किया जाकर उन्हें श्रेष्ठ एव सम्मानजनक आश्रय दिया गया। दरबाराश्रय के फलस्वरूप सदारंग-अदारंग-परम्परा के हद्दू खां एवं हस्सू खां ने ग्वालियर में ख्याल-गायन का प्रचार किया, फलतः ग्वालियर-ख्याल-गायकी सर्वश्रेष्ठ एवं सभ्य गायकी मानी गई। इस ख्याल-गायकी को 'ग्वालियर घराना' नामक संज्ञा प्राप्त हुई।

इसके पश्चात् पं. भातखण्डे द्वारा आयोजित और प्रवर्तित विभिन्न संगीत-सम्मेलनों एवं संगीत संस्थाओं के माध्यम से राग, स्वर एवं ताल के साथ साहित्य-युक्त पद्य का समन्वय किया गया और थाट व तज्जन्य राग-प्रणाली इससे सुसंस्कृत एवं काव्य-रसाभिव्यंजक भी बनी। संगीत, साहित्य एवं कला के पारस्परिक निकटतम संबंध का महत्त्वपूर्ण तथ्य इस प्रकार उद्घाटित हुआ।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में ही पं. पलुस्कर ने लाहौर में गांधर्व महाविद्यालय-मण्डल की स्थापना की और संगीत की अपनी निजी स्वरलिपि प्रचारित कर लोगों को संगीत-शिक्षा उपलब्ध कराई। इसी काल में ग्वालियर-घराने की शिक्ष्य-परंपरा द्वारा भी ख्याल-गायकी का सर्वत्र प्रचार होता रहा। इसके फलस्वरूप अनेक गायक-वादक पैदा हुए और परिणामतः किराना, आगरा, जयपुर, इन्दौर, पटियाला आदि घरानों की नीव पड़ी। विभिन्न घरानों के प्रचार से जहाँ संगीत का प्रचार होता रहा वही उसमें मत-मतांतर भी उभरकर सामने आने लगे। इसी प्रकार महाराष्ट्र, बड़ोदा, इंदौर एवं नागपुर आदि स्थानों पर नाट्य के प्रति रुचि बढ़ी और नाट्य संगीत का एक वर्ग पृथक् रूप से उभरा। पाश्चात्य संगीत से प्रभावित सिनेमा-संगीत का भी प्रचार होने लगा। ऐसी दुरवस्था में पं. पलुस्कर जी के ख्याल-गायन एवं भक्ति रसात्मक भजनों द्वारा संगीत का प्रत्यक्ष प्रचार हुआ। उधर पं. भातखण्डे जी ने

भारत भ्रमण कर इसका प्रचार किया। इस भ्रमण में रामपुर के नवाब का शिष्यत्व स्वीकार किया व अनेक ध्रुवपदों एवं धमारों की उनसे शिक्षा प्राप्त की। ध्रुवपद-धमार गायकी के अंतर्गत राग-लक्षण युक्त नोम-तोम का प्रत्यक्ष रूप में मार्गदर्शन देकर पं. भातखण्डे ने घरानेदार कतिपय गीत-रचनाओं (ख्याल, ध्रुवपद एवं धमार) आदि की बंदिशों को उचित शास्त्राधार दिया तथा तत्कालीन प्रचलित राग-स्वरूपों के सूक्ष्म भेद समझा कर उक्त प्रकार की गीत-रचनाओं को स्वरलिपिबद्ध करके सुलभ बनाया। उन्होने स्वरचित अनेक रागों के लक्षण गीतों को पुस्तकाकार रूप में भी प्रकाशित किया। दूसरी ओर संगीत की औपचारिक शिक्षा का कार्य भी चला। पं० पलुस्कर द्वारा लाहोर में स्थापित गांधर्व महाविद्यालय-मण्डल के बाद ग्वालियर में माधव संगीत विद्यालय और बड़ौदा में "स्कूल आफ इंडियन म्युजिक" दो संगीत-शिक्षा-संस्थाएं तत्कालीन नरेशों के प्रश्रय से पं० भातखण्डे द्वारा स्थापित हुईं। इसके पश्चात् लखनऊ में भातखण्डे संगीत-विद्यापीठ के अंतर्गत मैरिस म्युजिक कालेज की स्थापना भी हुई।

बीसवी शताब्दी के पूर्वार्ध में उक्त संगीत-शिक्षा-संस्थानों में शिक्षा प्राप्त अनेक स्नातकों द्वारा भारत के अधिकतर भागों में अनेक संगीत-शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना हुई। ग्वालियर, लखनऊ, बड़ौदा, बनारस, इलाहाबाद, अजमेर, जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, पटना, कलकत्ता, आगरा, बंबई, नागपुर, सतारा, कश्मीर, लाहौर, अमृतसर, जलंधर जबलपुर आदि नगर संगीत-शिक्षा के प्रमुख केन्द्र माने जाने लगे। उक्त स्थानों के संगीत-शिक्षा-केन्द्रों द्वारा उचित संगीत शिक्षा प्रदान करने के वैज्ञानिक एवं सुनियोजित प्रयासों के अतिरिक्त समय समय पर बृहद् संगीत-सम्मेलनों व संगीत-सभाओं के आयोजन भी होते रहे हैं। अनेक श्रेष्ठ श्रेणी के संगीत-शिक्षकों, गायकों, वादकों एवं नर्तकों के ऐसे सभा-सम्मेलनों में संपूर्ण योगदान के फलस्वरूप शास्त्रीय संगीत के प्रति लोगों की रुचि बढ़ी और शास्त्रीय संगीत एवं संगीतकारों को सभ्य एवं शिक्षित समाज में सम्मानित स्थान प्राप्त होता गया।

सूर सिंगार संसद, संगीत समाज विभिन्न प्रान्तीय म्युजिक-सर्कल्स आदि संस्थाओं द्वारा बंबई, अजमेर, कलकत्ता, दिल्ली, बनारस, इलाहाबाद, आगरा, जयपुर, हैदराबाद आदि बड़े-बड़े शहरों में श्रेष्ठ स्तर के संगीत-सम्मेलनों (Music Conferences) एवं संगीत-सभाओं (Music Seminars) का आयोजन होता रहा, जिससे शास्त्रीय संगीत के प्रति जन सामान्य में उत्साह जागृत हुआ और अनेक स्थानों पर संगीत-विद्यालयों की स्थापना हुई।

इसी काल में गायन-वादन का विषय स्कूल-शिक्षा में एक ऐच्छिक विषय के रूप में स्वीकृत किया गया। विभिन्न माध्यमिक शिक्षा-बोर्डों व विश्वविद्यालयों में स्नातक-स्तर तक संगीत-विषय के पाठ्यक्रम तैयार किये गये और इसके शिक्षण की समुचित व्यवस्था की गई। अर्थात् संगीत की गुरु-परंपरागत शिक्षा के अतिरिक्त संगीत-महाविद्यालयों में संगीत की स्वतंत्र शिक्षा एवं अन्य विषयों के साथ साथ ऐच्छिक

विषय के रूप में इसकी शिक्षा का प्रबन्ध हुआ। स्पष्ट है कि इससे भारत के अधिकतर प्रांतों में संगीत-शिक्षा का खूब प्रचार व प्रसार हुआ। यह संगीत-शिक्षा की दृष्टि से बीसवी शताब्दी के पूर्वार्ध की एक विशेष उपलब्धि मानी जा सकती है।

इसी कालावधि मे दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता, इलाहाबाद, बड़ौदा, इन्दौर, मद्रास, हैदराबाद आदि प्रमुख शहरों में आल इन्डिया रेडियो के केन्द्रो की स्थापना की गई। उच्च श्रेणी के गायक-वादकों के शास्त्रीय तथा उप-शास्त्रीय संगीत के कार्यक्रमों का प्रसारण केन्द्रों से किया गया, जिससे गायन-वादन के क्षेत्र मे नवीन कलाकारो का परिचय प्राप्त हुआ व नवीन प्रतिभाओं को इस प्रकार प्रोत्साहित किया गया। ऑल इंडिया रेडियो के दिल्ली केन्द्र से प्रति शनिवार गायन-वादन के क्षेत्र में श्रेष्ठ कलाकारों के अखिल भारतीय सगीत-कार्यक्रम की योजना के अंतर्गत अखिल भारतीय राष्ट्रीय कार्यक्रम प्रस्तुत किये जाने लगे। इस प्रकार बीसवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे आकाशवाणी संगीत के प्रचार-प्रचार का विशिष्ट माध्यम सिद्ध हुई।

सारांश यह है कि बीसवी सदी के पूर्वार्ध में अनेक संगीतज्ञों एव संगीत-शिक्षाविदों ने संगीत के क्षेत्र मे विभिन्न माध्यमों द्वारा संगीत का प्रचार-प्रसार किया। उन्होने अनेक कर्नाटकी शैली के रागों को उत्तर हिन्दुस्तानी संगीत-शैली में सम्मिलित भी किया। पं० भातखण्डे एवं पं० पलुस्कर जैसी संगीत-पुनरुद्धारक महान् विभूतियों के पश्चात् उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों को आधारस्वरूप मानकर अन्य अनेक संगीतज्ञों एवं संगीत-शिक्षाविदो ने संगीत के उत्थान के प्रति और अधिक महत्त्वपूर्ण योगदान किया। ऐसे महान् सगीतज्ञो एवं शिक्षाविदो के नाम निर्देशन करना अत्यन्त विस्तारजनक होगा, पर इन सबके अवदान से उस काल मे संगीत सुव्यवस्थित, सुनियोजित तथा संपन्न बना, यह तथ्य निर्विवाद है। इस काल में अर्थात् स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व के संगीतोपयोगी अनेक पुस्तकों का सृजन भी हुआ। कतिपय पुस्तकों की सूची निम्नांकित है:—

क्रमाक	नाम पुस्तक	नाम लेखक
१.	सगीत-शास्त्र भाग १, २, ३, ४	मैरिस म्युजिक कालेज, लखनऊ
२.	मुआरिफुन्नगमात	ठाकुर नवाव अली खाँ, लखनऊ
३.	अभिनव गीत मंजरी भाग १, २	डॉ एस. एन. रातांजनकर
४.	सगीतोपासना	आचार्य राजाभैया पूंछवाले, ग्वालियर
५.	तानमालिका भाग १, २, ३ (पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध)	आचार्य राजाभैया पूंछवाले
६.	ठुंवरी तरंगिणी	आचार्य राजाभैया पूंछवाले
७.	ध्रुवपद-धमार-गायकी	आचार्य राजाभैया पूंछवाले
८.	(अ) प्रणव भारती भाग १—३	ठाकुर ओंकारनाथ (वनारस)
९.	सगीतांजली	ठाकुर ओंकारनाथ (वनारस)
१०	व्यासकृति भाग १-४	प्रो० शकर राव व्यास, बंबई

११.	संगीत-शास्त्र-दर्शन	गांधर्व महाविद्यालय-मण्डल, मेरठ
१२.	तानमालिका १, २	डा. एस. एन. रातांजनकर
१३.	राग-विज्ञान भाग १–६	पं० विनायकराव पटवर्धन, पूना
१४.	श्रुति-स्वर-व्यवस्था	पं. फीरोज फ्रामजी, पूना
१५.	थ्योरी ऑफ इंडियन म्युजिक	श्री विशनस्वरूप
१६.	ओरिजन ऑफ राग	श्री श्रीपद वद्योपाध्याय
१७.	नार्थ इंडियन म्युजिक भाग १–२	एलेन डेनिएलो
१८.	म्यूजिक ऑफ इंडिया	एच. ए पोपले

इसी काल में पं. भातखण्डे तथा पं. पलुस्कर द्वारा लिखित पुस्तको की सूची पूर्व में प्रस्तुत की जा चुकी है।

पन्द्रह अगस्त १९४७ को भारत स्वतन्त्र हुआ, उस समय से वर्तमान काल तक संगीत खूब प्रगतिशील रहा है। स्वतंत्रता के पूर्व भारत के इनेगिने विद्यालयों मे संगीत विषय स्नातकोत्तरीय कक्षाओ में (एम. ए) पढ़ाया जाता था, किन्तु स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् बंबई एवं नागपुर शहरो के अतिरिक्त इलाहाबाद, जयपुर, बनारस, दिल्ली, हिमांचल, पंजाब, मध्यप्रदेश आदि के विश्वविद्यालयों में स्नातकोत्तरीय स्तर तक की संगीत-शिक्षा का उचित प्रबंध किया जा चुका है, जिसके फलस्वरूप संगीत-क्षेत्र मे शोध-कार्य भी प्रोत्साहित हुआ। स्वतन्त्र संगीत-महाविद्यालयो की विभिन्न स्थानो पर स्थापना के अतिरिक्त इस काल में मध्य प्रदेश के खैरागढ़ क्षेत्र मे 'इंदिरा कला-संगीत-विश्वविद्यालय' की स्थापना भी हुई, जिससे भारत की विभिन्न संगीत-सस्थाओं का सवर्द्धीकरण हुआ और परिणामतः संगीत की स्वतंत्र संस्थाओं को शिक्षा के क्षेत्र मे उचित मार्ग-दर्शन प्राप्त करने का तथा शिक्षार्थियों को औपचारिक उपाधि अर्जित करने का शुभावसर उपलब्ध हुआ। इंदिरा कला-संगीत-विश्वविद्यालय, खैरागढ़ गाधर्व महाविद्यालय-मण्डल, मिरज, प्रयाग संगीत-समिति, इलाहाबाद, प्राचीन कला केन्द्र, चण्डीगढ आदि संगीतशिक्षा-संस्थानों से संबधित अनेक सगीत-शिक्षा-सस्थान आज उक्त सगीत-शिक्षा-संस्थानों के मार्गदर्शन मे संगीत-शिक्षा प्रदान करते हुए पाये जाते हैं। उक्त संगीत-शिक्षा संस्थानों को तथा उनसे संबंधित लगभग सभी संगीत-शिक्षा-संस्थानों को भारत सरकार से उचित आर्थिक अनुदान प्राप्त होता है, जिससे आर्थिक दृष्टि से एव शिक्षा के स्तर की दृष्टि से ये संगीत-सस्थान सुचारू रूप से सचालित हो रहे हैं। संगीत-शिक्षा की प्रगति में भारत सरकार का इस प्रकार योगदान अतीव महत्वपूर्ण है।

आकाशवाणी के कई स्थानो पर केन्द्र खोले गये हैं, जिसके फलस्वरूप शहरो के अतिरिक्त गांवो मे भी जनता रेडियो के माध्यम मे शास्त्रीय संगीत सुनती रहती है। संगीत यह श्रवण विधा है। वह समय दूर नही है कि आकाशवाणी के इस माध्यम द्वारा जनता शास्त्रीय सगीत के प्रति मात्र रुचि ही नही रखेगी अपितु शास्त्रीय सगीत की शिक्षा की ओर भी उन्मुख होगी।

आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा, शास्त्रीय संगीत के प्रसार के अतिरिक्त लोक-संगीत का भी, समय समय पर, प्रसारण होता रहता है व लोक संगीत के कलाकार आज केवल सम्मानित ही नहीं किये जा रहे हैं, अपितु लोक-कला के प्रसारण के इस माध्यम से उस संगीत द्वारा जनता को प्राचीन लोक-संस्कृति का भी समय समय पर दर्शन होता रहता है। अतएव गत वर्षों में आकाशवाणी के माध्यम से शास्त्रीय संगीत एवं लोक-संगीत के प्रति अधिकतर जनता जागरूक हुई है। आकाशवाणी द्वारा युवा वर्ग को प्रोत्साहित करने हेतु शास्त्रीय-संगीत में प्रतियोगिताओं का भी आयोजन किया जाता है जिसके फलस्वरूप अनेक युवा गायक-वादक प्रकाश में आ रहे हैं। संगीत के प्रति श्रवण रुचि एवं अच्छे श्रोता-निर्माण करने के अतिरिक्त आकाशवाणी ने श्रेष्ठ कलाकारों तथा योग्य युवा कलाकारों के शास्त्रीय-संगीत को जनता तक पहुँचाने के उद्देश्य से अखिल भारतीय संगीत-कार्यक्रम के शनिवार के अतिरिक्त मंगलवार को भी आयोजन करने का निश्चय किया है।

सप्ताह में प्रति मंगलवार एवं शनिवार को योग्य युवा तथा अन्य जाने माने श्रेष्ठ कलाकारों के अखिल भारतीय संगीत-कार्यक्रम दिल्ली केन्द्र से प्रसारित किये जा रहे है, जिनमें कर्नाटकी एवं हिन्दुस्तानी दोनों ही प्रणालियों का शास्त्रीय संगीत प्रस्तुत किया जाता है। इस योजना से शास्त्रीय सगीत के योग्य किन्तु छुपे हुए युवा कलाकार आज जनता के सम्मुख प्रस्तुत हो रहें हैं और जनता दोनों ही प्रणालियों के संगीत का रसास्वादन कर पा रही है।

गीत वाद्य के कलाकारों के अतिरिक्त भारतीय शास्त्रीय संगीत के अंतर्गत आने वाली तृतीय विधा नृत्य में भी प्रगति हो रही है। गीत, वाद्य एवं नृत्य तीनों ही कलाओं के शास्त्रीय, उपशास्त्रीय एवं लोक संगीत के योग्य व श्रेष्ठ कलाकारों को भारत सरकार पद्म-विभूषण, पद्म भूषण पद्म श्री आदि की उपाधियां देकर उनका सम्मान बढ़ा रही है।

इस प्रकार की उपाधियां प्रदान करने की योजना का क्रियान्वयन जनवरी १९५४ से प्रारंभ किया गया है। इस योजना के अंतर्गत अनेक कर्नाटकी तथा हिन्दुस्तानी संगीतज्ञों एवं सगीत शिक्षाविदों को राष्ट्रपति-पुरस्कार तथा उपाधियां दी गई हैं। ऐसे कतिपय कलाकारों व संगीत शिक्षाविदों की सूची निम्नांकित है:—

क्रमांक	वर्ष	नाम	कला विशिष्ट	उपाधियां
१.	१९५४	श्रीमती सुब्बा लक्ष्मी	गायन (कर्नाटकी)	पद्म भूषण
२.	१९५५	ठाकुर ओंकारनाथ	गायन (हिन्दुस्तानी)	पद्म श्री
३.	१९५६	श्री राजाभैया पूछवाले	गायन (हिन्दुस्तानी)	राष्ट्रपति-पुरस्कार
४.	१९५८	श्री अलाउद्दीन खां	सितार	पद्म भूषण
५.	१९५८	श्री शंभू महाराज	नृत्य	पद्म श्री
६.	१९६०	श्री नफीज अली खां	गायन (हिन्दुस्तानी)	पद्म भूषण
७.	१९६१	श्री बिसमिल्ला खां	शहनाई	पद्म श्री

		डॉ, एस. एन राताजनकर	गायन	पद्म विभूषण
८	१९६४	श्री नारायण राव राजहंस (बालगंधर्व)	नाटक	पद्म विभूषण
९.	१९६७	श्री अली अकबर खाँ	सरोद	पद्म विभूषण
१०.	१९६७	श्री रवि शंकर	सितार	पद्म विभूषण
११.	१९६७	श्रीमती सिद्धेश्वरी देवी	गायन	पद्मश्री
१२.	१९६७	श्री बसंत देसाई	सिनेमा	पद्मश्री
१३.	१९६८	श्री बिसमिल्ला खाँ	शहनाई	पद्म भूषण
१४.	१९६८	श्रीमती अखतरी बाई	गायन (ठुमरी)	पद्मश्री
१५.	१९६८	श्री देवीलाल सामर	नृत्य तथा कठपुतली	पद्मश्री
१६.	१९६८	श्री निखिल बनर्जी	सितार	पद्मश्री
१७	१९६८	श्रीमती शरनरानी	सरोद	पद्मश्री
१८.	१९६८	श्रीमती हीराबाई बडोदकर	गायन	पद्मश्री
१९.	१९६८	श्रीमती कमला	नृत्य	पद्मश्री
२०.	१९७०	श्री अहमद जानथिरकवा	तबला	पद्मभूषण
२१.	१९७०	श्री टी. आर. महालिंगम्	बाँसुरी	पदमभूषण
२२.	१९७०	श्री अब्दुल हलीमजफ्फर	सितार	पद्मश्री
२३.	१९७०	श्रीमती दमयंती जोशी	नृत्य	पद्मश्री
२४.	१९७०	कृष्णराव नय्यर	नृत्य	पद्मश्री
२५	१९७०	श्री मल्लिकार्जुन मंसूर	गायन	पद्मश्री
२६.	१९७०	श्री रामचतुर मल्लिक	गायन	पद्मश्री
२७.	१९७०	श्री वेदान्तम् सत्यनारा. श.	कुचिम्फुडी नृत्य	पद्मश्री
२८.	१९७०	श्री विजय राघव राव	बाँसुरी	पद्मश्री
२९.	१९७२	श्री विनायक पटवर्धन	गायन हिन्दुस्तानी	पद्मभूषण
३०	१९७२	श्री भीमसेन जोशी	गायन हिन्दुस्तानी	पद्मश्री
३१.	११७२	श्रीमती गिरिजा देवी	गायन हिन्दुस्तानी	पद्मश्री
३२.	१९७२	श्री सामता प्रसाद	तबला	पद्मश्री
३३.	१९७१	श्री अल्लाउद्दीन खाँ	सितार	पद्मभूषण
३४.	१९७१	श्री उदय शंकर	नृत्य	पद्मभूषण
३५.	१९७१	श्री अमीर खाँ	गायन	पद्मभूषण
३६	१९७१	श्रीमती गंगूबाई	गायन	पद्मभूषण
३७.	१९७१	श्री निसार हुसेन खाँ	गायन	पद्मभूषण
३८.	१९७३	श्री किशन महाराज	तबला	पद्मश्री
३९.	१९७३	श्रीमती सितारा देवी	नृत्य	पद्मश्री
४०.	१९७३	श्री कृष्णराव शंकर पंडित	गायन	पद्मभूषण

४१.	१९७५	श्रीमती सुब्ब लक्ष्मी	गायन (कर्नाटकी)	पद्मभूषण
४२.	१९७५	श्रीमती बेगम अख्तर	गायन	पद्मभूषण
४३.	१९७५	श्री अमजद अली खाँ	सरोद	पद्मश्री
४४.	१९७५	श्री वसंतराज राजगुरु	गायन हिन्दुस्तानी	पद्मश्री
४५.	१९७५	श्री गोपीकृष्ण	नृत्य	पद्मश्री
४६.	१९७५	श्री जसराज	गायन हिन्दुस्तानी	पद्मश्री

भारत सरकार द्वारा केन्द्रीय संगीत-नाटक-अकादमी की दिल्ली में स्थापना किया जाना भी संगीत के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण योगदान है। केन्द्रीय संगीत-नाटक अकादमी के पश्चात् भारत के लगभग सभी राज्यों में प्रांतीय संगीत-नाटक-अकादमियों की स्थापना भी की गई है और इन्हें केन्द्रीय संगीत-नाटक-अकादमी से संबद्ध किया गया है। केन्द्रीय संगीत-नाटक-अकादमी तथा अन्य प्रांतीय संगीत-नाटक-अकादमियों के विधानानुसार इनकी साधारण एवं कार्यकारणी सभाओं में देश एवं प्रांत विशेष के योग्य संगीतज्ञों एवं संगीत-शिक्षाविदों को सम्मिलित किया जाकर अकादमियों के संगीत संबंधी अनेक रचनात्मक कार्यों में उनका सहयोग लिया जा रहा है, जिसके फलस्वरूप संगीत-नाटक-अकादमियां संगीत के सर्वांगीण विकास में अत्यधिक सहायक सिद्ध हो रही है।

केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी के अंतर्गत प्रांतीय संगीत नाटक-अकादमियां समय-समय पर शास्त्रीय एवं लोक संगीत के प्रांत के विभिन्न भागों में, सम्मेलन, सेमिनार, संगोष्ठी आदि का आयोजन करती रहती हैं। इन आयोजनों से शास्त्रीय संगीत के अतिरिक्त तत्प्रांतीय लोक कला एवं लोक-संगीत का प्रचार हो रहा है और संगीत व नाटक-कला को प्रोत्साहन ही नहीं मिल रहा, बल्कि नये-नये अविष्कारों के लिए भी क्षेत्र तैयार हो रहा है।

संगीत-सम्मेलनों, संगीत-सेमिनारों एवं संगीत-संगोष्ठियों के आयोजन के अतिरिक्त संगीत के योग्य छात्र-छात्राओं को केन्द्रीय तथा प्रांतीय अकादमियां छात्र-वृत्तियां भी प्रदान करती हैं। चयनित छात्र-छात्राएं दो वर्ष की समयावधि में योग्य व कुशाग्र संगीत शिक्षाविद के मार्गदर्शन में संगीत की विशेष शिक्षा ग्रहण करती हैं और फिर संगीत-प्रगति में उचित योगदान देती है। संगीत-नाटक-अकादमी के इस प्रकार के प्रावधान से अनेक छात्र छात्राए केन्द्रीय तथा विभिन्न प्रांतीय अकादमियों से छात्रवृत्ति प्राप्त करके योग्य व कुशल संगीत शिक्षाविद् के मार्गदर्शन से लाभान्वित हुए है। आज वे संगीत-नाटक कलाकारों के रूप में जनता द्वारा सम्मानित हो रहे हैं।

केन्द्रीय संगीत-नाटक-अकादमी की सांस्कृतिक आदान-प्रदान-योजना के अंतर्गत प्रांतीय संगीत-नाटक-अकादमियां संगीत-नाटक के अन्य प्रांतीय कलाकारों के दल प्रतिवर्ष अपने प्रांत में आमंत्रित करती है व अपने सांस्कृतिक दल अन्य प्रांतों में भेजती हैं। इस योजना से विभिन्न प्रान्तों की लोक कला, लोक संस्कृति, लोक नृत्य

एवं शास्त्रीय संगीत की विशिष्टताओं का आदान-प्रदान होता रहता है व संगीत के विकास को नयी-नयी दिशाएं प्राप्त होती हैं।

प्रात विशेष मे मान्यता प्राप्त संगीत-शिक्षा-संस्थाओं को विशेष प्रायोजना (Special Project) हेतु प्रांतीय संगीत-नाटक-अकादमी तथा केन्द्रीय संगीत-नाटक-अकादमी समय-समय पर विशेष आर्थिक अनुदान देती रहती है। इस अनुदान से मान्यता-प्राप्त संगीत-शिक्षण-संस्थाएं सगीत-शिक्षा एवं लोक कला के क्षेत्र में रचनात्मक कार्यों की प्रायोजना संचालित कर रही है।

केन्द्रीय एवं प्रांतीय संगीत-नाटक-अकादमी के अंतर्गत शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण रचनात्मक कार्य किये जा रहे है। लोक-संगीत व लोक-नाट्य के क्षेत्र मे भी उल्लेखनीय कार्य हो रहा है। विभिन्न प्रांतीय अकादमियों द्वारा उस प्रात विशेष के लोक-गीतों, लोक-वाद्यो एवं लोक संगीतों की वस्तुओं का सग्रह किया जा रहा है। राजस्थान की सगीत-नाटक-अकादमी, जोधपुर, द्वारा शास्त्रीय संगीत के विकास के अतिरिक्त लोक-संगीत के क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये गये हैं, जिनमें प्रांत विशेष के लोक-वाद्यो का संग्रह करने एवं राजस्थान के विभिन्न भागो के लोक-संगीत को संकलित करके उसे स्वर-ताल-लिपिवद्ध करके पुस्तक रूप मे प्रकाशित करने के कार्य उल्लेखनीय है।

शास्त्रीय सगीत की प्रतियोगिताएं ग्रीष्मावकाश कालीन शास्त्रीय एवं लोक-संगीत की विशेष सांस्कृतिक आदान-प्रदान-योजना के अतर्गत सांस्कृतिक कार्यक्रम, कठपुठली-प्रशिक्षण, कठपुतली-समारोह, शास्त्रीय-संगीत-सम्मेलन आदि के आयोजन राजस्थान सगीत-नाटक-अकादमी के कार्य हैं। इस प्रकार राजस्थान की प्रांतीय संगीत-नाटक-अकादमी सगीत के विकास में अपना योगदान दे रही है।

भारत सरकार द्वारा संगीत नाटक अकादमी को सर्वरूपेण प्रश्रय होने से शास्त्रीय एवं लोक संगीत के विकास में नाटक अकादमी का महत्वपूर्ण योगदान विशेष गौरवपूर्ण माना जाता है।

सारांश यह है कि आधुनिक काल में अर्थात् अट्ठारहवी शताब्दी के पूर्वार्ध के अतिम चरण से स्वतत्रता-प्राप्ति के समयावकाश में शास्त्रीय सगीत में अनेक परिवर्तन आये। हिन्दुस्तानी सगीत का स्वर-सप्तक (Standard Scale) विलावल मेल के रूप मे स्वीकृत किया गया राग-रागिणी-व्यवस्था के स्थान पर थाट व तज्जन्य राग पद्धति शास्त्रीय सगीत की आधारभूत पद्धति मानी गई। संगीत की गुरुपरम्परागत शिक्षा के अंतर्गत ग्वालियर, किराना, आगरा, जयपुर, इन्दौर (भिंडी वजार वाले घराना), पटियाला आदि घरानो द्वारा सगीत-शिक्षा प्रदान की जाती रही। पं० पलुस्कर एवं पं० भातखण्डे द्वारा सैद्धांतिक तथा क्रियात्मक पुस्तकों की सर्जना की जाकर सुनियोजित स्वरलिपि का आविष्कार किया गया। घरानेदार गीत-प्रबंधों को उक्त सुलभ स्वर-लिपि में बद्ध करके पाठ्य पुस्तकों के रूप में प्रकाशित किया गया। अनेक संगीत विद्यालय स्थापित करके गुरुपरम्परागत शिक्षा को कायम रखते हुए

संगीत शिक्षा सुलभ कराई गई। संगीत-कलाविदों, संगीत-शिक्षाविदों एवं संगीत-विद्यालयों को तत्कालीन राजा महाराजों का उदार प्रश्रय मिलता रहा और इस प्रकार संगीत, कला एवं संबद्ध अन्य विधाएं दिनों-दिन पनपती रही।

अन्य विषयों के साथ-साथ संगीत विषय भी माध्यमिक बोर्डों एवं विश्व-विद्यालयों में पढ़ाया जाने लगा। आगे चल कर यह विषय बंबई एवं नागपुर जैसे विश्वविद्यालयों में स्नातकोत्तरीय कक्षाओं (एम०ए०) तक पढ़ाया जाने लगा। स्वतंत्र विद्यालय एवं तत्कालीन राज्य सरकारों द्वारा संचालित अनेक संगीत-विद्यालय संगीत-शिक्षा का कार्य सुचारु रूप से करते रहे हैं। इसी काल में अर्थात् बीसवी सदी के पूर्वार्ध में पं० पलुस्कर एवं पं० भातखण्डे द्वारा गुरुपरंपरागत संगीत शिक्षा के स्तर को कायम रखते हुए संगीत शिक्षा के प्रचार-प्रसार एवं स्तर के निर्माण मे जो कठोर तपस्या की गई, उसी के फलस्वरूप आज गुरुपरंपरागत गायकी की विशेषता व शास्त्रीय संगीत के सुनियोजित प्रदर्शन का अवसर सुलभ हो रहा है। विभिन्न घरानों के ख्याल, ध्रुवपद, धमार, तराना आदि के सर्वश्रेष्ठ गायकों के अतिरिक्त ग्वालियर के पंडित घरानों, पं० राजाभैया पूंछ वाले एवं बनारस की सिद्धेश्वरी तथा गिरिजादेवी के टप्पा गायन आज भी अपनी विशिष्टता से रसाभिभूत कर रहे हैं। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व के इस काल में रेडियो का संगीत प्रसार में विशेष योगदान रहा है। नरेशों का संगीत कला को जो उदार प्रश्रय मिला, उससे भी इसका खूब विकास हुआ तथा ठाकुर ओंकारनाथ, डा० एस०एन०राताजनकर, पं० विनायक राव पटवर्धन, श्री के० वासुदेव शास्त्री, आचार्य वृहस्पति, श्री रानाडे आदि संगीत शिक्षाविदों द्वारा सैद्धांतिक एवं व्यावहारपरक अनेक उपयुक्त पुस्तकों के प्रकाशन से संगीत वाद्य एवं नृत्य तीनों ही कलाओं का प्रभूत विकास संभव हुआ है।

स्वतंत्रा-प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार के उदार प्रश्रय से संगीत में अत्यंत महत्वपूर्ण उपलब्धि मानी हुई है। भारत के अधिकतर प्रांतीय विश्वविद्यालयों में भी स्नातकोत्तरीय (एम०ए०) स्तर तक संगीत-शिक्षा का प्रबंध किया जा चुका है। शासन निजी संगीत-शिक्षण-संस्थाओं को अनुदान देकर संगीत-शिक्षा के सुचारु संचालन में सार्थक सहयोग दे रहा है।

आकाशवाणी केन्द्रों का विस्तार करके एवं शास्त्रीय संगीत एवं लोक संगीत को साधारण जनता तक पहुंचा कर, जनता में संगीत के प्रति रुचि का निर्माण ही नही किया गया अपितु जनता को संगीत के प्रति जागरूक भी बनाया गया है। आकाशवाणी के सर्वश्रेष्ठ-कलाकारों एवं देश के गणमान्य संगीत शास्त्रियों को पुरस्कार एवं उपाधियां प्रदान करके सरकार ने उन्हे संगीत-कला की सेवा के प्रति प्रोत्साहित किया है।

केन्द्रीय संगीत-नाटक-अकादमी से सम्बद्ध प्रांतीय संगीत-नाटक-अकादमियों द्वारा शास्त्रीय एवं लोक-संगीत की विशिष्ट विधाओं के संचालन को मार्गदर्शन,

अनुदान एवं प्रोत्साहन दिये जाने से संगीत व लोक संस्कृति के शिक्षण व विकास को अत्यधिक गति मिली है।

दिल्ली में भारतीय कला-केन्द्र की स्थापना करके वहां सर्वश्रेष्ठ संगीत-शिक्षाविदों एवं कलाकारो के मार्गदर्शन में योग्य छात्र-छात्राओं को संगीत की विशेष प्रकार की उच्च शिक्षा देने का प्रबंध किया गया है, जिसके फलस्वरूप शास्त्रीय संगीत की दोनों ही कर्नाटकी एवं हिन्दुस्तानी प्रणालियों के गीत, वाद्य एवं नृत्य में प्रशिक्षित अनेक कलाकार अपने-अपने क्षेत्र में ख्याति प्राप्त कर रहे हैं।

सांस्कृतिक आदान-प्रदान-योजना के अंतर्गत देश में ही नही, अपितु विदेशों में भी आज शास्त्रीय एवं लोक-संगीत के सांस्कृतिक दल भारत सरकार द्वारा भेजे जाते हैं व विदेशों से भारत में अनेक सांस्कृतिक दल आते रहे हैं। परिणामत: विदेशी संगीत व संस्कृति का प्रत्यक्ष प्रदर्शन होने से संगीत में नित्य नयी प्रतिभाओं का विकास दृष्टिगोचर होता रहा है।

शास्त्रीय संगीत एवं लोक संगीत को नित्य विकासोन्मुख करने हेतु भारत सरकार का उदार सहयोग व प्रश्रय एक सराहनीय कार्य है।

अध्याय ११

कतिपय विख्यात संगीतज्ञों का जीवन-परिचय और उनका योगदान

पं० राजा भैया पूंछवाले

स्व. पं. बाल कृष्ण आनंदराव अष्टेकर "राजा भैया पूंछवाले" नाम से विख्यात थे। इनके पूर्वज महाराष्ट्र में सातारा प्रांत के "बाल व अष्ट" गाव के इनामदार थे, इस कारण इनके पूर्वजों को 'अष्टेकर' कहा जाने लगा। पं० राजाभैया के परदादा के पिता श्री केशवराव अष्टेकर पेशवा दरबार में नियुक्त थे। वे पेशवा-दरबार की ओर से बुंदेलखण्ड भेजे गये थे, जहां उन्हें 'पूंछ' नामक गांव जागीर में मिला था। तब से उनका नाम अष्टेकर के स्थान पर 'पूंछवाले' प्रचारित हुआ। ईसवी १८५७ की क्रान्ति में आपके दादा पूंछ गांव छोड़कर ग्वालियर निवासी हो गये।

पं० राजाभैया का लश्कर (ग्वालियर) में श्रावण कृष्ण (अधिक) चतुर्दशी संवत् १९३९ अर्थात् दिनांक १२ अगस्त १८८१ ई० को जन्म हुआ। बालकृष्ण जन्म राशि के अनुसार नाम था, किन्तु उनका लाड़ का नाम 'राजाभैया' प्रचलित हुआ। इस प्रकार वे 'राजाभैया पूंछवाले' कहलाये। शैशवावस्था के २, २ १/२ वर्ष की आयु में ही इन्हें पक्षाघात हो गया। पक्षाघात की अवस्था में ही अपने रिश्तेदारों के साथ इन्हें श्री बद्रीनारायण यात्रा पर जाने का अवसर मिला। ३/४ वर्ष की आयु में ही श्री बद्री नारायण भगवान् से इन्होने प्रार्थना की, 'भगवान् ! मेरा पैर ठीक कर दे।' विश्वास एवं अंतरात्मा की आवाज शायद भगवान ने सुनी; शनैः शनै उसी मंदिर की दीवार के सहारे आप चलने लगे। इस छोटी सी अवस्था में ही भगवान पर आपका अटूट विश्वास निर्मित हुआ, जो संपूर्ण आयु भर रहा। भगवान के ध्यान, पूजा, भजन तथा जपजाप में ही नित्यप्रति आपके ३/४ घण्टे व्यतीत होते थे। शंकर भक्ति ने आपके जीवन में आये अनेक संकटों से आपको पार उतारा। देवीसाधना-प्रेरित आत्मशक्ति के फलस्वरूप आपका व्यक्तित्व विशिष्ट था। आपके स्वभाव में प्रेम, दया तथा सभी के प्रति सहिष्णु भाव था और व्यवहार में मृदुता थी, जिससे आपके प्रति सब आकृष्ट थे। आपने कहा है कि जिसके अंतरात्मा में प्रेम, दया एवं सहिष्णुता का भाव नही है, उन्हें संगीत की साधना नही करनी चाहिए। संगीत भगवान विष्णु के मोहिनी-अवतारस्वरूप है, अतः सौदर्य, दया, प्रेम और सहिष्णुता

का यह प्रत्यक्ष रूप है। ऐसे मोहिनी-अवतारस्वरूप संगीत की साधना प्रेम व भक्तियुक्त अंतःकरण से ही हो सकती है। प्रेम तथा भक्तियुक्त संगीत-साधना से संगीत रूपी मोहिनी का प्रत्यक्ष दर्शन होकर आत्मानुभूति का परमानंद प्राप्त हो सकता है। धोती, कुरता, दुपट्टा व सिरपर ग्वालियर शाही पगडी, दाहिने कान में सोने के मोती की बाली व माथे पर चंदन तथा हाथ में डंडा-कुबड़ी आदि ऐसी आपकी सादी वेशभूषा थी तथा तेजस्वी नेत्रयुक्त चेहरे पर सरलता, निष्कपटता, विनय एव हंसमुख भाव लिये हुए आपका व्यक्तित्व देखने वाले पर एक विशिष्ट धाक एव छाप छोड़े बिना नही रहता था।

आपके पिता श्री स्व० आनंदरवि जी की सितार तथा हार्मोनियम-वादन में विशेष रुचि थी। आपके ताऊजी भी संगीत-प्रेमी थे। घर में ही संगीतज्ञों की संगीत-गोष्ठियों में राग संबधी मार्मिक चर्चा होती थी। अतः बाल्यकाल से ही आपको सितार, हार्मोनियम, गायन एवं राग संबंधी चर्चा श्रवण करने का सौभाग्य प्राप्त होता रहा। फिर संगीत के प्रति आपकी विशेष रुचि देखकर स्व० मेंहदी हुसेन खाँ के प्रसिद्ध शिष्य पं० बलदेव जी के पास राजाभैयाजी को संगीत-अध्ययन को भेजा गया। संगीत की प्रत्यक्ष गुरुमुख-शिक्षा के साथ-साथ आपने तत्कालीन अमीर खां (सितार), उस्ताद नन्हें खाँ (सरोद), उस्ताद निसार हुसेन खाँ (ख्यालगायन), पं० वामन बुवा (ध्रुवपद), स्व० शंकर राव पंडित (ख्याल, तराना टप्पा), श्री बाला साहब गुरुजी, स्व० उस्ताद रज्जब अली, श्री अयोध्या प्रसाद जी (पखावज) आदि सुप्रसिद्ध संगीतज्ञों को अतीव चाव व ध्यान से खूब सुना, जिसके फलस्वरूप स्वर, ताल व राग के समन्वित रस का क्या महत्व है, यह तथ्य आपके समक्ष में आया। आपने पिताजी से हार्मोनियम-वादन की शिक्षा ग्रहण करके हार्मोनियम-वादन मे निपुणता प्राप्त की। साथ-साथ तत्कालीन श्री वामन बुवा देशपाण्डे व उनके सुपुत्र श्री लाल बुवा के पास गायन का अभ्यास भी चलता रहा। प्रतिकूल आर्थिक परि-स्थिति वश तत्कालीन नाटक-मण्डली शिदेक्लब में आप हार्मोनियम-मास्टर नियुक्त हुए। इस नाटक-मण्डली के विभिन्न स्थानों पर हुए नाटक-प्रदर्शनों द्वारा आपकी हार्मोनियम-वादन में प्रख्याति होने लगी। किन्तु गायन शिक्षा से लगाव के कारण नाटक-मण्डली छोड़कर आपने ग्वालियर में पुनः निवास किया और स्व० लाला बुवा से गायन-शिक्षा प्राप्त करते रहे। तत्कालीन ग्वालियर-नरेश स्व०माधवराव सिंधिया के आग्रह के कारण इन्हें श्री गणेशोत्सव-भजन-सप्ताह में हार्मोनियम-वादन करना पड़ता था। ग्वालियर-नरेश स्वयं संगीतज्ञ थे, इसलिए उनमें राजाभैया की कला के प्रति असीम भक्ति थी। महाराजा के निधन के पश्चात् उनके सुपुत्र व सुपुत्री को संगीत-शिक्षण प्रदान करने हेतु अन्य संगीत-शिक्षकों के साथ-साथ राजाभैयाजी की भी संगीत-शिक्षक के रूप में नियुक्ति हुई।

तत्कालीन संगीत-गुरु श्री लाला बुवा के निधन के पश्चात् राजाभैया जी ने स्व० शंकरराव पडित व उस्ताद निसार हुसेन खां के मार्गदर्शन में हद्दू-हल्लूखा की ख्याल-गायकी की परम्परागत शिक्षा प्रारम्भ की। इस शिक्षा के दौरान राजाभैया

जी ने ख्याल, तराना, ध्रुवपद-टप्पा आदि प्रबन्धों की लगभग चार सौ बंदिशें आत्मसात कर ली थीं। आर्थिक समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई थी। संगीत-शिक्षा की लालसा बेचैन कर रही थी। ऐसी दुरावस्था में गृहस्थी चलाने एवं संगीत-शिक्षा को सुचारु रूप से चलाने हेतु आपने ग्वालियर स्टेट के वित्त-विभाग में सेवाकार्य शुरू किया व शंकर पंडितजी के पास सीना-ब-सीना, ग्वालियर की परम्परागत ख्याल, तराना एवं टप्पा गायन-शैली की विशेष तालीम भी प्राप्त की।

स्व० शंकर राव पंडित जी से पराम्परागत लगभग २०० बंदिशों की व उनकी विशेष गायकी की शिक्षा प्राप्त करते समय उन्हें अत्यंत विकट आर्थिक कठिनाई का सामना करना पड़ा। उन्हें संगीत-शिक्षा के हेतु अर्थ नहीं चाहिए था, किन्तु गृहस्थी चलाने के लिए अर्थाभाव था, इस स्थिति से बेचैन रहने के कारण संगीत-शिक्षा, भजन, अभ्यास, खरज-साधना आदि के लिए आवश्यक तपस्या में अन्यमनस्कता की विशेष बाधा उन्हें झेलनी पड़ी।

स्व० शंकर पंडित के निधन के कुछ समय पूर्व संगीतोद्धारक स्व०पं० भातखण्डे संगीत-विद्यालय की स्थापना हेतु ग्वालियर-नरेश के पास आये थे। पं० भातखण्डेजी से संगीत-शिक्षण-पद्धति, संगीत-स्वरलिपि तथा संगीत संबंधी अन्य विषयों की चर्चा के पश्चात् ग्वालियर नरेश ने राजाभैयाजी को प० भातखण्डे जी के पास इस संबंध में प्रशिक्षण लेने हेतु भेजा। प्रशिक्षण के पश्चात् ई० स० १९१८ में राज्य सरकार द्वारा माधव-संगीत विद्यालय की स्थापना की गई। राजाभैयाजी के गुरु जी के भाई पं० विष्णु बुवा के निधन के पश्चात् उक्त माधव संगीत विद्यालय का इन्हें प्रधानाध्यापक नियुक्त किया गया। प्रधानाध्यापक के कार्य को सुचारु रूप से संचालित करते हुए आपने संगीत-शिक्षा द्वारा अति लगन से सुयोग्य शिष्य तैयार किये और भारत के विभिन्न स्थानों में अपने शिष्यों के माध्यम से इन्होंने संगीत-शिक्षा-केन्द्रों की स्थापना करवाई। इन्हीं के प्रधानाध्यापकत्व के कुछ समय पश्चात् माधव-संगीत-विद्यालय ग्वालियर में स्नातकोत्तरीय शिक्षण का प्रबंध किया गया। ग्वालियर-शासन द्वारा संचालित इस संगीत-संस्था में पं० राजा भैया से शिक्षा-प्राप्त अनेक शिष्यों के देश के विभिन्न स्थानों में संगीत सम्मेलनों में सम्मिलित होने और कतिपय शिष्यों द्वारा संगीत शिक्षा-केन्द्रों के संचालन करने एवं अन्य संगीत संबंधी कार्यों के करने के कारण पं० राजाभैयाजी द्वारा संचालित ग्वालियर की यह संस्था संगीत-जगत् में एक सर्वश्रेष्ठ शिक्षण-संस्था के रूप में सम्मानित हुई। संगीत-कला व संगीत की वैज्ञानिक शिक्षा के क्षेत्र में पं० राजाभैयाजी ने सुनियोजित व सुचारु शिक्षा प्रदान की। आप इस क्षेत्र में कुशल प्रशासक भी रहे। पं० राजाभैयाजी के उक्त योगदान के फलस्वरूप आज उनके कतिपय शिष्य भारत के विभिन्न स्थानों में स्नातकोत्तरीय संगीत-शिक्षा प्रदान करते हुए यश अर्जित कर रहे हैं। उनके शिष्य कलाकार ग्वालियर घराने की ख्याल, तराना एवं टप्पा-शैली की विशेष गायकी के प्रमुख गायक-गायिकाओं में गिने जाते हैं। स्व० राजाभैया जी के शिष्यों में से जो उच्चस्तरीय संगीत-शिक्षाविद् तथा संगीतज्ञ के रूप में आज जाने जाते हैं, उनके नाम निम्नलिखित हैं :—

स्व० श्री सदाशिव राव अग्निहोत्री, ग्वालियर, श्री वामनराव, राजुरकर (इन्दौर), श्री रामचन्द्रराव अग्निहोत्री ग्वालियर, स्व० श्री बालाभाऊ उमेदकर (ग्वालियर दरबार गायक), स्व० श्री उमाकांत राजुरकर (ग्वालियर), डा० सुमति मुटाटकर (दिल्ली), श्री गोविन्द राव राजुरकर (जयपुर), स्व० श्री नारायण राव पाठक (खैरागढ़), श्री गोविन्द राव नातू (लखनऊ), श्री वी० एम० अत्रे (भोपाल), श्री विष्णु चिपकुणकर (बंबई), श्री वी०एस० पाठक (इलाहाबाद), स्व०श्री गोपीनाथ पंचालरी (ग्वालियर), श्री गोपाल राव गुणे (आगरा), श्री सीताराम व्यवहारे (आगरा), श्री यशवंत राव कुलकर्णी, श्री बाला साहेब पूंछवाले इनके पुत्र (ग्वालियर)।

संगीत शिक्षार्थियों के पठन-पाठन के हेतु ग्वालियर-घराने की परम्परागत गायकी पर राजाभैया जी ने निम्नलिखित पुस्तकों का सृजन किया :—

(१) तान-मालिका भाग-१, (२) तान-मालिका भाग २, (३) तान-मालिका भाग ३ पूर्वार्ध, (४) तानमालिका भाग ३ उत्तरार्ध (५) संगीतोपासना, (६) ढुंकरी-तरंगिणी तथा (७) ध्रुवपद-धमार-गायन।

माधव संगीत-महाविद्यालय के रजत-जयन्ती समारोह के उपलक्ष्य मे स्व० राजाभैयाजी को उनकी संगीत-सेवा, ग्वालियर घराने की गायकी का अपने शिष्यों द्वारा प्रसार करने तथा अनेक मानवीय गुणों से युक्त कलाकार होने के कारण तत्कालीन नरेश स्व० जियाजी राव सिंधिया ने उन्हें संगीत रत्नालंकार की उपाधि से विभूषित किया।

ई०स० १९५६ में राजाभैया जी को भारत के राष्ट्रपति द्वारा राष्ट्रीय पुरस्कार 'राष्ट्रपति पदक' से सम्मानित किया जाकर 'सर्वश्रेष्ठ गायक' की उपाधियों से विभूषित किया गया।

इन्टरमीजिएट बोर्ड तथा अनेक विश्वविद्यालयों की संगीत-पाठ्यक्रम-समितियो का संयोजन कार्य करने के साथ-साथ स्नातकोत्तरीय कक्षाओं के मुख्य परीक्षक के रूप में भी आपने अनेक वर्ष कार्य किया है। आगरा कालेज-परिषद्, अजमेर म्युजिक परिषद्, इलाहाबाद विश्वविद्यालय परिषद् आदि के संगीत सम्मेलनों में आपको विशेष सम्मान के पद प्राप्त हुए।

सादे, सरल और प्रेममय स्वभाव व दैवी-साधना के फलस्वरूप प्रबल आत्म-शक्ति से आपका व्यक्तित्व संगीत-जगत् के अतिरिक्त अन्यत्र भी प्रबल आकर्षण रखता था। गुरु पं० बलदेव जी तथा स्व० लालाबुवा के पास संगीत-शिक्षा पाने के पश्चात् आपको स्व० शंकरराय पंडित तथा स्व० उस्ताद निसार हुसेन खां के पास शिक्षा पाने के लिए अत्यंत कठिन परिस्थिति से गुजरना पड़ा। जिस समय स्व० शंकर राव पंडित ने आपको शिष्यत्व दिया उस समय आपके आंतरिक आनंद की सीमा नहीं थी। संगीत-शिक्षा पाने हेतु जो कष्ट उन्होंने उठाये, उनका उन्हें पूर्ण आत्मबोध था। इसी कारण संगीत रियाज उनके नित्य कर्म में अंकित था। कण्ठ में विशेष प्रकार का माधुर्य रस तथा श्वास दमन (दम सांस) लाने हेतु आपकी "खरज साधना" एक

विशेष तपस्या थी। "खरज साधना" का अभ्यास आप कतिपय शिष्यों के साथ किया करते थे, इस प्रकार आप शिष्यों को उसका आनंद व रसानुभूति कराते थे। इसके अतिरिक्त घराने की परम्परागत तानों और बंदिशों का विशेष अभ्यास भी आप नित्य किया करते थे।

उनका कहना था कि ग्वालियर घराने की कतिपय विशिष्ट-तानों के रियाज से रस व दम सांस की प्राप्ति के अतिरिक्त कण्ठ में इस प्रकार की क्षमता आती थी जिसके फलस्वरूप कण्ठ में रागप्रभावोत्पादक शक्ति निर्मित होती है। इसी तथ्य को उन्होने स्वयं अनुभव किया व अपने शिष्यों को भी इस तथ्य का महत्व समझाकर उसका प्रत्यक्ष अभ्यास करवाया। बड़ा ख्याल एवं छोटा ख्याल का अस्थायी अंतरा गाने की आपकी विशिष्ट शैली थी, जिससे गुरुमुख शिक्षा की नायकी स्पष्ट हो जाती थी। आपके कसे हुए कण्ठ से निस्सृत घराने दार आलाप व तानों मे राग की अभिव्यक्ति-प्रौढता व रसमाधुरी होती थी। आलकारिक तानो के व घराने की 'सट्टे' की तान के तार सप्तक के पंचम से निकलकर समाप्त होते ही ख्याल का मुखड़ा लेकर सम पर जब थाप मिलते थे, तव श्रोतागण विशेप आनंद उठाते थे। ख्याल-गायन के अतिरिक्त विहाग, यमन, छायानट, दरबारी कान्हडा, बहार आदि रागों के तराने व त्रिवट की गायकी भी उनकी अपनी विशेपता थी। गुरुपरम्परा गत "होमियां जाने वाले" चाल पंचानो नजरदि बहार आदि टप्पा-गायन एक विशिष्ट शैली का गायन था। उनकी महफिल का समापन टप्पा-गायन के विना होना श्रोताओं को कभी नही भाया।

अतएव ग्वालियर घराने के गुरुपरम्परागत ख्याल, तराना, टप्पा, भजन आदि की विशिष्ट, रसपूर्ण एव प्रौढ़ गायन-शैली का उनके शिष्यों द्वारा आज भी प्रचार हो रहा है। आपका दि० १ अप्रैल १९५६ को स्वर्गवास हुआ।

पं० विष्णु दिगबर पलुस्कर

पं० विष्णु दिगवर पलुस्कर का जन्म ई० स० १८७२ में महाराष्ट्र के कुरुंद्रवाड संस्थान में हुआ। वाल्यकाल में ही आतिशवाजी की एक दुर्घटना में आंखों की ज्योति क्षीण हो गई। जिसके कारण शालीय शिक्षा स्थगित करनी पड़ी। आवाज की मधुरता को देखकर इन्हें गायन की शिक्षा देने का विचार किया गया। ग्वालियर घराने की गायकी के मूल पुरुप नथ्यनं पीरवक्ष के शिष्य पं० वासुदेव बुवा जोशी के सम्मुख संगीत शिक्षा प्राप्त तत्कालीन प्रसिद्ध संगीतज्ञ पं० बालकृष्ण बुवा इचलकरंजफिर, जो उस समय महाराष्ट्र के मिरज प्रांत में थे, के पास पं० विष्णु दिगंबर को संगीत-शिक्षा देने की योजना बनी। फलतः पं० बालकृष्ण बुवा का शिष्यत्व पंडित जी ने ग्रहण किया। संगीत-शिक्षा के लिए उपयुक्त कण्ठ-मधुरता, उत्कृष्ट ग्रहण-शक्ति सुमधुर सगीत-श्रवण तथा अथक अभ्यास से आपने शिक्षा प्रारम्भ करने के दस वर्ष के काल में ही संगीत में प्रवीणता प्राप्त कर ली

तत्कालीन समाज में सगीतज्ञ को सम्मान की दृष्टि से नही देखा जाता

था, जिसका कारण स्वयं संगीतकार ही थे, ऐसा माना जाता है। पं० भातखण्डे तथा पं० पलुस्कर को यह स्थिति अतीव खटकती थी। उन्होंने इसके निराकरण का एवं संगीतज्ञ को सभ्य एवं सुसंस्कृत समाज में योग्य तथा सम्मानजनक स्थिति दिलाने का बीड़ा उठाया। पं० भातखण्डे और पं० पलुस्कर ने अपने अपने ढंग से समाज में संगीतज्ञ की सम्मानजनक स्थिति बनाने के अकथ प्रयास किये।

मिरज छोड़ने के पश्चात् महाराष्ट्र, काठियावाड, गुजरात, मध्य भारत, पंजाब आदि के बड़े-बड़े शहरों का आपने भ्रमण किया। शास्त्रीय संगीत के प्रति जनता की विशेष रुचि न पाकर आपने रामायण की कथा तथा भजन अपने सुमधुर कण्ठ से प्रस्तुत करके जनता को आकृष्ट करने का आपने प्रयास किया। कतिपय शहरों में अपमानजनक वातावरण की सहनशील प्रवृत्ति से झेलकर और हँसमुख रह कर आप अपनी उद्देश्य-पूर्ति की ओर अग्रसर होते रहे। अनेक स्थानों में भ्रमण करने के पश्चात् लाहौर में आपको अनुकुल वातावरण प्राप्त हुआ। वहाँ आपके मन में शास्त्रीय संगीत की शिक्षा देने की प्रेरणा हुई। फलतः आपने लाहौर में ५ मई १९०१ ई० को "गांधर्व महाविद्यालय" नाम से संगीत-शिक्षा-केन्द्र की स्थापना की।

संगीत शिक्षा को सुविधाजनक बनाने हेतु तत्कालीन प्रकाशित संगीत पुस्तकों के अतिरिक्त आपने संगीत-बाल-प्रकाश भाग १ से ३, संगीत-पुस्तक भाग १/२, मृदंग-तबला-वादन-पद्धति एवं उपयुक्त पुस्तकों का सृजन किया। संगीत-शिक्षा को साधारण शिक्षार्थियों को सुलभ बनाने के लिए आपने स्वरलिपि का आविष्कार भी किया, जिसका 'संगीत तत्व-दर्शक' द्वारा बोध कराया।

आपके द्वारा शिक्षित स्व० ठाकुर ओंकार नाथ, स्व० पं० विनायक बुवा पटवर्धन, श्री नारायण राव, श्री शंकर राव व्यास, प्रो० देवधर, श्री एस० एस०बोड्स आदि शिष्यों ने भारत के विभिन्न प्रांतों में संगीत-शिक्षा हेतु अनेक शिक्षा-केन्द्रों की "गांधर्व-महाविद्यालय" नाम से स्थापना की। आज भी उसी नाम से अनेक संगीत शिक्षा-संस्थाएं सुचारु रूप से उनकी परंपरा के शिष्यों द्वारा संचालित होती हुई दिखाई दे रही है। उनकी परंपरा के अनेक उपयुक्त शिष्यों ने भारत में ही नहीं अपितु विदेशों में भी संगीतज्ञ तथा शिक्षाविद् के रूप में ख्याति अर्जित की है। पं० पलुस्कर जी के कतिपय शिष्यों में स्व० ठाकुर ओंकारनाथ, विनायक बुवा पटवर्धन, श्री नारायण राव व्यास आदि को भारत सरकार द्वारा पद्म श्री पद्म भूषण की उपाधियों द्वारा सम्मानित किया गया है। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि पं० पलुस्कर जी का कार्य-वृक्ष आज फूल-फलों से लहरा रहा है।

सरलता, स्निग्धता, स्नेह, अनुशासन, ईश्वर-भक्ति में अटूट विश्वास तथा साधना आपके व्यक्तित्व की विशेषताएं थी। उद्देश्यपूर्ति के हेतु अथक परिश्रम के पश्चात् ईश्वर-भक्ति व ईश्वरीय साधना से प्रेरित होकर विरक्ति की ओर आपकी प्रवृत्ति होती चली गई। वे "रघुपति राघव राजाराम" इस धुन में आनंदाविभोर होते रहे। अन्ततः नासिक में 'रामनाम आश्रम' कायम करके आप उसी आश्रम में

एक तपस्वी के रूप में ईश्वर-भजन व ईश्वराधना करते रहे। अंत में मिरज में दि० ३१ अगस्त १९३१ को आपका स्वर्गवास हुआ। आज भारत के विभिन्न स्थानों में उनके कार्यो के स्मणरार्थ उक्त दिवस के उपलक्ष में 'पुण्य-तिथि-समारोह' आयोजित किये जाते हैं।

उस्ताद फैय्याज खाँ

फैय्याज खां के पूर्वज हिन्दू थे। किन्हीं कारणोंवश उनका हिन्दू धर्म त्याग कर मुस्लिम धर्म स्वीकार करना पड़ा। फैय्याज खाँ का आगरावासी परिवार में १८८६ ई० में जन्म हुआ। बाल्यकाल में ही आपके पिताजी का निधन होने से आपके नाना गुलाम अब्बास खां ने आपका पालन-पोषण किया।

आगरा-घराने की गायकी के मूल प्रवर्तक नथ्थन खां की परम्परा में विलायत हुसेन खाँ, श्री जगन्नाथ बुवा पुरोहित तथा उस्ताद फिदा हुसेन खाँ (कोटावाले) जो प्रमुख संगीतज्ञ हुए हैं, उन्ही की परम्परा में आपके चाचा उस्ताद फिदा हुसेन खाँ (कोटावाले) के पास आपकी संगीत-शिक्षा हुई। बाल्यकाल में आपके नाना द्वारा व उसके पश्चात् आपके चाचा फिदा हुसेन द्वारा जो संगीत-शिक्षा आपको प्राप्त हुई, उसका आधार ध्रुव-पद शैली के होने से आपकी गायकी का "नोम् तोम्" प्रणाली जो अधिकतर ध्रुवपद-धमार-गायन-शैली की विशेषता है, आधारभूत बनी। ख्यालगायन के प्रारंभ के पूर्व घराने की परम्परा के अनुसार आप भी "नोम् तोम्" द्वारा राग-विस्तार करने के पश्चात् ख्याल के अस्थायी अंतरा, आलाप, तानें आदि प्रस्तुत किया करते थे।

मोहर्रम के दिनों में आप अधिकतर आगरा जाया करते थे, जिसके कारण आपकी शिष्य-परम्परा उस स्थान में अधिक होने लगी। आपकी २५ वर्ष की अवस्था तक घरानेदार तालीम मिलने के कारण आप उत्तरोत्तर ख्याति अर्जित करते रहे। भ्रमण करते-करते एक बार आप महाराष्ट्र गये, जहां आपको सुवर्ण पदक के साथ "आफताब ए मौसिकी" अर्थात् 'संगीत का सूर्य' की उपाधि प्रदान की गई। बड़ौदा-नरेश ने आपका गायन श्रवण करके नरेश की सालगिरह के दरबार में आपको दरबारी गायक नियुक्त किया, तबसे आप बड़ौदा निवासी हो गये। बड़ौदा-नरेश ने आपको "ज्ञानराज" की उपाधि प्रदान की। बंबई, लखनऊ, कलकत्ता, दिल्ली एवं पटना आदि बड़े-बड़े नगरों में आयोजित संगीत-सम्मेलनों में आपका गायन वैचित्र्य-पूर्ण तथा मनोरंजक रूप में श्रोताओं को आन्नदविभोर करता रहा।

आप ध्रुवपद, धमार, ख्याल तथा ठुमरी गीत-प्रकार समान स्तरीय रंजकता से गाते थे। ख्यालगायन प्रारंभ के पूर्व 'नोम्-तोम्' द्वारा राग-लक्षणों के सिद्धांतानुसार राग का विस्तार आपकी विशेषता थी। गलाफेंक एवं कम्पन की तानें जो आपके घराने की गायकी की विशेषता है, आपके गायन में कूट कूट कर भरी थी। तोड़ी, जयजयवन्ती, पूरिया, ललित, दरबारी कान्हडा विहागड़ा आदि आपके प्रिय राग थे। उस समय हिन्दुस्तान ग्रामोफोन रेकार्ड के द्वारा ध्वनि-मुद्रित झन्-झन्

झन पायल बाजे' तथा 'मोरे मंदिर अबलों नहीं आये' मुद्रिकाएं आज भी लोकप्रिय हैं। ६५ वर्ष की अवस्था में सन् १९५० में आप दिवंगत हुए। आपके अनेक मेधावी शिष्यों में उस्ताद निसार हुसैन, पं० दिलीपचन्द बेदी तथा डा० एस० एन० राजाजनकर विशेष प्रख्यात हैं।

उस्ताद अलाउददीन खां

त्रिपुरा के शिवपुर ग्राम में ई०सं० १८५० में आपका जन्म हुआ। विख्यात रबाब वादक काजिम अली खां त्रिपुरा दरबार में दरबार-वादक थे। काजिम अली खां जब स्वयं के मकान में रबाब का रियाज करते थे तब अल्लाउद्दीन खां के पिता उस्ताद साधूखां उनके मकान के पीछे जाकर रबाब सुना करते थे। नौकर ने साधू खाँ को पकड़कर उस्ताद के सम्मुख प्रस्तुत किया तब आपके पिता श्री से साधूखां ने कहा रबाब सिखा दीजिये। उस्ताद ने कहा "मैं अपने खानदान को ही रबाब सिखाऊँगा, हाँ सितार अवश्य सिखा देता हूँ।" तब आपके पिताश्री से साधूखां को त्रिपुरा में सितार-शिक्षा मिलती रही। आपके पिताश्री घर में सितार का रियाज करते थे, तब अलाउद्दीन खाँ उसे खूब सुना करते थे।

आपके बड़े भाई, जो आपके पिताश्री के सितार के रियाज के साथ तबला बजाते थे, से आपने तबले में भी अनेक ठेके, परण तथा कायदे कंठस्थ एवं लयबद्ध कर लिए थे। पिताश्री का रियाज सुन-सुनकर सितार में भी कुछ कुछ गति आपको होने लगी

कुछ समय पश्चात् आप कलकत्ता गये हुए थे, जहाँ स्वामी विवेकान्नद जी के भाई शिवूदत्त जी, जो वाद्य-संगीत में निपुण थे, से मिले। सितार की शिक्षा देने की उनसे प्रार्थना की। पं० शिवूदत्त जी ने इनकी परीक्षा लेने हेतु फिडिल बजाई व उसका सरगम अर्थात् नोटेशन पूछा। आपने उस गत की स्वरलिपि गाकर बताई जिससे पं० शिवूदत्त जी प्रसन्न हुए और उन्हें सितार-शिक्षा देना प्रारंभ किया। किसी कारणवश कलकत्ता में सितार-शिक्षा लेने के साथ-साथ आपने एक नाटक-कंपनी में नौकरी करना भी प्रारम्भ किया। उसी समय लोबो नामक बैंड मास्टर से 'इग्लिश नोटेशन-पद्धति' का अभ्यास भी किया। रात्रि में नाटक-कम्पनी में वाद्यवृन्द (Orchestra) बजाना और वादन में संगीत की शिक्षा लेते रहना, ऐसी आपकी दिनचर्या थी। इस समय आपकी आयु केवल १५/१६ वर्ष की थी।

सितार-शिक्षा के अतिरिक्त आपको मुक्ता गाछा ग्राम में अहमदअली खाँ से सरोद की शिक्षा भी प्राप्त हुई। सरोद में आपको उक्त उस्ताद ने केवल गत-तोड़े ही सिखाये, किन्तु जोड आलाप नही। इस कारण कुछ अप्रसन्न होकर आप गुरुजी की खोज में भटकते रहे व भ्रमण करते-करते रामपुर पहुँचे। रामपुर में उस्ताद वजीरखां का संगीतज्ञ के रूप में सर्वश्रेष्ठ नाम था, इस कारण उनका शिष्यत्व ग्रहण करने की तीव्र लालसा मन में जागी। वजीरखां सा० के द्वार पर कई घण्टे खड़े रहते थे। किन्तु घर में प्रवेश नही मिलता था। त्रस्त अवस्था में होकर

आत्मघात का विचार किया, किन्तु किन्हीं मौलवी जी की कृपा से रामपुर-नवाब की मदद से वजीरखाँ का आपने गंडा बाँध ही लिया। वजीरखाँ के सान्निध्य में आपकी शिक्षा चलती रही। ऐसा कहा जाता है कि वजीरखाँ सा० ने उन्हें विशेष तालीम नही दी।

किन्तु उसी अवस्था में आप उनके चरणों में अभ्यास करते रहे। कहते है कि रायपुर के नवाब ने रामपुर में एक वृहद् संगीत-सम्मेलन किया, जिसमें उस्ताद अलाउद्दीन खां ने लगभग सारे वाद्यों का कुशलता से वादन प्रस्तुत किया। उस वादन कौशल को देखने के पश्चात् इनके उस्ताद ने कहा बस अब जाओ और घूमो।'

उस्ताद का आशीर्वाद लेकर आप भारत-भ्रमण पर चले गये और सर्वश्रेष्ठ संगीतज्ञ के रूप में ख्याति अर्जित की। सितार, सरोद आदि तन्त्रवादन कौशल के अतिरिक्त आपको ध्रुवपद-धमार गायन-शैली का कुशल ज्ञान था। भारत के विभिन्न स्थानों में अनेक प्रकारों से आपका सम्मान किया गया तथा भारत सरकार ने १९७१ मे आपको 'पद्म-विभूषण' उपाधि से सम्मानित किया।

आपके सुपुत्र अली अकबर खां आज देश में ही नही अपितु विदेशो में भी सर्वश्रेष्ठ सरोद वादक माने जाते हैं। आपके शिष्य पं० रविशंकर तथा श्री निखिल बनर्जी देश एवं विदेशों में सर्वश्रेष्ठ सितार-वादक माने जाते हैं।

उस्ताद अलाउद्दीन खां अपनी आयु की १०८ वर्ष की अवस्था में भी अपने शिष्यों से घिरे रहते थे और उन्हे हाथों के इशारों से ही वादन की कुछ-कुछ विशेषताएं समझाते रहते थे। शिक्षा-दान के प्रति आपकी अतीव निष्ठा थी। चरित्रशील सादा जीवन आपकी विशेषता थी। ११३ वर्ष की अवस्था में आप स्वर्गवासी हुए। आपके शिष्य आपकी वादन-परम्परा का कुशलता से प्रचार कर रहे हैं। आपके निधन के पश्चात् आपके चरित्र व कार्यो सम्बन्धी एक डाक्यूमेन्टरी चित्र बनाया गया और उसका प्रदर्शन करवाया गया।

उस्ताद इनायत खाँ

उत्तर-प्रदेश के इटावा जिले में ई० सं० १८९४ में आपका जन्म हुआ। आपके पिता श्री इमदाद खाँ एक सुरबहार तथा सितार के प्रख्यात वादक थे। सुरबहार व सितार के जोड़ काम तथा गत-तोड़ा दोनों ही अंगों में आप सर्वश्रेष्ठ वादक समझे जाते थे उस्ताद इनायत खां को प्रारंभ में पिता श्री इमदादखां से ध्रुवपद तथा ख्यालगायन की शिक्षा प्राप्त हुई व उनके पश्चात् पिताश्री के पास ही आपने सुरबहार एवं सितार में शिक्षा प्राप्त की। पिता के समान ही जोड़-काम व गत-तोड़ा दोनों ही अंगों में आपने प्रवीणता प्राप्त की व शीघ्र ही एक श्रेष्ठ वादक के रूप में यश अर्जित किया।

आपके पिता श्री इमदाद खां के कलकत्ता महाराजा यतीन्द्र मोहन ठाकुर अवध-नवाब वाजिदअली शाह तथा बड़ौदा-नरेश जैसे संगीत-प्रेमियो के स्नेहपात्र होने के कारण इनायत खां सा० भी अपनी मधुरकला एवं सुस्वभाव के कारण उक्त

महानुभावों के स्नेहपात्र बने, जिसके कारण इनायत खां की कला निखर गई। आपने मैसूर, काठियावाड़, बड़ौदा, इन्दौर आदि नरेशों के यहां दरबार-वादक का कार्य किया। उसके पश्चात् आप गौरीपुर के श्री बृजेन्द्र किशोर चौधरी के आश्रित रहे।

मैमनसिंह जिले में आपकी शिष्य-परम्परा अधिक दिखाई देती है। आपके अनेक प्रमुख शिष्यो मे उस्ताद विलायत खां आज गत-तोड़ा व जोड़काम के श्रेष्ठ-कलाकार माने जाते है। ई०स० १९३८ में आपने शरीर त्याग दिया। आपकी संगीत-शिक्षा मूलतः ध्रुवपद, ख्याल तथा ठुमरी-शैली से प्रभावित रही, इसी कारण आपके सितार-वादन में अत्यन्त कोमलता, लचक एवं रंजकता थी।

श्री डी० व्हो० पलुस्कर

संगीत-जगत् में महान् विभूति पं० विष्णु दिगंबर पलुस्कर को कुरंदवाड़ में १९ मई १९२१ को एक पुत्र रत्न प्राप्त हुआ, जिसका नामकरण श्री दत्तात्रेय विष्णु पलुस्कर किया गया। इसके पूर्व के अनेक भाई बहिनों का देहावसान होने से आप घर भर में सबके लाड़ले बने व अतीव लाड़प्यार से आपका पालन-पोषण हुआ।

आपके यज्ञोपवीत-सस्कार में पिता श्री के अनेक शिष्य आये थे। उन्होंने इन्हें शुभाशीर्वाद दिया।

पिता श्री पं० विष्णु दिगंबर जी ने इन्हें थोड़ी-थोड़ी संगीत-शिक्षा देनी प्रारंभ की ही थी कि ई० स० १९३१ में वे स्वर्गवासी हो गये। इसके पश्चात् इनके चचेरे भाई श्री चिंतामणि के पास इनकी संगीत-शिक्षा प्रारभ हुई। कुछ समय पश्चात् आपने १९३५ में गांधर्व महाविद्यालय, पूना में पं० विनायक बुवा पटवर्धन के पास अपनी संगीत-शिक्षा नियमित रूप में प्रारंभ की और महाविद्यालय-मण्डल की अंतिम परीक्षा उत्तीर्ण की। इस शिक्षा-काल में आपने गायन का अतीव अभ्यास किया और एक उच्च श्रेणी के संगीत-विद्यार्थी होने का परिचय दिया। प०विनायक बुवा से संगीत-शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् आपने प० नारायण राव व्यास तथा श्री मीराशी बुवा से भी संगीत सीखा।

ई०स० १९३५ मे आपने पं० विनायक बुवा पटवर्धन के साथ पंजाब की यात्रा की व जालंधर में उत्तम गायक होने का परिचय दिया। ई०स० १९३८ मे आपका आकाशवाणी-केन्द्र पर भी गायन हुआ, जिससे आपकी श्रेष्ठ श्रेणी के ख्याल गायकों मे गणना होने लगी। इस काल मे आपने ख्याल, तराना, भजन आदि शैलियो द्वारा साधारण जनता एवं संगीत-मर्मज्ञ दोनों को ही अपनी ओर आकर्षित किया और सम्पूर्ण भारत में आप उक्त शैली के विशिष्ट गायक माने जाने लगे।

आप ग्वालियर घराने की परम्परागत गायकी के अंतर्गत श्रेष्ठ गायक के रूप में मान्य हुए। ख्याल-गायकी को आपने अपनी कल्पना से और अधिक समृद्ध किया। किसी भी घराने की या किसी भी गायक की सुन्दर एवं मनोरन्जक गायकी को आप आत्मसात् कर लेते थे, जिसके फलस्वरूप ग्वालियर घराने की परम्परागत गायकी के अतिरिक्त भी आपके गायन में एक स्वतन्त्र व विशिष्ट शैली दृष्टिगोचर होने लगी। आपकी कला दिन प्रतिदिन विकासोन्मुख होती रही।

प्रत्येक गायक की अपनी निजी विशेषता होती है। कोई आलापचारी में दक्ष होता है तो कोई सुरीलीपन और मिठास में, कोई सफाई में तथा दानेदार तान क्रिया में, कोई लयकारी तथा कोई बोल तानक्रिया में। स्व० दत्तात्रेय जी (डी० वी० पलुस्कर) अपनी ख्याल-गायकी में उक्त सभी अंगों के प्रदर्शन में सफल हुए।

शुद्ध मुद्रा, शुद्ध वाणी के तत्त्व का आप पूर्ण रूप से पालन किया करते थे। जहां २/२ घण्टे केवल एक ही राग का गायन सुनाते थे। वे किसी दूसरे स्थान पर वही गायन २०/२५ मिनट में ही समाप्त करते थे। श्रोताओं की दृष्टि का व रुचि का ध्यान रखकर समय सूचकता मे अपना गायन रुचिकर व लोकप्रिय करने का नित्य प्रति आपका प्रयास रहा है।

सत्व, रज तथा तम इन तीनों गुणों के स्रष्टा ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश के प्रतीक श्री दत्तात्रेय त्रिगुणमूर्ति अवतार आज जिस प्रकार भक्ति-मार्ग मे प्रमुख माने जाते हैं, उसी प्रकार स्व० श्री दत्तात्रेय ने अपने नाम को भी पूर्ण रूप से सार्थक किया। संगीत प्रमुख तत्त्व स्वर, ताल तथा लय इन त्रिगुणों के समन्वय द्वारा ही आपका सुमधुर गायन सर्वत्र लोकप्रिय हुआ। मौलिकता एक त्रिगुण-सौन्दर्य आपकी गायकी की विशेषता थी। ई०स० १९५५ में आपका स्वर्गवास हुआ।

अध्याय १२

राग-वर्णन

राग-यमन

रागकल्पद्रुमांकुर ग्रन्थ में यमन-राग के संबंध में निम्नांकित वर्णन दिया हुआ है :—

कल्याणो यमनो विभाति सकलैस्तीव्रस्वरैर्मंडितो।
गांधारः कथितोऽत्र वाद्यथ च संवादी निषाद स्वरः॥
शेषाः स्युस्त्वनुवादिनः क्वचिदिस्यान्मध्यमः कोमलो।
गेयो रात्रिमुखे मनीषिभिरसो संपूर्ण रागाग्रणी ३॥

उक्त संस्कृत कथन के अतिरिक्त 'राग-चंद्रिका सार' हिन्दी पुस्तक में भी निम्नांकित संक्षेप वर्णन प्राप्य है :—

सबही तीवर सुर जहाँ, वादी गांधार सुहाय।
अरु संवादी निखादते, ईमन राग कहाय॥

मुगल व पठान काल मे भारतीय शास्त्रीय संगीत में कर्नाटकी तथा उत्तरी अर्थात् हिन्दुतानी ऐसी दो संगीत-पद्धतियां जब प्रचार में आई, उस समय पूर्वकालीन मेचकल्याण राग हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति में 'यमन' राग की संज्ञा से प्रचलित हुआ।

यह राग कल्याण थाट से निर्मित हुआ है। इसमें सारे ही स्वर तीव्र हैं अर्थात् संपूर्ण स्वर शुद्ध एवं मध्यम स्वर केवल तीव्र हैं। सब स्वर तीव्र हैं यह कहने का कारण यह है कि हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति में रे, ग, ध तथा नि इन चारों ही शुद्ध स्वरो को तीव्र संज्ञा दी जाती है। इस सिद्धांत के अनुसार ही रे, ग, ध, नि स्वर शुद्ध अथवा तीव्र कहलाये जाते हैं। अतः सब स्वर तीव्र हैं, ऐसा जो उक्त दोहे में कहा गया है, वह उचित ही है। आरोही-अवरोही में सातो ही स्वरों का प्रयोग होने से इसकी जाति सम्पूर्ण-सम्पूर्ण कही जाती है और सम्पूर्ण-सम्पूर्ण जातियों के रागों में इस राग को सम्पूर्ण रागों का अग्रणी अर्थात् प्रमुख राग माना जाता है, जिसका समर्थन 'राग कल्पद्रुमाकुर' ग्रन्थ के उक्त संस्कृत उद्धरण में इसे 'सम्पूर्ण रागाणी' कह कर किया गया दिखाई देता है। क्वचित् समय वादी स्वर के मध्य में 'ग म ग' प्रयोग में शुद्ध मध्यम का प्रयोग भी किया जाता है, तब इसे-यमन-कल्याण राग की संज्ञा दी जाती है। पं० भातखण्डे जी द्वारा रचित क्रमिक पुस्तक मालिका भाग-२ में यमन राग की बंदिशों के अतिरिक्त 'यमन कल्याण' राग की परम्परागत-घरानेदार अनेक बंदिशें भी संकलित की गई हैं।

इस राग का वादी स्वर गांधार तथा संवादी स्वर निषाद है। इसका गायन-समय रात्रि का प्रथम प्रहर माना जाता है। इसे आश्रय राग की संज्ञा भी दी जाती है।

उक्त साधारण जानकारी के अतिरिक्त राग सम्बन्धी अन्य बातों का ज्ञान होना आवश्यक है। इस राग में अधिकतर सारे ही स्वरों पर न्यास अर्थात् ठहराव किया जा सकता है। साधारणतया यह देखा गया है कि वादी तथा संवादी स्वरों के अतिरिक्त शेष अन्य अनुवादी स्वरों पर भी न्यास किया जाता है, किन्तु ऐसा न्यास करते समय राग के पूर्वांग तथा उत्तरांग का ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है। राग पूर्वांग वादी अर्थात् पूर्वांग-प्रबल हुआ तो उत्तरांग के स्वरों पर आलापचारी करते समय विशेष सावधान रहने की आवश्यकता होती है। ऐसा करते समय पूर्वांग के स्वरों को बार बार लेते हुए उत्तराग के स्वरों पर इस प्रकार न्यास किया जाना चाहिए जिससे उस राग के स्वरूप का मर्दन न हो। यमन राग में गांधार वादी होने के कारण यह राग पूर्वांग वादी अर्थात् पूर्वांग-प्रबल होता है। पूर्वांग के सा, रे, ग म। प इन पाँच स्वरों के अतिरिक्त उत्तराग के धैवत तथा निषाद स्वरों पर न्यास करते समय वादी स्वर गांधार के साथ साथ पूर्वांग के अन्य स्वरों की बार बार सहायता लेना राग-स्वरूप-संरक्षण की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। ऐसे प्रयोग अपने शिक्षक द्वारा पूर्णरूप से समझ लेना चाहिए व उन्हे उचित अभ्यास के पश्चात् प्रयोग में लाना चाहिए।

न्यास सम्बन्धी उक्त तत्त्व पर ध्यान देने के साथ साथ उस राग में राग-सूचक प्रमुख-प्रमुख स्वर सवादी जोड़ियो, प्रमुख स्वर-समूहो, कण एवम् मीड युक्त स्वरों के प्रयोग के महत्व की ओर भी ध्यान देना चाहिए। इस राग में राग-सूचक स्वर-जोड़ी 'प रे' की संगत मानी जाती है, क्योंकि प रे की स्वर-सगति कल्याण-अंग की स्वर-संगति है। इसका प्रयोग आलापचारी एवं बंदिशो में दिखाई देता है। 'प रे' स्वर संगति के अतिरिक्त इस राग के पूर्वांग का उठाव 'सा रे ग' के स्थान पर 'नि रे ग' से ही अधिकतर किया जाता है। आलाप की समाप्ति के समय अधिकतर 'नि रे सा' स्वर-समूह लिया जाता है, अत पूर्वांग मे 'नि रे ग' व नि रे सा' ये दोनों स्वर समूह इस राग के राग-सूचक प्रमुख स्वर-समूह माने जाते है।

'पग' के मीडयुक्त स्वर-समूह मे तीव्र म' का उपयुक्त स्पर्श किया जाता है।

नि$^{\text{ध}}$ नि (प) स्वर-समूह अनेक बंदिशों में पाया जाने के कारण गायक-वादक आलापचारी करते समय उक्त स्वर-समूह का अनेक बार प्रयोग करते है उसके पश्चात् ऋषभ तथा गांधार-स्वर को जोड़ के 'नि$^{\text{ध}}$ नि$^{\text{(प)}}$ $^{\text{रे}}$ ग" स्वर-समूह की रचना कर वैचित्र्य एवं विशिष्ट अन्तरंग को स्पष्ट करते हुए दिखाई देते है। म$^{\text{ग}}$ रे ग यह स्वर-समूह भी वादी स्वर के कण के रूप में दिखाया जाकर अनेक बार प्रयुक्त किया हुआ दिखाई देता है। इसी प्रकार आरोही-अवरोही में पंचम को वर्जित करके "नि रे, ग, म॑, ध, नि, ध मे ग रे ग रे नि़ रे सा" इस स्वर-समूह का भी उचित प्रयोग

किया जाता है। उक्त कण, मींड तथा स्वरों के लंघन द्वारा प्रयुक्त स्वर-समूह राग का वैचित्र्य बढ़ाकर राग को शोभादायक व रंजक बनाते हैं।

पूर्व में कहा गया है कि इस राग के पूर्वांग आरोही का उठाव अधिकतर नि रे ग मे प स्वर-समूह द्वारा किया जाता है। इस राग के अंतरे का अर्थात् उत्तरांग आरोही का उठाव पसां पधपसां मेधनिसां, मेधनिरेंसां क्वचित् मेधानिसां आदि स्वर-समूहों में से किसी एक स्वर-समूह द्वारा किया जाता है। राग का उठाव नि रे ग से होने के कारण अधिकतर आलाप व तानें निरेगमे निरेमने से ही उठाई जाती है। सारेगमे का प्रयोग अशुद्ध या गलत नही माना जायेगा, उसे शास्त्र-नियम के अंतर्गत ही समझा जायेगा किन्तु शास्त्रीय सिद्धांतों तथा नियमों की अपेक्षा अधिकतर रूढ़िगत प्रचार तथा परंपरा के प्रचलन को सर्वमान्य माना जाता है। ध्यान यही होना चाहिए कि राग-स्वरूप राग-प्रकृति, रागचलन एवं उस राग विशेष में निहित राग-रंजकत्व व रसानुभूति आदि की पूर्ति में बाधा नही आनी चाहिए।

इस राग की प्रकृति एवं चलन गंभीर है व मीड एवं गमकादिक अलंकारों का प्रयोग राग की सुन्दरता तथा रंजकता को बढ़ाता रहता है। यह राग अतीव लोक प्रिय है।

राग के आरोही-अवरोही स्वरूप सा रे ग, मे प, ध निसां,/संनिध, प, मेग, रेसा।

पकड़ अथवा मुख्य अंग

नि् रेग, रेसा, प, मेग, रे, ग, रे, नि्रेसा।

तानें

१ नि्रे गरे, सासा, नि्रेग मे पमे गरे सासा, नि्रेगमे पध निध पमेगरे सासा, नि्रेगमे पधनिसां निध पमेगरेसासा, निरेगमे पधनिसां रेंगं रेंसां निध पमेग-रेसासा, नि्रेगमे पधनिसांरेंगें मेंप मेंगें रेंसां निध पमेगरेसासा।

२. नि्रेगगरेसा, नि्रेगमेपपमेगरेसा, नि्रेगमे पधनिनिधप मेग रेसा, नि्रे गमेपध निसारें

रें सां धपमेग रेसा, निरेगमेपधनिसांरेंगंमें मे गेरें सांनिधपमेगरेसासा निरेगमेपध नि धां रेंगं पप मेगरेंसां निध पमेगरेसासा।

३. नि्रमेपमेगरे, गमेपधपमेगरे, गमेपधनिधपमेगरे, गमेपधनिसांनिधपमेगरे गमेपधनिसां रेसां निधपमेगरे, गमेपधनिसांरेरेगंरेसां निधपमेगरे, गमेपधनिसां मेगरेसा निधपमेगरे, अमेपधनिसारेंगंमें में गंरेंसांनिधप।

४. निरेंगंगंरेंमां, निरेगमेपपं मेगेरेंसां, निरेंगंगंरेंसां, रेंरेंसांसांनिधप,। संसंनिधपप, निनिधप, धध पमेगरे, पपमेगरेग, मेमेगरेसासा

५. मेमेगरेसासा, पपमेरेसा, निधिपमगरेसा, रेंरेसानिपमेगरेसा गगंरेंसांमेमेगं रें,

सांसां पंपंमंगरेंसां, रेरेरें रें संनिधप सांसांसांसां निधपप, निनिनिनिधप मंग, धधधधप-मंगरे, गमंपमंमरेसासा।

६. गमंपमंगरे, धनिसांनिधप, गमंपंमगरे, सारेंगरेंसांनिधप, मंधानिधपमंगरे, गमंपमंगरेसासा।

७. नि रेरे, रेगग, गमंमं, मंपप, पधध, धनिनि, निसांसां, सांरेंरें रें मंमंग

| | |

रें, गंगंरेंसां, रेरेंसांनि, सांसांनिधनिनिनिधपधिप, धधपमं, पपमंग, मंमंगरे, गगरेसा।

८ निरेनिरेरेगरेग, रेगरेग गमंगमं, गमंगमंमंपमंप, मंपमंपपधपध, पपध धनिधनि, धनिधनि निसांनिसां, निसांनिसां, निसांनिसां सारेंसारें, सारेंसारें, रेंगरेंग, रेंगरेंगं, सांरेंसांरें, निसांनिसां, धनिधनि, पधपध, मंपमंप, गमंगमं, गरेसासा।

| |

९. निनिनि रेरेरे, रेरेरे गगग, गगग मंमंमं, मंमंमंधधधधध, धधध. निनिनि, निनिनि रेंरें रे, रें रें रें गगंगं, रें गंगं. निरें रे, धनिनि, मंधध, गमंमं, रेगग, मंमंग रे सासा।

१०. सासासा सांसांनिधपमंगरेसासां, रेरेरे रेंरेंसां निधपमंगरेसा, गगग गंगं रेंसा, मं मं गरे सांसां, गग रेंसां, रेरें सांरे सांसां, रेंसा सांरे, सांसारे, सांसांरें, सांसांरें सासां संनिधपपमंग रेसा।

११. गमंप गमंप गमंपमंगमं, मंपध मंपध मंपधमध, धानिसां धनिसां धनिसां निधानि, निसांरेंनि...रें निसारेंसानिसां, रेंग रेंसां, पंपमंगं रेंसां, सासांरेंसांनिधप मंग रेंसा।

१२. गगरे, मंमंग, पपमं, धधप, निनिधि, संसनि, रेंरेंसां, गंगरेसा, मंमंगं रेंसांसा, गंगंरेंसां, निरेंगंरें संनिधप मंधनिध पमंगरे, गमंध, मंधानि धनिरें, निरेंगेरें सानि, धनिसांनिधप, मंधनिधपमं, गमंधप मंग, पमंगरे सासा।

१३. गगरेरेसासा, मंमंगगगरेरेसासा, पपमंमं गगरेरेसासा, धधपपमंमं गगरेरेसासा, निनिधधपपमंमंगगरेरेसासा, सांसानिनिधधपपमंमंगगरेरेसासा, रेंरें सांसां, गंगंरेंसा, मंमंगंगरेरें सांसांनिनिधधपपमंमं गगरेरेसासा।

१४. पमं मंग गरे रेसा, धप पमं मंग गरे रेसा, नीध धप पमं मंग गरे रेसा, सांनि निध धप पमं मंग गरे रेसा, रेंसां सांनि निध धप पमं मंगगरे रेसा, गरे रेंसां संनि

|

निध ध प पमं मंग गरे रेसा, निरेगमधनरेंगें में गं रें नि (रे), गंगंरेंसा निधपमंगरे-सासा।

१५. पमंगरेसा, धपमंगरेसा, निधपमंगरेसा, रेंसां सांनिधप मंगरेसा निधपमं गरेसा, गरेंसांनिध पमंगरेसा, पं ऽऽ मंमंरेंसानिधपमंगरेसा।

राग गौड़ सारंग

श्लोक —

सारंगों गौडपूर्वो द्विमइति विदितों ऽन्येस्तु तीव्रैरुपेतः ।
प्रायः सर्वोऽपि वक्रो निरति विरल एवात्र संदृश्यतेऽसो ॥
गांधारो धैवतश्च प्रविलसत उभो वदिकसंवादि रुपो ।
केऽप्याहुर्वैपरीत्यं समयीविद उतार्धत्पर गीयतेऽहः ॥
(रागकल्प द्रुमांकुरे)

दोहा:—

जहां तीवर है रिगधनि दोऊ मध्यम संग ।
धग सवादि वादि ते कहत गौड़सारंग ॥

यह राग कल्याण थाट से उत्पन्न होता है। सब स्वर शुद्ध होने के साथ साथ तीव्र मध्यम का प्रयोग भी किया जाता है अर्थात् इस राग में शुद्ध तथा तीव्र दोनों ही मध्यमों का प्रयोग किया जाता है। अवरोही में केवल शुद्ध मध्यम का प्रयोग होता है। आरोही में 'सारेगमंप-' इस सरल-समूह द्वारा तीव्र मध्यम का प्रयोग निषिद्ध होगा। आरोही में तीव्र मध्यम का प्रयोग 'मंपधप' 'धमंप-मंधमंप' या सरल रूप में मंपधनिमंप' इन स्वर-समूहों के द्वारा किया जायेगा। मंपधनिधपमंप या मंपधनिसां-निधपमंप ऐसे सरल रूप में आरोही लिया जाकर भी आरोही में तीव्र मध्यम का प्रयोग दिखाया जाता है। इसकी जाति संपूर्ण-संपूर्ण मानी जाती है किन्तु इस संपूर्ण सपूर्णता मे सरल आरोही-अवरोही का प्रयोग नही किया जाता है। आरोही-अवरोही में संपूर्णत्व को स्वरों को वक्र करके दिखाया जाता है। अर्थात् सरल सारेगमंप धनिसां ऐसे सरल आरोही के स्थान पर 'सा, गरेमग, पमंधप, नीधसां' ऐसे वक्र रूप मे स्वर-प्रयोग करके मध्य सप्तक के सा से तार सप्तक के सा' तक आरोही लिया जाता है। यही वक्र संम्पूर्णता अवरोही में भी दिखाई देती है। अवरोही 'सनीधप म गरेसा' के बजाय सांध नीप, धमंपग, मरे प, रेसा' ऐसा तारसप्तक के सांसे मध्य सप्तक के सा तक होता है। अतः राग की जाति को संपूर्ण-संपूर्ण कहने के स्थान पर वक्र संपूर्ण कहना अधिक उचित होगा। सातों ही स्वरों का प्रयोग सरल आरोही-अवरोही के रूप में न किया जाकर वक्र रूप में किया जाने से वक्र संपूर्णता के आधार पर ही मुख्य रूप में इस राग का चलन निर्भर करता है। वक्रता-नियम उत्तरांग आरोही व उत्तरांग अवरोही में तान के रूप में अधिक समय लुप्त सा दिखाई देता है। आलापचारी में अनेक समय मंपधनिसां ऐसी सरल आरोही की तान और संनिध प मंप ऐसी अवरोही की तान प्रयुक्त की जाती है। स्पष्ट है कि ऐसे समय में वक्रत्व-नियम छूप जाता है। आरोही-अवरोही की वक्रता के लुप्त होने की

प्रक्रिया व उक्त सरल प्रयोग केवल उत्तरांग में ही दिखाई देती हैं यह इस राग के उत्तरांग के चलन की विशेषता समझनी चाहिए। पूर्वांग आरोही या पूर्वांग अवरोही में वक्रत्व-नियम का पालन करना चाहिए और पूर्वांग आरोही या पूर्वांग-अवरोही में सरल आरोही-अवरोही प्रयोग राग-स्वरूप मर्दन का कारण होगा, यह ध्यान में रखना चाहिए। अतः इस राग का पूर्वांग आरोही 'सा गरेमग' पमधप, इसी प्रकार होकर पूर्वांग 'अवरोही पगमरे परेसा' या पगमरेसा' होगा। 'गमरेसा' इस पूर्वांग अवरोही से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'मगरेसा'—ऐसे सरल पूर्वांग अवरोही के स्थान पर 'गमरेसा' में गांधार को वक्र कर के पूर्वांग अवरोही किया जाता है। पं० भातखण्डे जी द्वारा रचित गौड़ सारंग की लक्षण-गीत में तथा उनके द्वारा संकलित अन्य अनेक घरानेदार इस राग की अन्य बंदिशों में 'मगरेस, इस प्रकार पूर्वांग अवरोही में 'मगरेसा' सरल अवरोही दिखाई देता है, उसका तात्पर्य यही समझना चाहिए कि सरल पूर्वांग अवरोही क्वाचित् समय एकाध बार क्षम्य समझा जा सकता है तथा घरानेदार परंपरा के वैशिष्ट्य को दिखाने हेतु ऐसा सरल पूर्वांग अवरोही राग की बंदिशों के गायन तक ही सीमित रखना चाहिए। उसका सरलता से आलापचारी या आलाप-क्रिया में नित्य प्रयोग निषिद्ध ही मानना चाहिए। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि पूर्वांग अवरोही में गांधार की वक्रता अतीव आवश्यक है तथा 'मगरेस' का सरल प्रयोग यदि एकाधबार कुशलतापूर्वक किया जाये और इस प्रकार राग का सौन्दर्य बढ़ाकर रंजकता का निर्माण किया जाये तो उसे क्षम्य समझा जाना चाहिए।

इस राग का संपूर्ण चलन वक्रगति में है, किन्तु कल्याण थाट से निर्मित शुद्ध तथा तीव्र 'मं' दोनों मध्यम प्रयुक्त होने वाले रागों के आरोही में निषाद स्वर वक्र, अवरोही में गांधार वक्र किया जाकर कोमल निषाद को विवादी के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। ऐसा प्रयोग अधिकतर ध नि प इस स्वर-विन्यास से किया जाता है। अनेक धमार गीतों में उक्त स्वर-विन्यास लेकर विवादी का प्रयोग किया हुआ दिखाई देता है। अन्य अनेक गीत की बंदिशों में ध निमंप इस प्रकार 'मं' के साथ

भी विवादी स्वर को प्रयुक्त किया हुआ दिखाई देता है। विवादी स्वर का प्रयुक्त होना किसी भी राग में अनिवार्य नहीं है। उसी प्रकार विवादी स्वर युक्त स्वर-विन्यास को राग का अंग भी नहीं बनाना चाहिए। तात्पर्य केवल यही है कि उक्त प्रकार से विवादी स्वर का प्रयोग भी एक राग का वैचित्र्य होता है व उस वैचित्र्य से राग-रंजकता बढ़ाने में ही गायक-वादक का कौशल है, यह समझ लेना चाहिए। विवादी स्वर का प्रयोग राग में निषिद्ध माना गया है, किन्तु उसका कौशल-पूर्वक प्रयोग सौंदर्य वर्धक होता है; यही इस स्वर की महत्ता है।

इस राग में गांधार वादी तथा धैवत संवादी माना जाता है, इसी कारण यह राग पूर्वांगवादी है व इसे मध्यान्ह समय अर्थात् दिन के बारह बजे के समय

गाया जाता है। इस राग का प्रमुख स्वर-विन्यास 'गरेमग' है जिसे राग का प्रमुख अंग माना जाता है। इस समूह का बार-बार प्रयोग अनिवार्य होता है। गरेमग' स्वरविन्यास इस राग का प्राण है, यह कहना अधिक उचित होगा। गौड़-सारंग नाम से यह शंका हो जाती है कि यह राग गौड़ एवम् सारंग के मिश्रण से बना होगा इसकी चर्चा बाद में होगी। इसमें प्रयुक्त होने वाली दूसरी स्वरसंगति 'परेसा' है जिसका प्रयोग 'गरमेग' स्वर-विन्यास के पश्चात् आलाप-समाप्ति करते समय अनिवार्य रूप में किया जाता है। "परे" की स्वर संगती वृंदावनी सारंग में प्रयुक्त की जाती है। इस कारण गौड़ का विन्यास 'गरेमग' व सारंग का ले कर 'गरेमग परेसा' करने से गौड़-सारंग, गौड़ व सारंग के मिश्रण से बना ऐसे कहा जा सकता है, किंतु 'परे' स्वरसंगति कल्याण-अंग की विशेष रूप से सूचक मानी जाती है तथा 'परे' स्वर-संगति के इस राग प्रयोग में मीड द्वारा प्राप्त तीव्र मध्यम के स्पर्श का आभास होता है। 'परे' स्वरसंगति यदि वृन्दावनी सारंग की मानी जाय तो उसमें तीव्र मध्यम का आभास होना निषिद्ध माना जायेगा। कारण कि वृन्दावनी सारंग में 'परे' स्वर-संगति गाते समय शुद्ध मध्यम का स्पर्श अनिवार्य रूप से ऋषभ को होना आवश्यक है। यह राग कल्याण के अंग का होने से 'परे' की मीड़ में शुद्ध मध्यम का स्पर्श या आभास निषिद्ध माना जायेगा व इसी कारण उस राग में 'परे' की स्वरसंगति सारंग-अंग के स्थान पर कल्याण-अंग की मानना अधिक उचित होगा। कल्याण थाट से निर्मित होना, 'परे' स्वर-संगति का कल्याण अंग के प्रयोग में, मं, मंपधनिसां मंपधप, तथा मंधपं आदि सब कल्याण के ही सूचक है। इन्ही कारणों से यह राग गौड़ एवम् कल्याण अर्थात् यमन के मिश्रण से बना हुआ है, यह कहना अनुचित न होगा।

राग के उत्तरांग आरोही-अवरोही के उठाव व उसमें प्रयुक्त होने वाले-स्वर-विन्यासों के संबंध में पूर्व में विवेचन किया जा चुका है। केवल पूर्वांग आरोही के उठाव के संबंध में यह देखने में आता है कि इसका पूर्वांग आरोही 'सा, गरेमग, स मग प, तथा स प मग म गरेमग, प से प्रारम्भ होता है, राग के वक्र संपूर्ण होते हुए भी 'मंपधनिसां' के प्रयोग के आरोही तथा 'सनिधप मंप' या कभी कभी 'सा साधप गमगरेमग' प्रयोग के उत्तरांग अवरोही में वक्रत्व-नियम छुपा हुआ पाया जाता है। इस प्रयोग से राग के उत्तरांग को सरल आरोही-अवरोही बनाया जाता है, परन्तु पूर्वांग आरोही या अवरोही सरल रूप में प्रयुक्त होता दिखाई नही देता है, यह ध्यान में रखना चाहिए। क्वचित् समय आलापचारी में 'सारंगमग, रेगम' रेमग यह प्रयोग क्षम्य है।

राग के पूर्वांग आरोही में स्वरों का क्रम सरल न होने के कारण इसकी सरल तान 'गमपस' स्वर-विन्यास से ही उठाई हुई दिखाई देती है। इस राग की कृति साधारण रूप में चंचल मानी जाती है।

सारांश यह है कि इस राग में आलापचारी करते समय वक्रत्व-नियम का अनिवार्यतः पालन करना चाहिए । क्वचित् समय 'सारेगम गरेमग, मगरे, सा, सासा गरेसासा. मेंपधनिसं सनिधप, ऐसे सरल स्वर-प्रयोग तान के रूप में किये हुए दिखाई देते है । वे राग-विस्तार व उसके सौंदर्य वर्धन की दृष्टि से उचित माने जाते है । उक्त सरल स्वर-विन्यासों का प्रयोग राग को उसके विस्तार की दृष्टि से सुलभ बना देता है व सरल स्वर-विन्यासों के साथ-साथ बार-बार 'गरेमग' स्वर-विन्यास राग के वैशिष्ट्य को सूचित करता रहता है यह ध्यान में रखना आवश्यक है ।

आरोही :—सा, गरे, मग, पमं, धप, निध, सां
आरोही :—सांध, निप, धमं, पग, मरे, परेसा ।
पकड़ :—सा, गरे, मग, परेसा ।

ताने –

१. सारेसासा, गरेसास, गरेमग परेसासा, गमपसां स रे संनिधप गमगरेंमग परेसासा, गमपमां संरगरे संनिधप गमगरे मग परेसासा, गमपसां सां, रेंगरेमंगं,रेंसं निधप गमगारेमग परेसासा, गमपसां सें,रेंगरें मंगं संरें संनिधप गमगरेमग परेसासा ।

२. गरेमग, पधमप गमगरेमग, निध पधमंप गमगरेमग, सांरेसां निधनिपध मेंप गमगरे मग, गरें सांनिधनि पध मेंप गमगरेमग, गंरेमगपरेसांरेसंनि धनिपंधमंप गमगरेमग परेसासा ।

३. सारेसंस, गरेंसांसा, गंरेमग पंरेंसांसां, रेंरेसंनिधप, सांसा निधपप, निनिधप मेंप, धधप में पप गमगरेमग परेसास ।

४. गमरेसा, पधमेंप, धनिपध मेंप, गमगरेमग मरेसासा, सांरेसानिधपमेंप गमगरे मग मरे सासा गंगरिंसा मेंग मेंरेसांसा, पेरें सांसां रेरें रे सनिधप मेंपगमग-रेमगपरेसासा ।

५ गरेमग गमेंधप निध संनि रेसांगरें मंग पं ऽऽ रे ऽऽ सां ऽऽ, मरेंसांनि धप-मेंप सनिधप, मेप ध ध प प, गमगरेमग परे सासा ।

६. ग ग रे, म म ग, प प में, ध ध प, नि निध, संसनि, रे रें सां, गंगं रे, मंमग, मं मं रेंसां रेंसां रे रें सां, सरें संनि धानिपध मेंप गम गरे मग, परे सासा ।

७ मेंपध मेंपध मेप गमगरेमग, निसांरें निसांरें निसांरे सांनिधप मेंपध मेंपध मेंप गमगरे मग, गंगरेसा पंप गमं रेंसा, निसांरें निसांरें निसांरे संनिधप धमेंपगमग-रेमग, परेसासासा ।

ग
८. मम रेसा, पप गमरेसा, संरेसंनिधप म म रेसा, मंमंरेंसं, पंपं गमं रेंसां

संसाँ ऽरे सनिधप मेंपध, पध नि, धानिसां निसांरें सनिधनि पध मेंप गमगरेमग परेसासा।

९. ससस ममम गग गगग, पपप मेंमें, में में में ध ध ध पप, प प प नीन-निध ध, ध ध ध सं सं सं नि नि, नि नि नि रें रे रें सं सं, गंम रें सा, पं पं रे रे सं सा, रे सां निसां, धनिपध, मेंप ग म ग रे म ग प रे सा सा।

१० ग ग म ग ग म गरे मग, पपध पपध मेंमेंप मेंमेंप, गगम गगम, गरेमग, धधनिधधनि, पपध पपध, मेंमेंप मेंमेंप गगम गगम, गरेमग, संसरे संसरे, निनिसां निनिसाँ धधनि धधनि, पपध पपध, मेंमेंप मेंमेंप, गगम गगम गरेमग, गंरेंमंगं मरें-ससा, रेंसांसारें, सासांरे सांसारें, सनिधप, गमगरे मग, परेंसासा।

११. सरेसासा, पपरेरेसासा, निध निनिपप रेरेसास रेरे स सां मंम रेरें सांसां, गगं रेरे, मंमगगे पंप रें रें सांसां, रेरें सांसा, निनिधध निनिपप, धधपमेंमें, पपगग, ममगरे मग परे सासा।

१२. गम गम, मपमप, पसनिसाँ, संरेंसारे सांसां गंमं गंमं गंरें मंगं पंरे सांसां, सारें साँरेसां निधपप धनिधनि, पधपध, मेंप मेंप गमगम गरेमग, परे सासा।

अल्हैया विलावल

श्लोक :–

वेलावलि राग भवस्त्वल्हैया।
पूर्णोधवादि सहचारिगान्वितः॥
मृदुनिषादोऽभिमतोऽत्र किंचित्।
आरोहणे मध्यम वर्जितोयम्॥
(राग कल्पद्रुमांकर)

दोहा :—

मृदु मध्यम सब तीख सुर मध्यम से न चढ़ैया।
कहुं निखाद कोमल लगत धग संवाद अल्हैया॥
(राग चन्द्रिका-सार)

राग वर्णन

यह राग विलावल थाट से उत्पन्न होता है। संस्कृत-ग्रन्थों में इसे 'बिलावल' संज्ञा दी हुई है, किंतु प्रचलन में इसे विलावल के स्थान पर बिलावल कहते हैं। मूल राग विलावल ही है, किन्तु इस बिलावल राग के ही अल्पांश में भेद करके अल्हैया विलावल का प्रकार प्रचारित किया गया है। मूल विलावल के स्थान पर अल्हैया बिलावल ही अधिक गाया-बजाया जाता है।

मूलत: विलावल राग संपूर्ण जाति का है। इसमें सारे ही स्वर शुद्ध अवस्था में प्रयुक्त किये जाते है। इसी मूल विलावल के आरोही में मध्यम स्वर को वर्जित करके अवरोही में कोमल निषाद का प्रयोग करने से अल्हैया विलावल रचित होता है।

अल्हैया विलावल का निर्माण विलावल थाट से ही कहा जायगा। इसके आरोही में मध्यम स्वर वर्जित करके अवरोही के संपूर्ण किये जाने से इसकी जाति षाडव संपूर्ण मानी जाती है। वादी स्वर धैवत तथा संवादी स्वर गांधार है। इसका गायन समय दिन का प्रथम प्रहर है।

इस राग के आरोही में निषाद स्वर वक्र होने से "पधनिसां" के सरल आरोही के स्थान पर 'पध, निध, निसां' स्वर-समूह गाया जाता है। राग का आलाप द्वारा जब विस्तार किया जाता है। तब वक्रत्व-नियम का पालन अनिवार्य रूप में किया जाना चाहिए, किंतु गायन-वादन की सुलभता के हेतु तान-प्रक्रिया में पपधनिसां-' का प्रयोग किया जा सकता है, जिससे वक्रत्व-नियम का उल्लंघन होता है। हमारी पद्धति में तान-प्रक्रिया में वक्रत्व-नियम के उल्लंघन के अनेक उदाहरण मिलते हैं इसका यही उद्देश्य है कि आलापचारी किंचित् गम्भीर भाव लिये हुए होती है, जिसमें वक्रत्व-नियम का पालन अनिवार्य होता है। किन्तु तान-प्रक्रिया सरल होकर गायन-वादन सुविधाजनक हो इस कारण से यहां वक्रत्व-नियम उल्लंघित किया जा सकता है। ऐसा करना राग स्वरूप की दृष्टि से उचित ही माना जाता है।

नि

इस राग में आलापचारी करते समय निषाद स्वर को वक्र करके पध ऽऽ निध ऽऽ निऽसां" स्वर-समूह जब गंभीरता से गाया जाता है, तब विलावल राग स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। अर्थात् पध, निध, निसां' यह स्वर-समूह विलावल या अल्हैया बिलावल में किस विशिष्टशैली से गाया जाना चाहिए, यह गुरुमुख से भली-भांति सुन लेना और समझ लेना चाहिए तथा कण्ठ को उचित अभ्यास देकर उक्त स्वर-समूह का प्रयोग उचित शैली से करने की सावधानी रखनी चाहिए। यह राग उत्तरांग वादी राग होने के कारण इसके उत्तरांग आरोही में पध, निध, निसां" स्वर-समूह विलावल का या अल्हैया विलावल का सूचक ही नहीं, अपितु जीवात्मा स्वरूप है। अतः उक्त स्वर-समूह का उचित शैली से प्रयोग अनिवार्य है, यह ध्यान मे रखना चाहिए। पूर्वांग आरोही में मध्यम स्वर वर्जित होने के कारण पूर्वांग आरोही का उठाव 'सारेगप, होगा व. 'सारेगप स्वर-समूह के पश्चात् उत्तरांग आरोही 'पध, निध, निसां' स्वर-समूह द्वारा किया जायगा।

नि

आलापचारी करते समय अंतरे के उठाव 'गपध, निध, निध, निसां, गपध,

ध

'निसां' ऐसा किया जायगा। किंचित् समय अंतरे का उठाव प, निध, निसां' स्वर

समूह को लेकर भी किया जाता है जिसमें पंचम के उच्चारण के पश्चात् निध' उच्चारण करते समय 'नि' स्वर को धैवत का कण स्पर्श मिलना चाहिए, और

ध

उसका स्वरूप 'प निध, निसां' होगा। इस प्रकार के स्वर-समूह द्वारा अंतरे के उठाव मे धैवत स्वर के कण-स्पर्श का अतीव महत्त्व समझना चाहिए।

उत्तरांग अवरोही में 'सनिधप' जैसा सरल प्रयोग किया जाता है। किंचित् समय 'संसधप व सां-धप' यह प्रयोग भी दिखाई देता है, किन्तु ऐसे प्रयोग होते समय 'सा' ए एवम् 'ध' के अंतराल के उच्चारण में व्यवधान स्वरूप 'निषाद' स्वर का किंचित् आभास होता हुआ दिखाई देता है, जिससे, निषाद स्वर इस राग के अवरोही में वर्जित नही हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। अतएव उत्तरांग-अवरोही 'सनिधप' एवम संस धप स्वर-समूहों द्वारा किया जाता है।

पूर्व में कहा गया है कि इस राग के उत्तरांग अवरोही में कोमल निषाद का प्रयोग किया जाता है यह प्रयोग 'धनि॒धप' स्वर-समूह का होता है। अर्थात् कोमल निषाद का इस प्रकार का प्रयोग अल्हैया विलावल राग का सूचक है, यह समझना चाहिए।

अनेक बार उत्तरांग-अवरोही में 'धनि॒धप' का प्रयोग किये बिना अल्हैया विलावल गाया जाता है, किन्तु ऐसे समय में पूर्वांग आरोही में मध्यम स्वर वर्जित करने के नियम को आगे लाकर 'सारेगप' का प्रयोग करके गपधनिसां' निधप मग-मरे' स्वर-समूह गाया जाता है। 'धनि॒धप'-यह अल्हैया विलावल-सूचक स्वर-समूह का प्रयोग न करने से भी राग स्पष्ट होता रहता है। यहाँ पूर्वांग का "मगमरे" स्वर-समूह विशेप महत्त्व का है, जो रागसूचक माना जाता है। अर्थात् पूर्वांग-आरोही के मध्यम वर्जित 'सारेगप' तथा पूर्वांग-अवरोही के 'मगमरे' स्वर-विन्यास पूर्वांग मे अल्हैया विलावल के महत्त्वपूर्ण तथा राग वाचक स्वर-विन्यास है। 'मगमरे सा' इस पूर्वांग-अवरोही में गांधार स्वर का वक्रत्व स्पष्ट दिखाई देता है। जिस प्रकार उत्तरार्ध आरोही मे निषाद के वक्रत्व का नियम तानप्रक्रिया में उल्लंघित होता हुआ दिखाई देता है, उसी प्रकार पूर्वांग-अवरोही में गांधार के वक्रत्व का नियम तान-प्रक्रिया में उल्लंघित किया जा सकता है। 'मग मरे सासा' के स्थान पर अनेक बार 'मगरेसा' का तान-प्रयोग व्यवहृत होता है। सरल आरोही-अवरोही की तानसारेगप धनिसां-निधप मगरेसा' अल्हैया विलावल की रागोचित तान मानी जाती है।

इस राग की रागसूचक स्वर-संगति "धग" भी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

ध ध

मप धग मरे, गपधनि॒धप धग मरे, मप निधऽ निधऽऽ निसां, नि सं नि धप, धनि॒धप, धग मरे, आदि स्वर-समूह को अल्हैया विलावल में बार-बार आगे लाने से राग-स्वरूप की शोभा वढ़ती है। अर्थात् मप, धग, धनि॒धप, निधऽऽ निसां तथा मगमरे आदि स्वर-

समूह रागवाचक समझे जाते है, बारी बारी से उचित समय पर उक्त स्वर-समूहों का उपयुक्त शैली से प्रयोग किया जाने से अल्हैया बिलावल राग का स्वरूप स्पष्ट होता रहता है।

इस राग मे न्यास-स्वरों के संबंध में यह रोचक तथ्य ध्यातव्य है कि इस राग का वादी स्वर धैवत होते हुए भी उसका न्यास-स्वर की दृटि से विशेष महत्त्व नहीं है। अधिकतर "मग मरे"-स्वर-समूह के पुनरुच्चारण से अवरोही क्रम मे ऋषभ पर अधिक न्यास दिखाई देता है। जैसे :—गप मगमरे, गपधगप मगमरे, गपधनिधप, धगमरे, आदि। दूसरा न्यास-स्वर मध्य सप्तक एव तार सप्तक का षड्ज है। मगमरेसा, गप मगमरेसा, धनिधप मगमरेसा, द्वारा मध्य सप्तक के षडज पर न्यास किया जाता है

नि

और गपधऽ निधऽ निसां, नि धप, धनिसां, संरेसं, धनिधप, गपधनिसां, आदि स्वर-समूहों द्वारा तारसप्तक के षड्ज पर न्यास किया जाता है। वादी स्वर धैवत पर न्यास

नि

करने का प्रयत्न किया जाकर राग स्वरूप क़ायम रखना हो तो गपधऽऽऽ निधऽऽऽ,

नि

गप धनिसां निध, धनीधप मगमरे गपधऽऽऽ, निधऽऽऽ, निसां आदि स्वर समूहों द्वारा रागोचित शैली से ऐसा किया जा सकता है। किन्तु ऋषभ-सा व तार सप्तक के सां की अपेक्षा धैवत स्वर के न्यासत्व की गोणतर रहती है। इससे यह स्पष्ट होता है हिन्दुस्तानी सगोत पद्धति में ऐसे अनेक राग दिखाई देते है, जिनमे वादी स्वरों की अपेक्षा अन्य अनुवादी स्वरो को न्यास दृष्टि से विशेष महत्त्व प्राप्त है। इसका अर्थ यह नही लिया जाना चाहिए कि न्यास-स्वर वादी की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। ऐसे प्रयोगो मे वादी स्वर पर न्यास न होते हुए भी वादी स्वर का पुनरुच्चारण अवश्य होता रहता है क्योंकि वादी स्वर का पुनरुच्चारण राग स्वरूप, राग रसाभिव्यक्ति व रजकता की दृष्टि से अनिवार्य है यह ध्यान देने योग्य तथ्य है वादी स्वर के अतिरिक्त अन्य किसी स्वर पर न्यास करने की तथा वादीस्वर का पुनरुच्चारण करके उसे बार-बार प्रस्तुत करने की इस प्रक्रिया में न्यास का अपना महत्त्व दिखाई देता है व वादी स्वर का भी अपना महत्त्व द्रष्टव्य है। अतः वादी स्वर के अतिरिक्त किसी अन्य स्वर पर न्यास रखते हुए भी वादी का वादीत्व स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करने से ही राग-स्वरूप, रंजकता तथा रसाभिव्यक्ति सम्पादित की जा सकती है और यह एक अतीव कौशल की प्रक्रिया है। इस तथ्य पर ध्यान रख कर ही न्यास-प्रयोगो को किसी राग में प्रस्तुत करना चाहिए।

अल्हैया बिलावल राग मे क्वचित् समय सारेगमगरे' की तान प्रयुक्त की जा सकती है, इसमें 'सारेग' आरोही का माना जाना चाहिए, 'मगरे' स्वर-समूह का अवरोही का मानने से अवरोही में गांधार स्वर के वक्रत्व-नियम का उल्लंघन किया हुआ दिखाई देता है, परन्तु तान-प्रक्रिया में सुविधा की दृष्टि से वक्रत्व-नियमक

उल्लंघन करके सरल 'मगरेसा' का प्रयोग क्षम्य माना जायेगा। वक्रत्व-नियम के उल्लंघन की इस प्रकार की प्रक्रिया अनेक रागो मे पायी जाती है। पर ऐसा केवल तान-क्रिया मे ही किया जाना चाहिए।

अल्हैया बिलावल उत्तरांग वादी राग होने से राग का स्वरूप अवरोही क्रम के स्वर-समूहो द्वारा विशेष रूप में स्पष्ट होता है। दिन के प्रथमप्रहर में गाये जाने वाला यह मधुर तथा लोकप्रिय राग है।

आरोही अवरोही स्वरूप

सारेगप, ध, निध, निसाँ। सनिधप, धनिधप, मग, मरे सा।

मुख्य अग अथवा पकड

गप, धनिधप, मग, मरे।

तानें

१. सारेगरेसासा, सारेगप मगमरेसासा, सारेगपधनिधप मगमरे सासा, सारेग पधनिसनिधप मगमरेसासा, सारेगप धनिसांरेमांनि धप मगमरेसासा, सारेगपधनिसा रेंग मगंरेंस निधप, धनिधप मगमरेसासा।

२ सारेगपधनिसांरे गपमंगम रेमारेसनिधप, धनिधप मगमरेसासा।

३ सारेगपगमरे, गपधगपमगमरे, गपधनीधप मगमरे, गपधनि साँनिधप मगमरे, गपधनि सरेसानिधप मगमरे, गपधनिसाँरें गंपं मंगमंरें संनिधप, धनिधप मगमरे सासा।

४. सारे गेरे सांसाँ, सरेगपमंगमंरें सांसा, गंगरेंसां, सांरेंसांनिधप, ध निसं-निधप, धनिधप, मगमरे सासा।

५. मगमरेसासा, पधगपमगमरेसासा, धनिधप धग मरेसासा, सारेसांनिधप, धानीधप मगमरेसासा ग रेसांसां, गंपमग मरेसांसां, रे सानिधप, धनिनप मगमरे सासा।

६ सारेगमगरे' गपधनिधप, धनिसंरेसांनि, सारेगंमगरे, गंपमंग मरे संस रेंसां निध पधानिध पमगरे, गपमगमरे सासा।

७ सारे सारे, रेगरेग, गपगप, पधपध, धनिधनि, निसांनिसं सांरेसांरे रेगरेंग, पंपमगमर सांसा, रेंसांनिध पमगरे, गपध, पधानी, धनिसां, निसांरे सनिधप, धनिधप, मगमरे सासा।

८. सारेग, रेगप, गपध, पधानी, धनिसाँ, सरेंसाँ, गंरेंसां, गपंमंग मरेसाँ, गंरेंसां, रेंसांनि सांनिध निधप, मगमरे, गपधनिस, रेंगंरेंसंनिधप मगमरे सासा।

९ संनिधप धनिसां, सरेसांनिधप धनिसं, सरगेरें मंनिधप धनिसाँ, सरेंगंपं मग मरेंसनिधप धनिसां, सरेसंस रेंमं, संरेंससं, रेंमं सरें संस रेंसं संरें सांनिधप धनिधप मगमरे गपमग मरेसासा।

१०. सरेरे, रेगग, गपप, पधध, धनिनीं, निसंस, संरेरें, रेंगेंगें, गंपंमंगं मरें संसां, रेंरें संनिधप, धनिधप मगमरे ससा ।

११. गप गप मगरेसा, पधपध, गपगप, मगरेसा, धनीधनी, पधपध, गपगप, मगरेसा, सरेंसरें रेंगं, रेंग, गंपमंग रेंसां, संरें संनिधप, धनिधप मगमरे, गपधनि (सं)ऽनिधप मगमरे सासा ।

गगग पपप, पपप धधध, धधधनीनी नि निनिनिसंसंस, संसंसं रेंरेंरें, रें रेंरें गगँगं, पंपंमंग मरें संसं, रें रें रें रें सनि धप, संसंसं संनिध पध नि नि नि नि धप मग रेगपम गमरेसा ।

१३. गपध गपध गपमगमरेसामा, धनिसधनिसं धनी धपमगमरे सस, संरेंग संरेंग सरेंगेरें संनिधप धनिसंरें संनिधप, धनि धप मगमरी, मगग, पपप, धधध, निनिनि, संसंस, रेंरेंसंनिधप, धनिधप मगमरेसस ।

१४. (प) मगमरेससा (नि)धपमगमरेसस(रें)सनिधप मगमरेसस, सरेंगं(पं०) मंमंमरसं रें रें सं निधप, गपध ग (प) मगमरेसासा ।

१५. रेरेसासा, ममगग मम रेरे सस--पपपमगग मम रेरे सस, धध पप मम गग ममरे रे सासा, ससनिनिधध पप ममगग ममरेरेसस, रेंरें संस, रेंगंपंपं मंग मरें सस गंरे संमं निनि धधपप धानीनी धध पप, ममगममरेरे सस ।

राग शंकरा

श्लोक :–

प्रसिद्ध इह शंकरो भवति षाडवो वर्ज्यम् ।
सपाव भिमतो सदा मधुरवादि संवादिनो ॥
परैस्तु रिमवर्जितः कथित ओड़वोऽरि क्वचि-
–न्निशीथ समये ऽभिगीत इहचारुतीव्र स्वरैः ॥

(रागकल्पद्रुमांकुरे)

दोहा :–

बरजे मध्यमको सदा सब तीवर सुर पेखि
ग नि वादी-संवादि है राग शंकरा देखि ॥

(राग चन्द्रिका)

यह राग बिलावल थाट से उत्पन्न है। इस राग के दो प्रकार हैं। प्रथम प्रकार के शंकरा में ऋषभ तथा मध्यम वर्ज्य हैं और इसकी जाति ओडुव ओडुव है। उक्त श्लोक में "परैस्तु रिमवर्जितः कथित ओडुवोऽपि क्वचित्" कहकर इसका उल्लेख किया गया है। द्वितीय प्रकार के शंकरा में केवल मध्यम स्वर का वर्जित होना बताया गया है। इस कारण उसकी जाति षाडव-षाडव मानी जानी चाहिए। इस द्वितीय प्रकार के शंकरा का भी राग कल्पद्रुमांकुरकार ने "षाडवो वर्ज्यम" कहकर उक्त श्लोक द्वारा समर्थन किया है। उक्त दोनों ही प्रकारों में मध्यम स्वर के

वर्ज्यत्व की स्थिति स्पष्ट है। आज के प्रचलित शकरा में भी मध्यम वर्जित है, इससे भी उक्त कथन का समर्थन होता है। षाडव-षाडव जाति का शंकरा आज प्रचलन में है। प्रश्न केवल ऋषभ स्वर के प्रयोग के संबंध में शेष रहता है, जिसका उत्तर प्रचलित शंकरा के दूसरे रूप को देखने से स्पष्टतः मिल जाता है शंकरा राग की परम्परागत घरानेदार अनेक बंदिशों में यह पाया जाता है। कि अधिकतर 'सागपनि इन चार स्वरों पर ही शंकरा निर्भर रहता है, किन्तु राग में कम से कम पांच स्वर होने चाहिए, इस नियम के अनुसार शंकराराग में ऋषभ व धैवत का अत्यल्प रूप में प्रयोग किया जाता है। आज जो शंकरा प्रचार में हैं, उसमें यह बात विवक्षित रूप में देखने मे आती है कि आरोही मे ऋषभ स्वर अत्यन्त अल्प दिखाई देता है, किन्तु अवरोही मे तानक्रिया में स्पष्टतया इसका प्रयोग किया जाता है। आलापचारी

रे

करते समय 'गसा या ग रे सा' स्वर-समूह गाया जाकर ऋषभ का कण के रूप में प्रयोग होता है।

आरोही में ऋषभ के प्रयोग की स्थिति कुछ विचित्र सी ही है। आरोही मे ऋषभ का प्रयोग 'सारेगप' के सरल रूप में नहीं किया जाता है। कारण कि इस प्रकार का सरल एवं स्पष्ट प्रयोग अल्प प्रयोग की परिभाषा में अंकित नहीं किया जा सकेगा। ऋषभ स्वर का अल्प प्रयोग पं० भातखण्डे की क्रमिक चौथी पुस्तक में अनेक घरानेदार ख्याल की बन्दिशों में पाया जाता है। संगीत-कार्यालय, हाथरस द्वारा जुलाई १९६४ में प्रकाशित पं० भातखण्डे की क्रमिक पुस्तक भाग ४ के पृष्ठ २२६ पर शंकरा राग के सदारंग द्वारा रचित परम्परागत बड़े ख्याल के स्थायी की दूसरी पंक्ति के 'ससरेग रे' स्वर-समूह को देखने से स्पष्ट होता है कि ऋषभ स्वर का अल्प प्रयोग 'सासारेग' के रूप से तानक्रिया में किया जा सकता है।

रे

कण के रूप में ऋषभ स्वर का अल्प प्रयोग, आरोही में स ग ग (स) स्वर-विन्यास रूप में भी अनेक बार दिखाई देता है। ऋषभ स्वर का आरोही में स्पष्ट प्रयोग उक्त पुस्तक के पृष्ठ २२० पर अंकित तराने के स्थायी विभाग की अंतिम पंक्ति में 'सारेग सरेसा' स्वरसमूह द्वारा दिखाया गया है। सारांश यह है कि आरोही मे ऋषभ स्वर का प्रयोग 'सारेगप' के रूप में नहीं होना चाहिए व ऋषभ का प्रयोग

स रे

'ससरेग रे सरेसा, सारेग रे सारेसा' तथा 'सा ग ग (सा)' स्वर-समूहों द्वारा ऋषभ का अल्प रखकर ही किया जाना चाहिए, जिससे कि ऋषभ के अल्प प्रयोग की मंशा स्पष्ट हो और यह स्वर आरोही में वर्जित नहीं है यह भी स्पष्ट हो जाये।

पूर्व में कहा गया है कि इस राग का संपूर्ण स्वरूप 'सा-ग, पनि इन चार स्वरों पर निर्भर है, जिसका अर्थ यह हुआ कि ऋषभ के अतिरिक्त प्रयुक्त होनेवाला

किन्तु वर्जित न होने वाला स्वर धैवत है। उसका भी प्रयोग इस राग मे अल्प मात्रा मे किया जाता है। आरोही में 'पधनिसं' जैसा सरल प्रयोग निषिद्ध माना जायेगा, आरोही मे धैवत स्वर को 'निध सं' स्वर समूह द्वारा वक्र रूप मे प्रयुक्त किया जाता है। आरोही के उत्तरांग मे धैवत वक्रत्व के फलस्वरूप अतरे का उठाव करते समय सरलता के हेतु 'पपसं, का प्रयोग अधिकतर किया जाता है! कोचित् समय पानिसरें सं तान क्रिया में प्रयुक्त होता है और 'पनिध, सं' स्वर-समूह मे धैवत का वक्रत्व बताते हुए अतरे का उठाव किया जाता है। उपर्युक्त कथन से आरोही में ऋषभ तथा धैवत के प्रयोग की स्थिति व शैली स्पष्ट हो जाती है।

अवरोही में ऋषभ-धैवत की स्थिति के विषय में यह कहा जायेगा कि आलापचारी करते समय उत्तरांग में मुख्य स्वरविन्यास 'निधसंनि, रेंसंनिध संनि तथा प निध संनि' आदि गाने के पश्चात् अवरोही में जब पंचम पर आया जाता है, तब 'नि' तथा 'प' के अंतराल के उच्चारण में ध्वनि को कुछ विश्राम दिया हुआ आभासित होता है।

उत्तरांग मे निषाद स्वर इस राग का मुख्य न्यास-स्वर है और न्यास-स्वरो का स्पष्ट प्रस्तुतीकरण आलापचारी मे ही किया जाता है, जैसे—निध संनि, पनिध, सनि, पग

ध रे

प, निस रेंसा निध सनि, पग प ग –रे सा। उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि निषाद स्वर पर न्यास करने के पश्चात् अवरोही क्रम से जब पचम पर आलाप द्वारा आया जाता है, तब धैवत का प्रयोग ध्वनि के व्यवधान स्वरूप कण के रूप में पंचम के साथ ही होता है और उसे निषाद-न्यास के पश्चात् अवरोही में प्रयुक्त माना जाता है। क्वचित् समय धैवत का पंचम पर यह कण अत्यंत स्पष्ट रूप में भी दिखाई दे तो भी राग-रूप को हानि नही होती है। इस प्रकार के प्रयोग गुरुमुख से समझ लेना चाहिए। तथा उचित अभ्यास द्वारा उन्हे प्रयुक्त करना चाहिए। धैवत का स्पष्ट प्रयोग तान क्रिया में 'सनिधप पगरेसा' के द्वारा किया जाता है।

अवरोही की 'सनिधपपगरेसा' तान में ऋषभ स्वर स्पष्टत: प्रयुक्त किया जाता है, किन्तु तान-क्रिया में ही केवल इस प्रकार का स्पष्ट प्रयोग होना चाहिए।

रे रे

आलाप करते समय ऋषभ स्वर का प्रयोग ग-रे सा तथा ग सा स्वरसमूहों द्वारा, अल्प मात्रा में या मींड के क्रम में, ऋषभ की ध्वनिका आभास देते हुए किया जाता है। उक्त दोनों ही प्रकार के स्वर-समूह इसी थाट से निर्मित बिहाग राग में भी प्रयुक्त होते हैं, किन्तु इन स्वर-समूहों के पूर्व बिहाग में ग म स्वर-संगति का प्रयोग होगा व शंकरा में गप' स्वर-संगति का बिहाग मे इन स्वर-समूहों को अलग करने वाली

रे रे

दूसरी सूक्ष्म विशेषता यह दिखाई देती है कि ग -रे सा तथा गस स्वर-समूहों के

गांधार को आरोही के ऋषभ का कण दिया जाता है, जब कि इस प्रकार का ऋषभ का आरोही कण, विहाग राग में प्रयुक्त होने वाले उक्त स्वर-समूहों को नही दिया जाता है। क्योंकि विहाग राग के आरोह में ऋषभ स्वर वर्जित है, जब कि शंकरा मे आरोही ऋषभ स्वर अल्प मात्रा मे प्रयुक्त होते हुए भी वर्जित नही माना जाता है। अत: विभिन्न रागों के स्वर समूह समान होते हुए भी कण, मीड तथा अन्य अनेक प्रक्रियाओ द्वारा भिन्न रूप होकर अपनी विशिष्ट उच्चारण-शैली से विवक्षित रागो का निजी स्वतन्त्र स्वरूप प्रकट करते दिखाई देते हैं। अत आलापचारी करते समय अवरोही में ऋषभ स्वर का किस प्रकार प्रयोग किया जाता है व तान-क्रिया में किस प्रकार का, यह उपर्युक्त सोदाहरण विवेचन से स्पष्ट हो जाता है। तथा यह भी स्पष्ट होता है कि मध्यमवर्जित होने के कारण इस राग की जाति षाडव-षाडव मानी जाती है। रि तथा म दोनो जिसमे वर्जित है, ऐसा औडुव-औडुव जाति वाला शंकरा-प्रकार विशेष प्रचार मे नही है।

इस राग के वादी-संवादी के विषय में भी मतभेद दिखाई देते है। राग कल्पद्रुमांकुर के "सपावऽभिम तो सदा मधुरवादि सवादिनौ" कथन से 'सा' के वादी तथा 'प' के संवादी होने की ओर संकेत मिलता है, जब कि राग चन्द्रिकासार ने "गनिवादी-सवादिनो राग शंकरा देखि" कहकर गांधार का वादी तथा निषाद का संवादी होना दिखाया है। राग का स्वरूप, चलन, प्रकृति तथा इसमे प्रमुखरूप में प्रयुक्त होने वाले स्वर-समूहों द्वारा प्रकट होने वाले सप तथा ग नि स्वर-संवादों के बहुलत्व से यह प्रतीत होता है कि उपर्युक्त दोनों स्वरसंवादो पर ही राग निर्भर करता है, परिणामत: 'सा प' वादी संवादी माना जाता है व ग नि को भी वादी संवादी के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। प्रचलित शंकरा के चलन की दृष्टि से दोनो ही मत स्वीकार्य माने जाते हैं। परन्तु गांधार तथा निषाद का संवाद अधिक प्रचलित है।

इस राग में सा ग, प तथा नि स्वरों पर न्यास किया जाकर राग का विस्तार किया जाता है। पूर्वांग में 'साग प' से आरोही का उठाव करके ग प
रे
ग–रे सा से अवरोहण करने से शंकरा स्पष्ट होता है। अर्थात् पूर्वांग अवरोही में
प रे–
मपगरेगमा का स्वरसमूह आलापचारी में प्रमुख माना जाता है। इसके पश्चात् सा
प   २
ग, ग रे पग पानि, (प) ग, ग प ग–रे सा के द्वारा राग-विस्तार किया जाकर गांधार का वादीत्व दिखाया जाता है। 'गरेपग' स्वर-विन्यास, गांधार पर न्यास के कारण और अनेक बार प्रयुक्त होने से, राग का अंग-सूचक माना जाता है। उत्तरांग मे निषाद स्वर पर न्यास करते समय 'निध सनि,' स्वर-समूह को पुनः २ प्रयुक्त करना

अनिवार्य समझा जाता है क्योंकि उत्तरांग में यही स्वर-समूह प्रमुख रूप से राग-सूचक है। उत्तरांग में निषाद से पंचम पर आते समय अर्थात् 'नि प' स्वर-प्रयोग करते समय निषाद को किंचित बढ़ाकर पंचम पर पहुँचा जाता है। अर्थात् ऐसी स्थिति में कभी कभी निषाद स्वर की ध्वनि का किंचित् खण्डित होने का आभास मिलता है, जो रागोचित माना जाता है। तात्पर्य यह है कि 'निप' की ध्वनि का उच्चारण इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे विहाग राग में प्रयुक्त होने वाली निप स्वर-संगति से यह प्रयोग भिन्न प्रतीत हो। क्वाचित् समय 'निप' स्वर-संगति के उच्चारण में निषाद पर किंचित विश्राम देने के स्थान पर नि ध प जैसा धैवत का कणयुक्त प्रयोग किया जाता है और निधसंनि, या म प ग–रे सा स्वर-समूह के गायन द्वारा राग-स्वरूप स्पष्ट किया जाता है।

इस राग में आरोही की तान 'सासागपपसंसं' या 'सासागप निसांरेसं' गाई जाती है और उसके पश्चात् अवरोही में 'संनिध पगरेसा' गाया-बजाया जाता है। इसका गायन-वादन का समय रात्रि का द्वितीय प्रहर है। इसका चलन व प्रकृति साधारण रूप में चंचल मानी जाती है। यह एक लोक प्रिय व मधुर राग है।

आरोही अवरोही-स्वरूप

सा, गप, निध सां/ संनि, पनिध सनि, प, गपगसा।

मुख्य अंग अथवा पकड़

सांनि, पनिधसनि, प, गप गसा।

तानें

१. सासागरेसासा, सासागपपगरेसा, सासागपपनिधप गपपगरेसा, सासागपसंसंनिधपपगरेसा, सासागप पमासांग गंरें संनिधपपगरेसा, सा सा ग प प सां सां गं पं पं गं रें सं नि पनिध (सं) नि प प गध गरे सा सा।

२. ससागप पनिध सांऽनि, पनिध सांऽरेंसांऽ निध संऽनि, पनिध सांऽ गंमंरें सांऽ निधसांऽ नि, पनिध सांऽ गंपंपं गंरेंसाऽ सां रें सांऽनिध संऽनि, पपपपगरेसा सा।

३. सांसांगंगंरेंसां, सांसांमंगंपंपंगंरें सांमां, मंगंरेंसां रेंरें सांसां, निधसांनि, पपगप गरेसासा।

४. सा गग, गपप, पनिनि, निसांसां, सांगंगं, गंपंपं गंरेसंसं सांरें मांसां, रेंमां निनि, पपनिध (सं)ऽनि धपपगपगरेसस।

५. ग ग रेसा, पप गप पगरेसा, निधिप पपगप पगरेसा रेंरें सांसां, गंग रेंसां, पंपंगरें सांसां, रें कू सांनिधप, पनिध (सं)ऽनि पप गप पग रेसा।

६. गप गप, पनिपनि, निसांनिसां, सांगंसांगं, गंपंगंपं, गंरें सांसां संरें सांरें निसांनिसां, निधिनिध संनिसंनि, पपगप गरे सासा।

७ गपपगरेमा, पनिनिधिपप, गपपंगं रेसांऽ, रेंगंगं रेंसासा रें,रें संनिधाप, निधनां निधप गप पगं रेसा ।

८. निधसनि, रेंसांनिधसांनी, गंरेसांरेसंसनिधसंनि, पंपगंपंगंरें संस रें सांनिध सनि, पप गपपम पग रेसा ।

९ पपग पपग पपगरेसासा, संसंनि संसनि संसनिधप, पपगपपगपगपगरेसासा, गगंरे गंगरे गंगरेंसां, पंपगरे सांसा, रेंरेंसां रेंरे सां रेरें सांनि धप, पनिध (सां)ऽनि पप गपपगरेसासा ।

१०. पपग, निनिध, ससंनि, रेंरेंसा, गंगंरे, पपंगंरें सांरें संसं निधसंनि पपगरे सारेसामा ।

११. संसंरें मनिधपपगरे सासा, गंगरेसां निधपप गरेसासा, पपंगंरें संनिधप, निधमनिधप पग, पपगरे सासा, गरेपग, निधसोनी, गंरेपंग, पंपंगंरे संनिधप, निध सनिपप गपगरेसामा ।

राग देशकार

श्लोक :—

देशीकार स्त्वौड्वः शुद्धमेलः ।
प्राक्तोनित्यं वर्जितो सौ मनिभ्याम् ॥
ग संवादी धैवतस्तत्ववादी ।
पन्यासोऽयं गीयते प्रातरेव ॥

(रागकल्पद्रुमांकुर)

दोहा :—

ठाठ विलावलमें जवँ मनि को दिये निकार ।
धगवादी संवादि तें ओडव देशीकार ॥

(रागचंद्रिका सार)

यह राग विलावल थाट से उत्पन्न होता है। बिलावल थाट से निर्मित होने के कारण इसमें सब शुद्ध स्वरों का ही प्रयोग किया जाता है। आरोही तथा अवरोही में मध्यम तथा निषाद दोनों ही स्वर वर्जित होने से इसकी जाति ओडुव-औडव मानी जाती है। इस राग में वादी धैवत तथा संवादी गांधार है। इसका गायन-वादन समय दिन का प्रथम प्रहर है।

धैवत वादी होने से यह राग उत्तरांग प्रवल है अर्थात् आलापचारी विशेष रूप में उत्तरांग में की जानी चाहिए। इस राग में धैवत स्वर का विशिष्ट रूप से आंदोलन सहित उच्चारण करना चाहिए। धैवत पर होने वाले विशिष्ट आंदोलन

की उच्चारणशैली गुरुमुख से उचित रूप मे श्रवण, मनन तथा अभ्यास करके आत्मसात् करनी चाहिए, क्योंकि धैवत स्वर की इस विशिष्ट उच्चारण शैली को प्रमुख रूप से रागसूचक माना जाता है। अतः "धऽऽप' स्वर-समूह की उच्चारण-शैली की ओर विशेष सावधानी रखनी आवश्यक है।

इस राग मे 'धऽऽप' की विशिष्ट उच्चारण-शैली के अतिरिक्त "गपधप' भी एक प्रमुख स्वर-समूह माना जाता है। अर्थात् उत्तरांग में "धऽऽप" तथा "गपधप" प्रमुख एवं रागसूचक स्वर-समूह होते है।

इस राग में धैवत के अतिरिक्त पंचम तथा तार सप्तक के षड्ज पर भी न्यास किया जाता है' पंचम पर न्यास करते समय स्वरों के आरोही क्रम के स्थान पर अवरोही क्रम के स्वरों को ही अधिकतर प्रयुक्त किया जाना चाहिए। किन्तु ऐसे प्रयोगों में 'गपध' का आरोही-क्रम बार-बार प्रयुक्त किया जाता हुआ दिखाई देता है और उसके पश्चात् गपधप' के प्रमुख स्वरसमूह को प्रयुक्त करके राग स्पष्ट किया

ध

जाता है। आलापचारी करते समय, किंचित् "धसाप" स्वर समूह के गायन-वादन में,

ध

धैवत अर्थात् वादी स्वर को कण के रूप में भी दिखाया जाता है। 'ध सां प, ग पधप

रे

ग सा" स्वर-समूह के प्रयोग में 'गसा' पूर्वांग-अवरोही होता है किन्तु 'गसा' के अंतराल में ऋषभ के कण रूप मे उच्चारण का आभास मिलना चाहिए। अतः 'ग सा' के पूर्वांग-अवरोही उच्चारण में ऋषभ का उच्चारण 'ग -रे सा' प्रकार से किया जाता है या ग सा के मींड युक्त प्रयोग मे ऋषभ को प्रयुक्त किया जाता है।

भूपाली तथा देशकार के आरोही-अवरोही के स्वरों में समानता होते हुए भी वाद भेदी, अंग-प्रबलता व विशिष्ट स्वर-संगतियों के कारण दोनों ही राग भिन्न तथा स्वतन्त्र है। भूपाली में गांधार वादी होने से आलापचारी मे पूर्वांग-प्रबलता है किन्तु देशकार में धैवत वादी होने से उत्तरांग-प्रबलता के अनुसार आलापचारी करना पड़ती है। भूपाली के कल्याण थाट से निर्मित होने के कारण कल्याण-अंग की "परेग" स्वर-संगति उस राग में दिखाई देती है, किन्तु देशाकार बिलावल थाट से निर्मित होने के कारण 'गप धप', 'गपधगप', स्वर-समूहों में पंचम पर न्यास करते समय बिलावल की 'धग' स्वर-संगति प्रयुक्त होती हुई दिखाई देती है। दोनों ही राग के न्यास-स्वरों में विभिन्नता के अतिरिक्त पूर्वांग-प्रबलता की विशेषता भी दोनों रागों के भेद का महत्वपूर्ण कारण है।

इस राग में भक्तिरसात्मक गति गाये जाने से राग अधिक रुचिकर प्रतीत होता है। इसकी प्रकृति एवं चलन गम्भीर होते हुए भी यह राग सरल तथा मनोरंजक है।

आरोही-अवरोही-स्वरूप

सारेगप, ध, मा/सां, ध, प, गपधप, गरेसा ।

मुख्य अंग या पकड़

ध प गपध, प, गरेसा ।

तानें

१. सारेगरेसासा, सारेगपधप गरेसासा, सारेगप धसंधप, गपधप, गरेसासा, सारेगपधसारेंसाधप गपधप, गपगरेसासा, सारेगप धसंरेंग रेंसा धप गपधप गरेसासा, सारेगपध सारे गें पपगरें संसा धप, गपधप गरेसासा ।

२. सारेगपधप, गपधसांधप, गपधसंरेंसंधप, गपधसांरेंगंरेंसांधप, गपधसं रेंगं-पपग रेंसंसा धप, गपधप गरेसासा ।

३. सरेगरेसस, सरेगपपगरेसा, सारेगेरेंसांसां, रेंसांसांधपप, धधसंसंधप, गपध-धपप, गपधपगरेसस ।

४. सारेरे, रेगग, गपप, पधध, धसंसं, सरेंरें, रेंगंगं, गंपंगंरेंसांसां, सांरेंसा-सधप, गपधसाधप, गपधपगरेसस ।

५. गरेरेगगपगग, धपप, संधध, रेंसंसं गंरेंरें पंगगं पंपंगंरें, संसंधप, गपधसं धप, गपधप गप गरेसस ।

६. सारेगपध, गपधसंरें पधमरेंग रेंसा, पंपगरें संस, गंरेंसंस, रेंसंसंरें, ससंधप, गपधपगरेंसस ।

७. पपध पपध, गगपगगगगरेसासा, धधमधध म पपधपपध गपधपगरेसासा, ममगे ममरे, धधस धधम, पपध, पपध गपधप गरेसम, रेरेग रेंरेंग, ससंरें ससंरें, धधसं धधमें, पपध पपध, गपधप गरेसम ।

८. धपगपध, सधपधमं, रेंसधसंरें, गंरेंसरेंगंपं गंरें सधपप, गपध मंधप, पधगपधप गरेसासा ।

९. गपध गपध गपध ग गरेसासा, धसंरें धसंरें धसरें संसंधप, गपध गपध पपगरे-सासा मरेगमरेग मरेगरे सध पप, धधसंध पप, गपधप गरेसासा ।

१०. गगरेरे मम, पपगगरेरेमम, धधपप गपधप गगरेरे सस, संसधध पप गप-धपगगरेरेसम, रेंरेंससां धध पप गगपपधधपपगगरेरेममा, गगरेंरें संस, पपंगंगंरेंरेंसंस, धधपप, गगपपधधपप, गपधपगरेसस ।

११. गपगप, पधपध, धसधस, संरेंसरें रेंगंरेंग पंपंगंरें सरेंसरें धसधसं, पधपध, गपधप गरेससा ।

१२. धपगपधप गपधप गपधप गरसेसा, संधपधसंध, पधसंधपधसंधपप धप गपधपगपधप, गपधप गरसेस, गरें संरेंगंरे, संरेंगंरे सांरेंगंरे संसंधप, गगग, पपप, धधध, संसंसं, रेंरेंरें सधपपगपधपगरेसस ।

राग विहाग

श्लोक :—

विहंग इह गीयते ममृदुरन्यतीव्र स्वरो ।
रिधौ त्यजति रोहणे स्पृशतिचाऽवरोहे पुनः ॥
तथा निगदितौ गनि रुचिरवदि संवादिनौ ।
निशीय समये सदा श्रुतिमनोहर गीयते ॥

(राग कल्पद्रुमांकुर)

दोहा :—

कोमल मध्यम लीखसवचढ़ले रिधको त्याग ।
गनिवादी संवादीते जानत रागविहाग ॥

(रागचंद्रिकासार)

यह राग विलावल थाट से उत्पन्न होता है । इसमें सब स्वर शुद्ध लगने हैं । आरोही में 'रिध' वर्जित और अवरोही के संपूर्ण होने से इसकी जाति औड्व सम्पूर्ण है । इसनें वादी गांधार है तथा निषाद संवादी है । रात्रि के द्वितीय प्रहर मे इसे गाया-वजाया जाता है । धैवत तथा ऋषभ का प्रयोग होते हुए भी इस राग में नी प तथा गसा के मीड युक्त उच्चारण में धैवत व ऋषभ का क्रमशः प्रयोग आभासित होता है, जिसका अर्थ यह है कि अवरोही क्रम से आलापचारी की प्रक्रिया में धैवत तथा ऋषभ अल्प माने जाते हैं । 'नी—ध प' 'नी प' या के द्वारा पचम को धैवत का कण-स्पर्श देकर 'नीप' स्वर—संगति के प्रयोग से धैवत का उच्चारण स्पष्ट किया जाता है । इसी प्रकार 'ग—रे सा' या 'ग सा' स्वर-संगति में षड्ज को ऋषभ का कण देकर ऋषभ का प्रयोग स्पष्ट किया जाता है । अर्थात् अवरोही क्रम से आलापचारी करते समय धैवत एवं ऋषभ दोनों ही स्वरों का अल्प प्रयोग किया जाना चाहिए । व नीप तथा गसा स्वर संगतियों का उच्चारण करते समय अति सावधान रहना चाहिए । कभी कभी 'नीप गमग गसा' स्वर-समूह को मीडयुक्त गाते

समय धैवत तथा ऋषभ लुप्त प्रतीत होते हैं व धैवत व ऋषभ अवरोही में वर्जित हैं, ऐसा आभास उपर्युक्त स्वर-समूह के गायन-वादन में मिलता है, परन्तु नीप व गस स्वर-संगतियों के मीड युक्त प्रयोग में धैवत तथा ऋषभ का आभास मिलना अनिवार्य है, 'नपि गमगसा' स्वर-विन्यास मीड के बिना गाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में नी, (प), ग —म ग, सा स्वर-समूह के विश्रांति-स्थानों पर ध्यान देना चाहिए। अर्थात् किंचित् समय वैचित्र्य की दृष्टि से आलापचारी करते समय अवरोही में धैवत तथा ऋषभ को वर्जित किया हुआ दिखाई देना रागोचित माना जायेगा। नीनी (प) गमग, पग मग, सा के द्वारा धैवत तथा ऋषभ वर्जित दिखाई देते हैं, किंतु वहां अन्य स्वरों के व्यवधान में उक्त दोनों स्वरों का विशेष रूप से प्रयोग होता रहता है, यह ध्यान से सुनने के पश्चात् मालूम हो जाता है। अतएव धैवत तथा ऋषभ के प्रयोग की अवरोही में क्या स्थिति है, यह स्पष्ट रूप से समझ लेने की आवश्यकता है।

तान-प्रक्रिया करते समय अवरोही में धैवत तथा ऋषभ स्पष्ट रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं, जिसके कारण 'नीधपमगरेसा' ऐसी अवरोही क्रम की सरल तान गाई जाती है।

यह राग बिलावल थाट से निर्मित होने तथा शुद्धमध्यम का भी इसमें स्पष्ट प्रयोग होने के कारण इसमें तीव्र मध्यम का विवादी स्वर के रूप में प्रयोग किया जाता है। 'पमॅगमग' जैसे तीव्र मध्यम का स्पष्ट प्रयोग किया जाता है व किंचित् समय प—मॅगमग' स्वर-समूह द्वारा तीव्र मध्यम का अर्ध प्रयोग किया जाता है तथा 'पमॅगमग, नि (प)—मॅ गमग, गमपनी—ध पमॅगमग' तथा 'ध मॅपमॅग मग' आदि स्वर-समूहों में भी स्पष्ट प्रयोग किया जाता है, जिसका अर्थ यह नहीं कि तीव्र मध्यम के बिना यह राग गाया नहीं जाता है। अनेक बार 'पमॅगमग' के तीव्र मध्यम के स्पष्ट प्रयोग से गायक-वादक यह आभास देने लगते हैं कि तीव्र मध्यम भी इस राग के प्रमुख स्वरों में है व 'पमॅगमग' यह विहाग राग का अंगसूचक स्वर-समूह है। किन्तु तीव्र मध्यम, जिसे इस राग का विवादी स्वर माना गया है, का प्रयोग विवादी के ही रूप में क्वचित् समय उचित माना जायेगा। यह कहना अधिक उचित होगा कि तीव्र मध्यम के बिना विहाग-राग गाया जा सकता है व यदि उसका प्रयोग करना ही है तो उसे विवादी के नाते ही प्रयुक्त करना चाहिए। विहाग राग के अंगसूचक स्वरों में तीव्र मध्यम का प्रयोग अनिवार्य है, यह कहना उचित नहीं होगा। गमग, पमगमग, गमपपधगमग, नि—ध पगमग, नी (प) गमग, स मग, पग, गमग, गमपधगमग रे सा तथा आलापचारी में अन्य इसी प्रकार के तीव्र मध्यम सहित प्रयोग विहाग राग के स्वरूप, चलन, प्रकृति तथा वांछित भावानुभूति को स्पष्ट कर सकेंगे। अतः

इस राग में तीव्र मध्यम के प्रयोग की स्थिति के संबंध में सावधानी रखनी चाहिए।

वादी गांधार तथा संवादी निषाद, इन दो स्वरों के अतिरिक्त शेष अनुवादी स्वरों में से 'सा' तथा 'प' स्वरों पर इस राग में न्यास किया जा सकता है। अनुवादी स्वरों में से शेष म, रि तथा ध स्वरों में रि तथा ध अल्प मात्रा मे प्रयुक्त होते हैं, इसलिए ऐसी स्थिति में उक्त दोनों स्वरों पर न्यास होने का प्रश्न ही अविचारणीय माना जायेगा। अन्य शेष स्वर शुद्ध मध्यम को अधिक समय तक उच्चरित करना, या उसे न्यास स्वर में अंकित करना राग—स्वभाव तथा स्वरूप की दृष्टि से अति हानिकारक माना जायेगा।

ऋषभ धैवत के आरोही में वर्जित के कारण 'सागम पनिसां' का सरल प्रयोग किया जाता है। मंद्र, मध्य, तार तीनों ही सप्तकों में राग का चलन होता है। मद्र सप्तक में चलन होने वाले रागों में मीडयुक्त स्वर-संवाद तथा स्वर-जोडियां होती हैं व राग मोडप्रधान हो जाता है। ऐसे मीडप्रधान रागों का चलन एवं प्रकृति गंभीर होती है। इस सिद्धांत के अनुसार सा, निप, ग प, निसा, निप, नीप पग, गमग गपमधग गमपधम गमगमा आदि मीडयुक्त स्वरसमूहों के प्रयोग से इसकी प्रकृति गंभीर बनती है। उक्त स्वरसमूहों के बार बार होने वाले प्रयोगों से यह स्पष्ट हो जाता है कि पग गमग, धग गमग, नीप गमग, गमगसा, नीनी (१) गमग आदि प्रमुख तथा रागसूचक स्वर-समूह है।

पूर्व में कहा गया है कि इस राग में निषाद को न्यास-स्वर माना गया है। मध्य सप्तक के निषाद पर न्यास करते समय सममेलोत्पन्न राग शंकरा का आभास होकर राग विहाग का तिरोभाव होता हुआ दिखाई देता है, जैसे पनि, संनि, तथा रें संनि, किन्तु उक्त स्वर-समूहों के तत्काल पश्चात् निषाद से पंचम नीप गमग' इस मीड प्रयोग से या 'नि—धप गमग' इस स्वर-प्रयोग से तिरोभाव नष्ट होकर विहाग का आविर्भाव हो जाता है। तात्पर्य यह है कि नीप का मीडयुक्त प्रयोग व 'गमग' स्वरसमूह का प्रयोग शंकरा व विहाग को पृथक् कर देता है।

गंभीर तथा मीडयुक्त स्वर-समूहों के प्रयोग के अतिरिक्त अन्य स्वरो की उच्चारण-शैली की विशिष्टता के कारण इस राग में विरह-भावना निहित है, ऐसी अनुभूति होती है। राग लक्षणों के अनुसार रागोचित स्वर-समूहो तथा स्वरों के उच्चारण-शैली-वैशिष्ट्य द्वारा ही रागनिहित भावानुभूति होती है।

आरोही-अवरोही-स्वरूप
सा ग, मप निसां/सनिधप, मग, रेसा ?
निसा पकड ग म प, गमग, रेसा।

तानें

१. निसागरेसासा, निसागमपमगरेसा, सानि सागम गनिधपमगरेसा, निसागमपनिसंनिधपमगरेसा, निसागम पानेसां रेसांनिधप मगरेसा, निसागमपनिसां गंरेंसांनिधपमगरेसा, निसागमप निसांगं मंगंरेंसां निधपमगरेसा, निसागमपनिसांगंमंपंमंगंरेंसां निधपमगरेसासा।

२. निसागग रेसा, निसागमपपमगरेसा, निसागमपनिनिधपमगरेसासा, निसागमपनिसागग रेसां निधपमग रेसा, निसागपमनि सांगं मंपंमंगंरें सांनिधपमगरेसा।

३. निसागमपनिधप, गमपनिसांनिधप, गमपनिसां रेंसांनिधप गमपनि सांगंगंरें मांनिधप, गमपनिसांगं मपमंगं रेंसां, सांरेंसांनिधप मगरेसा।

४. निसागगरेंसां, निसांगंमंपपं मंगंरेंसा, निसा गंगंरेंसां, निसां रेरेंसांनि धप, गमपनिसानिधप गमपनिधप, गमपधगमग रेसासा।

५. निसागमपऽ, गमपनिसांऽ, निसागंमपंऽमंगं रेंसां, ममंगंरें सांसां, गंगांरेमां, रेरेंसनिधप, गमपम गरेसासा।

६. पपमगरेसा, नीनीधपमगरेसा, रेंरेंसानिध पमगरेसा, गंगरेंसां पपमंगं रेंसा पनिसां रेरें सांनिधप, गमपप मगरेसा।

७. गमगगम गगम, ममप ममप, पनिपपानि पपनि, निसां निनिसं निनिसां, सांरेंसासारें सामांरेंसां, गंगरेंसा, निसांगमंपंऽमंगंरेंस गंगंरें, रेरेंसां, संसनि, नीनीध, धधप, पपम ममगम पपमग रेसा।

८ सगग, गमम, मपप, पनिनि, निसासां, सांगग, गमंमं मपपंमंगंरेंसं गंगंगांरेमा रेंरेंरें रे सनि, संससस निधपप, निनिनिनिधप मग, गमपमगरेसा।

९. ससस ससंनिधपमगरेसासा, गगग गंगगंरेंसां निधपमगरेसासा, पपप पंपपमगंरेमा, ममगरेसासां, गगरेंसां रेरेंसनिधप, गमप, मपनि, पनिसा, निसारें संनिधप, ससरेमनिधपमगरेसा।

१०. पमगरेसा, नीधपमगरेसा, सनिधपमगरेसा, रेंसंनिधपामगरेसा गंरे संनिधपमगरेसा, मंगरेमा, पंमंगरेसनिधप मगरेसा सागमप, । गमपनी, मपनिसां, पनिसांगं सारें निमां, ससरे सनिधपमगरेसा।

११. गमपमगरेसा. पनिसांरेंसांनिधप, गंमंपंमंगंरेंसां पनिसंरेंसनिधप, गमपमगरेमामा, गगग, ममम, पपप, निनिनि, संसंसं, गंगगं, गगग, निनिनि, गंगं रेंस निधपम गमपमरेससा।

१२. गगरेरेसासा, पपममगगरेरेसासा, निनिधध पपममगगरेरेसासा, रेरेंसंसं, गंगरेमां, पपमंमगगंरेरे संसंनिनिधधपपममगग रेरेसासा।

१३. गगगमपम, पपप निधिप, संसांसंगं रेसा' गंगंगंमंपंम गंरेंसंसा, पपपनिस

निधप, गगगमपपमगरेसा ।

१४. सागसाग, गमगम, मपमपपनिपनि निसांनिसां, संगसंग, गंमंगंमं पंपं-मंगरेंसां, निसां निसां रेंसनिधपप, गमगमपपमग रेसा ।

१५. पमंपमेगमग, नीध नीध पमंपमेगमग, संनिसंनिधप, नीधनिधपमं पमंग-मग, रेसां, गंरेंसं, पंमगरे सांसां, रेंसंरेंसां निधपप, संनिसंनिधप, निनिधपऽमे गमागम-पपमगरेसा ।

राग भैरव

श्लोक :—

राग दिर्भैरवाख्यो मृदुऋषममधस्तत्रिग स्तीव्र निश्च ।
वाद्यस्मिन् धैवतो ऽसा वृषम इह तु संवादिरुपोऽभिगीतः ।।
आरोहऽल्पपंभत्वं क्वचिदपि मृदु निः प्राहुरे के विकल्पम् ।।
प्रातःकालेषु नित्यं जगति सुमतिभिः सुस्वरं गीयतेऽसौ ।।

(रागकल्पद्रुमांकुर)

दोहा :— भैरव कोमल रि म ध सुर तीख गंधार निखाद ।
धैवत वादी सुर कह्यो तांसु रिखव संवाद ।।

प्राचीन शिव, रागण्वि हनुमन् तथा कल्लीनाथ आदि चार मातों के अंतर्गत जो राग-रागिणी-व्यवस्था थी उसमें भैरव राग को आदि अर्थात प्रमुख राग माना जाता था व इसी कारण उपर्युक्त श्लोक में 'रागकल्पद्रुमांकुर' ग्रंथ में रागादिर्भैरवाख्यो यह कहा गया है । राग, रागिणी, भार्याराग, पुत्र-राग तथा पुत्रवधुराग आदि वर्गीकरण के अतर्गत उन्हें व्यक्तित्व प्रदान (Personification) किया गया हुआ दिखाई देता है । इसीके अनुसार आदि राग भैरव को व्यक्तित्व प्रदान (Personification) करते हुए भैरव राग व वेषभूषा का निम्नांकित वर्णन संगीत पारिजात ग्रंथ में पाया जाता है :—

गङ्गाधरः शशि कलास्तिलकस्त्रि नेत्रः ।
सेर्पविभूषित तनुर्गजकृत्तिवासः ।।
भास्वत्त्रिशूल एव नृमुण्डधारी ।।
जयति भैरवसादि रागः ।

शुभ्रांबरो अर्थात शीर्ष पर गंगाधारण किये, चन्द्रमा विराजित तिलक लिये हुए, त्रिनेत्र सहित, शरीर सर्वत्र-सर्पवेष्टित हाथ में त्रिशूल लिये हुए, गले में नरमुण्ड-माला डाले हुए, तथा शुभ्रवस्त्र परिधान पहने शंकर साक्षात् भैरव राग का स्वरूप है, जिनका हम ध्यान करके जय जयकार करते हैं ।

आधुनिक काल में राग-रागिणी व्यवस्था के पश्चात् भारतीय शास्त्रीय संगीत का आधार जब थाट तथा तज्जन्य रागपद्धति हुई तब भैरव राग भैरव थाट

के अंतर्गत माना जाने लगा। अतः भैरव राग भैरव थाट से निर्मित हुआ है, ऐसा माना जाता है। इसमे ऋषभ तथा धैवत कोमल होते हैं व अन्य शेष स्वर शुद्ध होते है। आरोही-अवरोही में सातों ही स्वरों का प्रयोग होने से इसकी जाति संपूर्ण संपूर्ण है। इसमे वादी धैवत, तथा संवादी ऋषभ है। उत्तरांगवादी संधि-प्रकाश राग होने से प्रातःकाल अर्थात् सूर्योदय के किंचित् पूर्व काल में इस राग को गाया जाये, ऐसा कहा गया है। उक्त श्लोक में 'क्वचिदापि मृदु निः' कहकर अवरोही में मृदु अर्थात् कोमल निषाद का प्रयोग मान्य हुआ है। गमनि॒ध॒ पध॒ पग इस स्वरसमूह द्वारा कोमल निषाद का प्रयोग किया जाता है। परन्तु इस स्वर-समूह को बार-बार प्रयुक्त करके भैरव राग का अंगस्वरूप स्वर-समूह बनाना अनुचित होगा। अर्थात् कोमल निषाद का क्वचित् प्रयोग क्षम्य माना जा सकता है, यह समझना चाहिए।

इस राग में विशेषतया कोमल धैवत तथा कोमल ऋषभ आंदोलित रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं।

इस राग की विशेषता आंदोलित कोमल धैवत तथा कोमल ऋषभ पर निर्भर करती है। धैवत तथा ऋषभ के आंदोलन युक्त उच्चारण के साथ-साथ मध्यम स्वर के न्यास के रूप मे मुक्त उच्चारण मे राग रुचिवर्धक तथा भावभिव्यंजक सिद्ध होता है। अतएव आंदोलन युक्त कोमल धैवत तथा कोमल ऋषभ व न्यास के रूप में मुक्त मध्यम आदि प्रक्रियाओं को भलीभांति समझ लेना आवश्यक है। राग का मीड युक्त चलन राग-प्रकृति को गम्भीर स्वरूप प्रदान करता है व इस राग में मरे॒ऽऽऽ का मीड प्रयोग एक विशेष स्वरसगति मानी जाती है। उक्त मीड-प्रक्रिया मे गांधार का छपा हुआ प्रयोग दिखाई देता है, जो इस थाट से निर्मित अन्य रागों में प्रयुक्त मरे॒ स्वर सगति से भिन्न है। अर्थात् मरे॒ऽऽऽ की मीड युक्त स्वरसगति तथा ऋषभ स्वर पर उचित आंदोलन इस राग की प्रमुख विशेषताएं मानी जाती है।

'रागकल्पद्रुमांकुर के ग्रंथकार ने 'आरोहे ल्पर्षभत्वम्' कथन से आरोही में रे॒ स्वर का अल्प प्रयोग किया जाना चाहिए, यह बताया है। आरोही में कोमल ऋषभ का अल्प प्रयोग होने से राग के पूर्वाङ्ग का उठाव अधिकतर 'सा गम' होता है व कभी कभी 'साम' स्वरसगति से भी आलाप का उठाव किया जाता है। ऋषभ का अल्प प्रयोग का यह अर्थ नही है कि 'सारे॒गम' ऐसा उठाव नही हो सकता है। इसका अर्थ यही लेना चाहिए कि अधिकतर उठाव 'सागम', 'साम' तथा 'नि॒सागम' स्वर-समूहो द्वारा किया जाना चाहिए जिससे कि रे॒ का अरोही में अल्प प्रयोग सिद्ध हो। अतरे का उठाव गमपध॒, निसां, गमध॒ऽऽ नि सां गमध॒ऽऽ निस के स्वरसमूहों द्वारा किया जाता है। उत्तरांग-अवरोही मे सनिध॒पम, यह सरल प्रयोग होता है परन्तु आलापचारी म राग को गम्भीरता प्रदान करने के लक्ष्य से उत्तरांग-अवरोही मीड-युक्त गाया जाकर सरल 'सनिधपम' के स्थान पर सां ऽ ध॒ पम जैसा स्वर प्रयोग किया

जाता है व तार-सप्तक के षड्ज से मध्य सप्तक के मध्यम स्वर तक मीड बताई जाती है। सांऽध॒पम, गमनि॒ध॒ पऽध॒ ध॒पम पमगम म के (म)ऽऽऽऽ सा की आलापचारी भैरव राग को अतिरंजकता प्रदान करती है।

तानक्रिया में भी अधिकतर रे स्वर का अल्प प्रयोग किया जाकर आरोही तान 'नि॒सागमपध॒निस' तक जाती है व अवरोही में संनिध॒प मगरे॒सा का सरल प्रयोग किया जाता है। अतएव मुख्य रूप से धैवत-ऋषभ-के आंदोलित उच्चारण, मध्यम स्वर का न्याम के रूप में मुक्त प्रयोग तथा रागोचित स्वर-समूहो तथा स्वरसवादों का मीड युक्त उच्चारण आदि इस राग की विशेषताएं मानी जाती हैं, जिनका उचित अभ्यास द्वारा प्रस्तुतीकरण करके राग को गम्भीर तथा रंजक बनाना चाहिए।

आरोही-अवरोही-स्वरूप

सारे॒ गम, पध॒निसां संनिध॒, प, म, गरे॒, सा।

मुख्य अंग अथवा पकड़

सा गम, प ध॒ पम।

तानें:—

१. नि॒सागगरे॒सा, नि॒सागमपमगरे॒सासा, नि॒सागमपध॒पमगरे॒मस, नीसागमपध॒, निसनिध॒पमगरे॒सम, निमागमपध॒निसं गंगरे॒सं निध॒प मगरे॒मस, नीमागमपध॒निसंगमंपमं गंरे॒ संनिध॒पमगरे॒सा,

२. नि॒सागमपम, गमपध॒पम, गमपध॒नीध॒पम गमपध॒ निस निध॒ पम, गमपध॒ निसंरे॒ रे॒ संनिध॒ पम, गमपध॒निसं गंगंरे॒सं निध॒पम, गमपध॒निसं गंमं पं पं मं गं रे॒सं निध॒पम गरे॒सासा।

३. निसंगंगंमंरे॒सं, निसं गंमंपंपं मंगंरे॒स, निसंगंगंरे॒सं निमंरे॒रे॒संनिध॒प, गमपध॒ निसंनिध॒ पम, गमपध॒पम' गमपमगरे॒गसा।

४. सारे॒गमपम, गमपध॒निध॒, पध॒निसरे॒सं निसंगंमंपंमंगं रे॒सांनि ध॒प, गमपध॒-निसंरे॒सनिध॒पम गमपध॒निसं निध॒पम, गमपध॒निध॒पम, गमपध॒पम गमपम गरे॒ससा।

५. सगग, गमम, मपप, पध॒ध॒, ध॒निनि, निसमं, संरे॒रे॒, रे॒गग गंममं मंपंमंगं-रे॒संनिध॒पऽ, संनिध॒पमगरे॒सा।

६. गगरे॒, ममग, पपम, ध॒ध॒प, निनिध॒, ससनि, रे॒रे॒मं, गंगरे॒. मंमंग, पपंमं-गरे॒सं, गंगंरे॒सं रे॒ रे॒ संनि, संसनिध॒, निनिध॒प ध॒ध॒पम् पपमग, ममगरे॒, गगरे॒स।

७. समगम गपगप, मध॒पध॒, पनिध॒नि, ध॒संनिसं, निरे॒सांरे॒, सांगरे॒गं, रे॒मंगंमं, गंपंमंप मंगरे॒सा गगरे॒सं, संसरे॒संनिध॒प, गमपध॒ पम गरे॒मसा।

८. गगरे॒सा, ममगरे॒मस, पपमगरे॒स, ध॒ध॒पमगरेसम, निनिध॒पमग रे॒सा, संस-निध॒पमगरे॒सस रे॒ रे॒से निध॒पमगरे॒स, गंगंरे॒सां मंमंगंगं पंपंमंमं गं गरे॒रे॒ संसंनिनिध॒ध॒ पप ममगग रे॒रे॒ सस।

९. गगम गगम गगम, ममप ममप ममप, पपध़ पपध़ पपधा, ध़ध़नि ध़ध़नि ध़ध़नि, निनिसं निनिसं निनिसं, संसंरे॑ संसंरे॑ संसंरे॑, गमंपंमंगंरे॑ सांमां, ध़निसांनिध़-पमम, गमपमगरेसास ।

१०. पमगम, ध़पमप, निध़पध़ संनिध़नी रे॑संनिसं, गंरेंसारे॑ मगरे॑ग, रें॑संनिसं, सनिध़नी, निध़पध़ ध़पमप पमगम, गरेसस ।

११. गमगम मपमप पध़पध़ ध़निध़नी निसनिसं सरें॑संरें॑ रें॑गंरें॑गं, गंमंगंमं पंमंगंरें॑ संनिध़प गमनिनिध़प गम पध़पम गरे सम ।

१२. गमपमगरेमम़ा, पधपध धनिमंनिध़प, गमपमगरेम, मंरें॑गंरें॑ संनिध़प, ध़नि संनिध़प, गमपमगरेमम, गंमंपमंगंरें॑मंनि, ध़निसंनिध़प, गमपध़पम गमपमगरेमम।

१३. ससमग गगगम मममप, पपपध, ध़ध़ध़नि निनिनिसं संसंसंग गंगंगंमं गरेसंसं ध़निसंनिध़पमम गमपम गरेमम ।

१४. मनिध़पगमपध़निसं, सरेमनिध़पगमपध़निसं गगरेमं सरेमंनिध़प गमपध़-निसं, गमंपंमंगंरें॑स निध़प, गमपध़ निसरेसं मरे संसरे मसंरें॑ संसरें॑ समरें॑ संनिधप मगरेस ।

१५. रे रे रे, ध़ ध़ ध़, रें॑ रें॑ मनिध़पमगरेम, गगग, निनिनिगंगं·रें॑सं निध़प-मगरे सस, ममम, संसंसं, ममंपम गरे संनिधप गममपमगरेमम ।

राग बागेश्री (बागेश्वरी)

श्लोक :—

तीव्रौ रिधौ गयनयो मृदवोहि यस्यां ।
संवादि षड्ज महिला खलु मध्यममांशा ।
आरोहणे परहिता संकलताऽत्र गेहे ।
बागीश्वरी मुमनिभिः कथिताधंगात्रे ।।

(राग कल्पद्रुमांकुर)

दोहा :—

तीवर रिध कोमल निगम ।
मध्यम बादी बखानी ।।
खरज जहां संवादी हैं ।
बागेसरी लखानी ।।

(रागचन्द्रिकासार)

यह राग काफी थाट से उत्पन्न है । इस कारण इसमें गांधार तथा निषाद स्वर कोमल होते है । इस राग का मूल नाम बागीश्वरी है, परन्तु उसका अपभ्रंश बागेश्री हो गया है । इसकी जाति के सम्बंध मे तीन मत दिखाई देते है । एक मत के

अनुसार आरोही-अवरोही में पंचम वर्जित करके इसे षाडव षाडव जाति का माना जाता है। दूसरे मत में आरोही मे मध्यम वर्जित है और अवरोही संपूर्ण इस प्रकार इसकी जाति षाडव-संपूर्ण हुई तृतीय मत के अनुसार आरोही-अवरोही में स्वर गृहीत करके उसकी जाति संपूर्ण-संपूर्ण बन जाती है। तीनो ही मतों के अनुसार वर्तमान में बागेश्री गाई जाती है, किन्तु तीनों ही प्रकारों के आरोही में ऋषभ स्वर अल्प मात्रा में प्रयुक्त किया जाता है, जिसके कारण पूर्वांग में आलापचारी या तान का आरोही उठाव' 'सारेगुम' न होकर 'सा, गुम' या 'सा म' होता है। इसका अर्थ यह नही कि 'सारेगुम' स्वर-विन्यास इस राग में निषिद्ध माना जाता है। क्वचित समय 'सारेगुमध' स्वर समूह इस राग मे गाया जाता है, परन्तु ऐसे स्वर-समूह का बार बार प्रयोग नही किया जाना चाहिए। ऋषभ स्वर आरोही-पूर्वांग में अल्पांश में प्रयुक्त किया जाना चाहिए, यह ध्याद में रखकर ही ऋषभ का प्रयोग करें। आरोही पूर्वांग में ऋषभ का अन्य प्रकार से प्रयोग किया जाता है जिसे निम्नांकित स्वर-समूहों से स्पष्ट किया जा सकता है।

स स
"सानिध़सा, रेरेगुऽऽ मगुऽऽ रे रेगुऽऽम"।

पूर्वांग आरोही मे ऋषभ के उक्त प्रकार के प्रयोग के, क्रमिक पुस्तक भाग ३ में बागेश्री की परंपरागत घरानेदार बंदिशों में अनेक उदाहरण दिखाई देते है। बागेश्री मे कभी कभी "मपधमगु"स्वर-समूह भी गाया जाता है जिसका अर्थ यही लेना चाहिए कि बागेश्री राग के संपूर्ण-संपूर्ण प्रकार का यह स्वर समूह राग का वैचित्र्य दिखाने हेतु गाया गया है। तात्पर्य यह है कि रे रे गु, सारेगुम, मपधगु तथा सनिुधप धगु आदि स्वरसमूह बागेश्री राग की संपूर्ण-संपूर्ण जाति के अंगसूचक हैं, इनसे उस राग में वैचित्र्य तथा विशिष्टता का ही प्रस्तुतीकरण होता है।

इसमें सा, गु, म, ध तथा नि स्वरों पर न्यास किया जाता है। आलापचारी में उक्त स्वरों 'पर न्यास करते समय आरोही मे ऋषभ तथा आरोही-अवरोही में

स
पंचम का प्रयाग विशिष्ट वैचित्र्यदायक दिखाई देता है। पूर्वोक्त रे रे गु, सारेगुम, मपधगु, तथा संनिुधपधगु स्वरसमूहों के अतिरिक्त धनिुधपधमगु, ध पधनिुध मगु, मगुमध, पधसंनिुध, आदि स्वर-समूहों में पंचम का प्रयोग एक अपनी विचित्रता तथा विशिष्टता लिये हुए दिखाई देता है। जो वैचित्र्य के साथ-साथ राग की मधुरता को को भी बढ़ाता रहता है। अत: उक्त स्वर-समूहों का इस प्रकार कौशल-पूर्वक प्रयोग करने की सावधानी रखनी चाहिए, जिससे रागरंजकता व रागांतर्गत भावभिव्यंजकता का परिपोष हो।

इस राग में मध्यम वादी तथा षड्ज संवादी है। 'मगुरेसा' स्वर-समूह गाते

समय मग़ु प्रयोग में मध्यम से गांधार तक के अंतमार्ग की ध्वनि को गांधार पर अति धीरे धीरे लाकर, मग़ु पर मींड समाप्त करना चाहिए। यह उच्चारण भी इस राग में अधिक कुशलता पूर्वक होना चाहिए। इस राग का गायन-वादन समय मध्यरात्रि है। इस राग का चलन तीनों ही सप्तकों में हैं तथा प्रकृति गंभीर है। यह राग अति लोकप्रिय वह मधुर है।

आरोही-अवरोही स्वरूप

सानिधनिसा, मगु, मधनिसां। सं निध, मगु, मगु, रेसा।

मुख्य अंग अथवा पकड़,

सानिध सा, मगु, मध, निध, मगु, मगु रेसा।

तानें—

१. निसामगुरेसा, निसागुमधमगुरेसा, निसागुमधनिधम गुरेसा, निसागुमधनि-संनिधमगुरेसा, निसागुमधनिसरें सनिधम गुरेसा, निसागुमधनि संगुं रेंसं निध मगुरेसा, निसागुमधनिसंमगु रेंसंनिध मगुरेसा।

२. निसमम गुरेससा, निसागुमधध मगुरेससा, निसा गुमधनिनिधमगुरेसा, निसागुमधनिसंसंनिध मगु रेसासा, निसागुमधनि संरेंरेंसंनिधमगुरेस, निसागुमधनिसं-गुंगुं रेंसंनिधमगु रेसासा, निसागुमधनिसां मंमं गुं रेंसां निध मगुमगुरेसा।

३. निसागुमधमगुमनिसनिधम, गुमधनिधम, गुमधनि सरेसनिधम, गुमधनिस-गुंगुं रेंसंनिधम, गुम धनिसं मंमंगुं रेंसां निध मगु मगुरेसा।

४. निसां गुंगुं रेंसं निसां मंगुं रेंसां निसं गुंगुं रेंसं निसरेंरेंससं निध मधनिसं मगु मगु रेसा।

५. मगुरेसा, निध मगु रेसा, सनिधमगुरेसा, रेंसनिध मंगुरेसा, गुं रेंसांनिधम-गुरेसा, मंगुं रेंसांनिध मगुरेसा।

६. मगुरेसा, पमगुरेसा, निधपमगुरेसा, संनिधपमगुरेस, रेंसंनिधपमगुरेस, मंगुं रेंसंनिध मध निसंरीसनिध मधनिसं निध मधनिधपमगु रेससा।

७. सागुगु, गुमम, मधध, धनिनि, निसंसं, संरेंरें, रेंगुंगुं, गुंमंमगुंरें संनिध, मधनिसरें संनिधपमगु रेसा।

८. गुममगुरेसा, धनिनिधमगु, गुंमंमंगुं रेंसं, गुंगुं रेंसं रेंरेंसंनि संसंनिध निनि-धगुम धधमगु मधसंनिधपमगु मगु रेसा।

९. गुगु रेरे ससा, ममगुगुरेरेसस, धधममगुगुरेरेसस, निनिधध ममगुगु रेरेसस, संसानिनिधध ममगुगुरेरे सस, रेंरेंसंसंनिनिधध ममगुगु रेरेसस, गुंगुं रेंरेंसंसं, मंमंगुंगुं-

ध
रेरेंसंमं, गंगंरेंरेंसंसं, रेरेंसंसंनिनिससंनिनधध, निनि धध मम, धनिसं निऽऽ, ससं निध-
पमगरेससा ।

१० समगुम, गुधमध, मनिधनि पसंनिस, निरेंसंरें संगुरेंगुं संमंगुंमंगरेसस,
ध प
मंगुंमंगुरेंसा गुंरेंगुरेसंसं रेसंरेंसानिध, संनिसंनिधम, निधनिध मगु मधनिसं नि ध
(म)ऽ धनीसंनिधपमगु मगुरेमा ।

११. मगुगु धमम, निधध, संनिनि, रेंसंसं, मंगुंगं, गंरेरे, रेंसंसं संनिनि,
निधध, धमप, मगुगु गुरेरेस, निसगुमध, गुमधनिसं, निसमंगुरेंसे निसंरेरेंसा निधपमगु
रेसा ।

१२. ममगुम, धधमध, निनिधनि, संसनिसं, रेंरेंसरें, गुंगुंरेगुं, मंमंगुंरें,
गुंगुंरेंसं, रेंरेंसंनि, संसंनिध, निनिधम, धधमगु ममगुरे गगुरेमा ।

१३. सनिधनिसं, मधनिसधनिसं, गुमधनिसंनिधनिसं, निसगुमधनिसंनिधनिसं,
निनिससगुगु मम धधनिनि सं, रेंरें संनिधनीसं, गुंगुं रेंसासां, रेरेंसनिधनिसंरेंसंनिधनि
संनिधमधनीधम गुरे गुमगुरेससा ।

१४. निनि निस, सससगु गुगुगुम, मममध, धधधनि, निनिनिसं संसंसं रें ससं,
संरेंगुमंगुरेंसंसं, संरेंगुरें संसं संरेंसंसं रेसंसरेसंसरे संसंरे संसरे संसरेरें संनिधपमगु रेस ।

१५. गगु मगुरिस, धधनिधमगु, संसंरेंसंनिध गुंगुमंगुरेंसं, संरेंगुरेंसंनिधम,
गगुगु, ममम, धधध निनिनि संस निधमगुरेसा ।

१६. गुमगुम, मधमध, धनिधनि निसंनिसं गुंमंगुंमंगुरेंसंसं, संरेंसरेनिस निरें-
संरें निस, धनिधनिमध मध, मानिधनि, गुमगुम रेग रेगु, मगुम, धमध, निधनि रेसं-
रेंरें सनिधम मगुरेसा ।

१७. गुमगुगुम गुगुम, मध ममधममध, धनिधधनि धधनि, निसांनिनिस-
निनिसं, संरेसंसरे ससंरे, निनिसं धधनी मपध, गगु मगगुरेसस ।

१८. ममगु ममगु ममगु रे सस, निनिध निनिधनिनिधम गगु, ममगु ममगु,
ममगुरेसस, रेरेंसरेरें स रेरेंसनि धम, नीनीध निनिध निनिधम गगु, ममगुममगु मग-
गुरेसस, गुंगु रेंस, ममंगु मंमंगु मंमंगुरेंसंसं, रेंरेस रेरें सं रेरें सानि धमगगु निनिध
निनिध निनिधमगगु (म)ऽ(ध)ऽ(नि)ऽ(म)ऽ रेरेमंनिधपमगु मगुरेस ।

१९. ससस, संसंनिधपमगु रेसस, रेरेरे, रेरे सनिधपमगुरेम, गगुगु, गुंगु रेंम
निधपमगुरेमस, ममम, ममंगुंरें संनिधम धानिसं(रे)ऽ, नि (मं)ऽ, ध (नि)ऽ, म(ध)ऽ गु
(म)ऽ गुरेससं ।

२०. मारेगुम धनिसंरेंगुंमंमगं रें संनिधमगु मगुरेस ।

राग जौनपुरी

श्लोक—

प्रख्याता जौनपूरी मृदुगमधनिका रोहेणे गेन हीना ।
संपूर्णा चावरोहे नियतमभिहितो धैवत श्चवादी ।।
गांधार: स्यादमात्य: प्रकटयति सदाऽसावरी तुल्यरुपम् ।
गानं चास्या द्वितीय प्रहर समुचितं प्राह्ल एवोपदिष्टम् ।।

(रागकल्पद्रुमांकुर)

दोहा :—

कोमल गमधनि तीख रिखभ ।
चढत गंधार न होई ।।
धगवादी संवादिलें ।
जौनपुरी कही सोई ।।

(रागचंद्रिका सार)

यह राग आसावरी थाट से उत्पन्न होता है इस कारण इसमें 'गध' तथा नि, स्वर कोमल हैं । इसके आरोही में गांधार वर्जित है तथा अवरोही संपूर्ण है । इस कारण इसकी जाति पाडव-संपूर्ण है । वादी धैवत तथा संवादी गांधार है । गायन-वादन का समय दिन का द्वितीय प्रहर है ।

आसावरीथाट से निर्मित आसावरी राग के चलन से जौनपुरी राग साधारण रूप में मिलता जुलता दिखाई देता है, किन्तु दोनों ही राग अपने अपने स्थान पर स्वतंत्र हैं । आसावरी राग के आरोही में गांधार तथा निषाद वर्जित हैं व जौनपुरी राग के आरोही में केवल गांधार वर्जित है अर्थात् आसावरी राग की जाति औडूव संपूर्ण है व जौनपुरी राग की जाति पाडव-संपूर्ण है । जौनपुरी का आरोही 'सारेमाप धनिसं' है । दूसरी भिन्नता यह है कि "ग स रे मप," स्वरविन्यास पूर्वांग अवरोही में जौनपुरी राग का सूचक स्वर-विन्यास माना जाता है । सारेमप, निध्र प,
स
ध्र मप, ग म रे मप, निध्रप, ध्रमगप, सरे मप, तथा निसं रें निध्रप, ध्रमप ग, स मप,
स स
ग रेमा, स्वर-समूहों द्वारा आलापचारी करते समय "ग रे मप," स्वरविन्यास की पुनरावृत्ति की जाती है ।

इस राग मे कोमल धैवत का प्रयोग आसावरी राग की तुलना में अल्प मात्रा में दिखाई देता है । व कोमल निषाद का प्रयोग आसावरी राग की तुलना में जौनपुरी में अधिक किया जाता है । आसावरी राग में "मपध्रसं" इस सरल उठाव की

अपेक्षा "मपध्रमप सं" या "सारे मपसं" स्वर-समूह द्वारा उठाव किया जाता है किन्तु जौनपुरी में "मपध्रनिसां" "मपनिसा" तथा "मपसां" इस प्रकार अंतरे का उठाव
स नि
किया जाता है। आसावरी के उत्तरांग अवरोही में रें ध्रऽप, तथा जौनपुरी के अवरोही में रे निऽध्रपसं गाया जाकर आसावरी में धैवत का तथा जौनपुरी में निषाद का आधिक्य प्रदर्शित होता है। आलापचारी में ऐसे प्रयोगों की पुनरावृत्ति से यह आधिक्य स्पष्ट होता है।

वादी स्वर धैवत होते हुए भी उस पर अधिक न्यास नही किया जाता है। धैवत पर किंचित् न्यास करने के पश्चात् पंचम पर न्यास करने से राग रुचिवर्धक होता है। कोमल गांधार, कोमल निषाद, मध्यसप्तक-षड्ज तथा तार-सप्तक-षड्ज के स्वरों पर न्यास किया जाता है।

स
जौनपुरी में निसंरें नि ध्रप, ध्रमपग रेमप, ये स्वर-विन्यास रागसूचक समझे जाते हैं मंद्र. मध्य तथा तार तीनों ही सप्तकों में राग का चलन होता है व पग
सं
तथा रेंनिध्रप आदि मीडयुक्त स्वरसमूहों के प्रयोग से राग की प्रकृति गंभीर बनाई जाती है। तानक्रिया में सरल उठाव सारेमप धानिस या निसारेम पनिसं से किया जाकर अवरोही संनिध्रपमगरेसा ऐसा सरल प्रयोग होता है। यह अतीव सरल, मधुर तथा लोकप्रिय राग है।

आरोही अवरोही स्वरूप

सा' रेमप, ध्र नि सां/सां निध्रप, मग, रेसा।

मुख्य अंग अथवा पकड

मप, निध्रप, ध्रमप, ग रे मप।

तानें :—

१. निसारेग रेसा निसारेम पमगरेससा, निसारेमपनिध्रप मगरेसा, निसारेमपध्र निसंनिध्र पमगरेसासा, निसारेम पध्रनिसंरेंरें संनिध्रप मगरेसा, निसारेमपध्र निसांरेंमं पंमगरेंसेंनिध्रप मग रेसा। ध्र

२. मपध्रनिध्रप, मपध्रनि संनिध्रप, मपनिसंरेंसंनि ध्रप, मपध्रनिसंरेंग रें संनिध्रप, मपध्रनिसंरेंमपं मंगं रेंसं निध्रपमगरेसस।

३. निसांरेंगं रेंसां, निसांरेंमंपंमंगंरेंसंसं, गंगं रेंसां, निसंरेंसां निध्रपम पध्र निध्रपमग रेसस।

४. मपध़पमग़रेस, नि़सरेंसं नि़ध़पमग़रेसास, ग़ंग़ंरेंसं नि़ध़पमगरेसस, पंऽमंग़ं रेंसा नि़ध़पम पध़ नि़सां रेंग़ं रेंसं नि़ध़ पम, पध़ नि़सं रेंसं नि़ध़ पम, पध़ ध़िसं निध़पम पनि़नी़ध़ पम ग़रे मपध़पमग़, मग़रेस ।

५. सारेम, रेमप, मपध़, पध़नि़, धा़नि़सं, रेंग़ंरेंसं, निसरें मंपं मंग़ंरेंसं, नि़सं-रेंग़ं रेंसं नि़सं रेंरें सनि़ध़प, मप नि़नि़ध़पमग़रेसा ।

६. सारेरे, रेमम, मपप, मध़ध़, धा़नी़नी़, नि़संस, संरेरें, रेंग़ंग़ं रें सं; नि़सं-रेंसंध़िनि़पम पध़निस नि़ध़ पम, पध़नि़ध़पम पध़पमग़ रेसा ।

७. मपध़ मपध़ मपध़प मग़रेस, ध़नि़संध़नि़सं ध़नि़संनि़ध़प मग़रेसा, संरेंग़ं संरेंग़ं सरेंग़रें संनिध़प मग़रेसा, नि़सारेमपनि़ सरेमंपंमंग़ं रेंसनि़ध़पमग़रेसानि़स ।

८. सारे सारे, रेमरेम, मपमप, पध़ पध़ ध़नि़ध़ानी़, नि़सं नि़स, संरेसंरें, ग़ुरें-संस नि़संरेंमंपंपंमंग़रेंसं निसं रेंरेंसेनि़ ध़निसंसनि़ध़प पध़नि़नि़ध़प मपध़ ध़पम ग़रे, सरेमप ध़नि़संनि़ध़ पमग़रेस ।

९. सारेमपध़, मपध़नि़ सं, ध़नि़मंरे ग़ं, ऽ रेंसं, रेंमंपंऽ मंग़रेंसं सरेंग़रें नि़सरेंस ध़नि़सांनी़ पध़नि़ध़ मपध़प मग़रेसा ।

१०. नि़सरेमप, मपध़नि़स, नि़सरेंमंपं, मग़ंरेंसं, सरेंरे, नि़सस, ध़ानि़नि़ पध़ध़, मपप, पध़ध़ ध़नी़नि़ सनि़ध़प मग़ रेसा ।

११. पपम, ध़ध़प, नि़नि़ध़, सांसनि़, रेंरेंसं ग़ंग़ं रेंसां रेमंपंपं मंग़ंरेंसं, रेंग़रेंसं, संरेसां, नि़सांनी़ ध़नि़ध़ पध़प मपमग़, मग़रे रेस ।

राग भीमपलासी

श्लोक :—

प्रोक्ता भीमपलाशिका गमनिमिर्या कोमेले मेडिता ।
आरोहे रिध वर्जिता प्रकार्यता पूर्णऽवरोहे पुनः ॥
वादी मध्यम ईरितो भवति संवादी तु षड्जखरो ।
यामे चेह तृतीय केऽह्नि बुधैर्गीना मनोज्ञखैरैः ॥

(राग कल्प द्रुमांकुर)

दोहा :—

तीखे रीध कोमल गमनि आरोहत रिध हीन ।
सम संवादी वादितें भीमपलासी चीन्ह ॥

(रागचंद्रिका सार)

यह राग काफी थाट से उत्पन्न होता है । इस राग के संबंध में विभिन्न मत पाये जाते हैं । भीम और पलासी दो स्वतंत्र रागो के मिश्रण से भीमपलासी का संयुक्त

स्वरूप बना है,- ऐसा कहा जाता है। किन्तु काफी थाट जनित भीमपलासा भी एक स्वतंत्र राग स्वरूप है, इतना मानना यहां पर्याप्त है।

इस राग के आरोही में रि तथा ध स्वर वर्जित हैं। व अवरोही संपूर्ण है, इस कारण इसकी जाति औडव-संपूर्ण है। वादी मध्यम स्वर व संवादी षडज हैं। दिन के तृतीय प्रहर में इसे गाया जाता है। ऋषभ तथा धैवत स्वर को छोड़कर शेष अन्य प्रयुक्त होने वाले सभी स्वरों पर इसमें न्यास किया जाता है। हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति में यह नियम ध्यान रखा जाता है कि वादी स्वर के अतिरिक्त अन्य स्वरों पर न्यास करते समय वादी स्वर का प्रबलत्व अनिवार्य रूप में दिखाया जाये। इसी तत्व को ध्यान में रखकर मध्यम स्वर का प्रयोग इस राग में बारम्बार किया जाता है। यदि गांधार स्वर पर न्यास किया जाये तो नि सामगु, पमगु, मगु, गमपमगु, मगु निसगुम पमऽ, पगु, मगु, मगु ऐसा इस आलापचारी में मगु यह स्वर-जोड़ी अनेक बार लाकर गांधार न्यास के साथ साथ वादी स्वर मध्यम का प्रबलत्व दिखाया जा सकता है। इसी प्रचार अन्य स्वरों पर न्यास करते समय मगु, पमगु, पगु, मगु, इस प्रकार की स्वर-संगति बार बार प्रयुक्त होनी चाहिए। उक्त प्रकार के स्वर-प्रयोग से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वांग में मगुऽ, पमगुऽ, पगुऽ मगुऽ, का स्वर-प्रयोग इस राग में प्रमुख रूप में होता है। अतः प्रचलन की दृष्टि से पूर्वांग में मगु पमगु, मगु को मुख्य स्वर-समुदाय समझना अनुचित नही होगा।

उक्त स्वर-प्रयोग के मींडयुक्त होने से यह स्पष्ट होता है कि यह राग मींड प्रधान है व मींडप्रधान होने से इसका चलन तथा प्रकृति गंभीर है। अतः मंद्र, मध्य तथा तार तीनों ही सप्तकों में यह राग सुचारु रूप से तथा सुविधाजनक रीति से गाया जाता है। साधारणतया यह देखने में आया है कि मींडप्रधान राग मंद्र मध्य तथा तार तीनों ही सप्तकों में गाये जाते हैं व उनका चलन गंभीर होता है।

इसके आरोही स्थायी का उठाव निसागुम निसामगु म, निसा प म, इस प्रकार होकर अंतरे का उठाव मपनि सां मपसां तथा गुमपसां या गमपानि सां इस प्रकार होता है। अवरोहीं-उत्तरांग उठाव 'संनिधप' व कंचित् निसांप मगु इस स्वर-संगति से किया जाता है।

कोमल गांधार पर मध्यम से तथा कोमल निषाद पर तार सप्तक सां से गंभीर

म म

मींडयुक्त आंदोलन इस राग की एक विशेषता है। नि सा गुऽऽ, नि सा म गुऽऽऽ पगुऽऽऽ मगुऽऽऽ, इस स्वर-समूहों द्वारा गांधार पर मींडयुक्त आंदोलन किये जाते हैं जिनके द्वारा पूर्वांग में राग का स्वरूप स्पष्ट किया जाता है। इस प्रक्रिया में कोमल गांधार

नियत स्थान से किंचित् उच्च होने का आभास देता है परन्तु नियम-श्रुति से वह गांधार किंचित उच्च है ऐसा कहा नही जा सकता । इसी प्रकार पूर्वांग के कोमल गांधार

सां सं

के से संवादित स्वर, उत्तरांग के, कोमल निषाद की स्थिति है । प नि॒ऽऽऽ, नि॒ऽऽऽ,

सं सं

ग॒मपनि॒ऽऽऽ, पनि॒ऽऽऽ, सां आदि स्वर-प्रयोगों में कोमल निषाद तार सप्तक के षड्ज के स्पर्श द्वारा मींड युक्त व आंदोलित होता है और इस प्रक्रिया में निषाद की निषाद के स्थान से तीव्र निषाद की ध्वनि दूरी कहोने कम आभास होता है परन्तु ऐसी प्रक्रिया में निषाद कोमल है, यही कहना चाहिए अतएव भीमपलासी राग में पूर्वांग के कोमल गांधार व उत्तरांग के कोमल निषाद की उच्चारण शैली गुरुमुख से सावधानी पूर्वक समझ लेनी चाहिए व उनका यथोचित शैली मे प्रयोग करना चाहिए

तान-प्रक्रिया में नि॒ साग॒ मपानि॒सां सांनि॒धप मग॒ रेसा, जैसा सरल प्रयोग किया जाता है । यह एक अतीव मधुर तथा लोकप्रिय राग है । आरोही: नि॒ सा, ग॒ म, पनि॒सां । अवरोही:—सां नि॒धप, म, ग॒, रेसा ।

पकड़:—नि॒साम, मग॒, पमग॒. मग॒ रेसा ।

तानें :—

१. नि॒सामग॒ रेसा, नि॒साग॒मपमग॒रेस, नि॒साग॒मपनि॒ धप मग॒रेसा, नि॒साग॒मपनि॒ संनि॒धप मग॒रेसा नि॒साग॒मपनि॒ सांरें संनि॒धप मग॒रेसा, नि॒साग॒म पानि॒ सांग॒ रेंसां नि॒धप मग॒रेसा, नि॒साग॒मपनि॒सां ग॒ंमंपं मंग॒ं रेंसां नि॒धपमग॒रेसा ।

२. नि॒सामग॒ रेसा, नि॒ सग॒ मपपमग॒ रेसा, नि॒साग॒म पानि॒नि॒धपमग॒रेससा, नि॒साग॒मपनि॒संसनि॒ धपम ग॒रेसस, नि॒साग॒म पनि॒ संरेरें सं नि॒धपमग॒रेसस, नि॒साग॒म पानि॒ समंमंग॒ं रेंसां नि॒धपम ग॒रेसस, नि॒साग॒म पनि॒ संग॒ंमंपंपंमं ग॒रें सनि॒धपमग॒रेसा ।

३. निसाग॒म पनि॒ नि॒धपम, ग॒मपनि॒ संनि॒धपम, ग॒मपनि॒संरेसनि॒धपम, ग॒मपनि सांग॒ंग॒ं रेंसंनि॒ धपम, ग॒मपनि संग॒ं मंपं मंग॒ं रेसं नि॒धपमग॒ रेससा ।

४. नि॒सांमंग॒ं रेंसं नि॒सं ग॒ंमंपपंमंग॒ं रेंसां नि॒सांमंग॒ं रेंसां, नि॒संरेंरें सांनि॒धप, ग॒मपनि॒ संनिधप, ग॒मप नि॒धप, ग॒म पधपम, ग॒मप म, ग॒म ग॒रेससा ।

५. साग॒ग॒, ग॒मम मपप पनि॒नि॒, नि॒ससं, संग॒ग॒ंग॒ं मंमग॒ं रेंसां ग॒ंग॒ंग॒ं रेंसं, रेंरेंरेंरें सनि॒धप संससंसंनि॒ध पप, नि॒नि॒नि॒नि॒ धप मग॒ पपपपमग॒ रेसा ।

६. सग॒सग॒. ग॒मग॒म, मपमप, पनि॒पनि॒ नि॒संनि॒ सं, संग॒संग॒ ग॒ंमंमग॒ं रेंसां, पंपं-मंग॒रेंसा मंमंग॒ं रेंसंसां, ग॒ंग॒ं रेंसां, रेरेंसंरेंसे नि॒धप संसंनि॒संनि॒धपम नि॒नि॒धप मग॒रेसा ।

७. नि॒ साग॒मप, ग॒मपनिसां, पनि॒ सं ग॒ंमंपं मंग॒ं रेंसां, संग॒रे सनि॒धपप, पसं-

ध
नि॒ध पमग॒ग॒ ग॒नि॒नि॒ पमग॒म, ग॒मप, मपनि॒ पानि॒ सं, निसंमं ग॒रें सांनि॒ धपमग॒मग॒रेसा।

९. ग॒मग॒ग॒मग॒ग॒म, मपममप ममप, पनि॒पपनि॒ पपनि॒ नि॒संनि॒नि॒ संनि॒नि॒सं, संसरे संसरें ससरें सनि॒धप मपसंऽऽनि॒धपमग॒ रेसा।

१०. पपमग॒ रेसा, नि॒नि॒धपमग॒ रेसा, संसंनि॒धपमग॒रेसस, रेंरेंसनि॒धप मग॒रेसा, ग॒ं ग॒ं रेंसां, मंम ग॒मग॒ं रेंसंसं, ग॒ं ग॒ं रेंसां, रेंरें संनि॒धपमप, पपपं, नि॒नि॒नि॒, संसंसं, रेंरें सांनि॒धपमप, नि॒नि॒नि॒नि॒ नि॒नि॒नि॒नि॒ धपमग॒रेस।

११. साग॒, ग॒म, मप, पनि॒, नि॒सं, संग॒ं ग॒म, मंपं, पंम, मंग॒ं ग॒ं रें रेंसं संनि॒ नि॒ध धप, पम, मग॒, ग॒रे, रेसा।

१२, नि॒साग॒मपनि॒ सं, ससग॒ग॒ ममपपनि॒नि॒सं, ससस, ग॒ग॒ग॒, ममम, पपप, नि॒नि॒नि॒ सं, संसं, सससग॒ग॒, ग॒ग॒ग॒मम, मममपप, पपपनि॒नि॒, नि॒नि॒नि॒सस, संसंसनि॒धप ग॒ंमपनि॒सं, रेंरेंरेंरें सं नि॒ध पग॒मपनि॒सं, ग॒ं ग॒ं रेंसां, नि॒सग॒मंपं मंग॒रेस रेंरें सं सं नि॒नि॒ धध पप मम ग॒ग॒ रेरे सस।

ग॒ प
१२. नि॒ सग॒मपमगमप मऽ, ग॒म पनि सनि पनि सं नि॒ऽ, नि॒ संग॒मंपंम ग॒ंमं

ग॒ं
पं मऽऽ, पंमंग॒ रें सांऽ, मंग॒रेंसं नि॒ऽ, ग॒ं रें संनि॒धपम, संनिधपमग॒ नि॒धपमग॒रेस।

रागों का साधारण वर्णन करते हुए निम्नांकित बातों की जानकारी आवश्यक रूप में होनी चाहिए।

१. थाट २. वर्जित स्वर ३. जाति ४. वादी संवादी ५. गानसमय ६. वक्र तथा दुर्बल स्वर ७. पूर्वांग-आरोही-उठाव, ८. उत्तरांग-आरोही-उठाव, ९. उत्तरांग-अवरोही १०. पूर्वांग अवरोही ११. साधारण चलन १२. आरोही-अवरोही १३. पकड़ तथा १४ न्यास स्वर।

प्रत्येक राग की साधारण जानकारी के लिए उपर्युक्त बातें अनिवार्य रूप से ज्ञात होनी चाहिए, किन्तु इसके अतिरिक्त राग में राग-लक्षणों के अनुसार स्वरों का अल्पत्व बहुत्व, कणस्वरों का स्पर्श, मींड-प्रयोग, प्रमुख स्वर-संवाद, प्रमुख स्वरविन्यास, तथा अन्य अनेक स्वरोच्चारण-शैली आदि बातों का प्रत्यक्ष गुरु सम्मुख शिक्षा लेकर अभ्यास करना चाहिए जिससे राग का अंतरंग पूर्ण रूप से समझ में आ जाये व उसके अनुसार स्वयं के अभ्यास तथा कौशल द्वारा राग का रंजकत्व प्रकट किया जा सके।

पूर्वोक्त वर्णित राग संबंधी साधारण जानकारी देने हेतु एक संक्षिप्त मान चित्र इसके साथ संलग्न है।

संक्षिप्त राग-वर्णन

क्रमांक	राग नाम	थाट नाम	वर्जित स्वर	जाति	न्यास स्वर	वादी संवादी	स्थायी का उठाव	अंतरे का उठाव	गान समय
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
१. यमन		कल्याण	×	संपूर्ण-संपूर्ण	ग,रे,सा,प नि तथा मं	गांधार तथा निषाद	नि़रेगमंप सारेगमंप	पसां,मंपधनिसां मंधनिसं	रात्रि का प्रथम प्रहर

आरोही अवरोही	पकड़	साधारण चलन
११	१२	१३
सारेग, मंप धनिसां सं निधप मंग रेसा	नि़ रे ग, रे सा, प मं ग, रे सा	नि़ रे ग, रेग, स रे स रेग, नि़ग, रे, नि़रेसा/नि़रेगमं प, मंग मंधप, मंधनिध प, (प) रेग, रे, गमं पधनिसं नीध प, मं रेग, रे, नि़ रेम।

१	२	३	४	५	६	७	८
२.	गौड़ सारंग	कल्याण	×	वक्र संपूर्ण	सा,ग,प,सां	गांधार तथा धैवत	सा गरे मग, सा मगप
३.	अल्हैया बिलावल	बिलावल	आरोही में मध्यम स्वर	षाडव-संपूर्ण	प, रे, सा, सां	धैवत, गांधार	सारे गप मग मरे, सारेगरे
४.	शंकरा	बिलावल	मध्यम	षाडव-षाडव	नि, सा, ग सांप	गांधार निषाद	सा गरे, पग, सा,गप
५.	देशकार	बिलावल	मध्यम व निषाद	ओडुव-ओडुव	पं,सां सा,वध	धैवल व गांधार	सारेगप, सापग प,
६.	बिहाग	बिलावल	रिध आरोही में	ओडुव-संपूर्ण	ग,प,नि,सांसा	गांधार-निषाद	निसा, गमप, निसा मगप
७.	भीमपलासी	काफी	रि,ध आरोही में	ओडुव-संपूर्ण	म,सा,प,ग, निसां	मध्यम, षडज	सा ग म प, स मग प निसामग मप।
८.	भैरव	भैरव	×	संपूर्ण संपूर्ण	म, रे, सा, सां	धैवत ऋषभ	सा ग म,स म, सा रे गम
९.	वागेश्री काफी	काफी	१. आरोही अवरोही में म २. आरोही म ३. कोई नहीं	षाडव-षाडव षाडव-संपूर्ण संपूर्ण-संपूर्ण	म ग,धनिसांसां	मध्यम षडज,	सा गम,साम,निसा मगम,सारेगम,
१	जौनपुरी	आसावरी	गांधार आरोहोमें	षाडव-संपूर्ण	प, ग, सा,नि सां	धैवल गांधार	सा रे म प, निस, रेमप

अंतरे का उठाव	गान-समय	आरोही अवरोही	पकड	साधारण चलन
९	१०	११	१२	३
प सां, गमपसां, मंपध निसां, तथा प धाप निध सां।	मध्याह्न	सा गरे मग,पमं धप,निध सं/संध निप, धमं पग, मरे परेसा।	सा गरे मग परेसा	सा, गरेमग, पधमंप गम गरे मग. पं, मंपधनिसं निमंप, गम गरेमग, गम पसं (प) मगम गरे मग, सध नि़ मंप प (प) गमगरे मग परेसा।
प निध,मिसं, पधनिसं गपध, निध निसां	दिन का प्रथम प्रहर	सारे गरे,गप,ध,नीध, नि़ सां सविवप धनिधाप मग मरे सा	गरे, गप, ध, निसां	सारे, गप मग मरे, गप धग मरे, गाप ध़ नि़ धप, धानिसं, सांनेधप, निध निसां ध नि़ धम मग मरे।
सां, गप निध,सां पंसां साग पसां	रात्रि के द्वितीय प्रहर में	सां, गप निध, सां,संनि, प निधसंनि,प,गप,गसा।	सांनि, प निध संनि प, गप गसा	रे प गप ग-रेसा, सागप, गरे,पग,प, नि,पग, गप निध संनि, रेंसां निध सांनि, प, गप रे ग–रे सा।
पसां पधसां	दिन का प्रथम प्रहर	सा रे गप, धसां/सां/ध, प, गपधप, गरेसा	ध,प,गपधप,ग रेसा	ध, प, गपधप, गप म रे सा, सा, पगप, गपधस (प) गपधप, गसा, साधऽऽप।
गमपनिसां पसां गमपसां	रात्रि का द्वितीय प्रहर	नि़सा, ग, मप,निसां/सं निधप, मग, रेसा	नि़सा,गमप,गमग रे सा	निसाग, सानि, प़ नि़सा ग, रेसा, स (स)नि़ध़ प, नि़, सा, गमगसा, गम प नीध, गमपधगमग, पग मग, गमपधम गऽसा।
ग़ु म पा नि़सां, मपसां	दिन का तृतीय प्रहर	नि़सा,ग़ुम,प,नि़सां/ संनि़धप, मग़ु रेसा।	नि़ सा प मग़ु पमग़ु मग़ु रेसा।	नि़ सा म, ग़ु म प ग़ु म, नि़सा पम, ग़ानि़सा, ग़ुम, पमग़ु म,ग पग़ुम, पनि़सं नि़सां (प) मग़ु, पमग़ुऽरेसा।

९	१०	११	१२	१३
गमध, सां, गमधनिसां, गमपधनि सां	प्रातःकाल का संधिप्रकाश	सारेगम, पधनिसां/संनिध प, म गरेसा	सा गम प ध प	सा म, गमध, प,धधपम, म (म)रेगम, पम, गरेऽ सा, गमधऽ सं, रेंऽसं, निसां धऽ, प, धपम, गमनिध पधम, गमप गमरेऽसा।
मधनीसां, मनिध सां, म सां	मध्यरात्रि	सा निध निसां, मग मध निसां सा निध, मग, रेसा	सा निध सा, मध, निध, मग, मग, रेसा	सा निधसा, मग, मग, रेसा/निसा निध मधनि सा, मगरें, गमगरेगा/सम, गमध, धनिधम मपध ग, मग, रेसा/गमधनिसं रेंसां निसांध, धनि संनिधम, पधमग मग रेसा।
मपसां, मपधनिसां, मपनिसां	दिन का द्वितीय प्रहर	सारेमप, धनिसां/संनि धप, मग, रेसा	मप, निधप, धमप गरेमप।	स सारे मप, ग रे मप, ग रेसा, निसा रेनिधप, मपध निसां, रेमधध ग, रेपग सारेमप धनिधध मपगरेमप, गरेसा/मप निसरें निधप, मपधनिसा निधप, धमप गरेमप गरेसा।

अध्याय १०

निम्नलिखित तालों की जानकारी

१. दादरा २. झपताल ३. एक ताल ४. चौताल, ५. झुमरा ६. धमार ७. त्रिताल तथा ८. तिलवाड़ा।

दादरा

श्लोक :—

भाषायामिह दादरेनि विदित स्तालोतिय षष्ठकः
स्पष्टयति लग्न इत्यमिध्या रत्नाकरे वर्णते ॥
पूर्वेयत्र नमत्तनश्च सरलो द्वावेष धातस्मृताम् ।
गीतेषु प्रबल स्तु योति मधुरं मादगिर्कं वर्धते ॥

दादरा ताल में छ मात्राएं हैं, दो खण्ड हैं, और प्रत्येक खण्ड में ३–३ मात्राएं हैं। प्रथम खण्ड में तालों व द्वितीय खण्ड में खाली है। उपर्युक्त विवरण के अनुसार दादरा निम्न प्रकार से लिपिबद्ध किया जाता है :—

मात्रा :	१	२	३	४	५	६
का	धा	धी	ना	धा	ती	ना
चिह्न	×			०		

ताल की दुगुन, तिगुन तथा चौगुन निम्नांकित है,

दुगुन :—

	२ २	३			
प्रकार १	धधनाध	तीना	धधी (०)	नाधा	तीना
प्रकार २	धा धी ना		धाधी (०)	नाधा	तीना

तिगुन :—

				४	५	६
प्रकार १	धाधीना	धातीना	धाधीना	धातीना (०)	धाधीना	धातीना

प्रकार २ धा धी ना|धा धाधीना धातिना

चौगुन :—

प्रकार १

१	२	३	४
धाधीनाधा	तीनाधाधी	नाधातीना	धाधीनाधा
×			०

५	६
तीनाधाधी	नाधातीना

प्रकार २ धा धी ना|धा तीऽधधी नाधतीना
× ०

झपताल

श्लोक

जनेषु बहुविश्रुता दपकलोत्र झंपतियः ।
इगरंगी रचिता शास्त्र उदितो ड ता लो ति वैं ॥
द्रुतो द्रुत विरामस्तदनु शब्द हांनो द्रुत ।
ततो द्रुत विराम कोत्र कथितं निधालयम् ॥

झपलाल में दस मात्रा हैं, चार खण्ड हैं, और प्रत्येक खण्ड में २/३ २/३ इस प्रकार मात्राओं का चार खण्डों में विभाजन है। ताली तीन तथा खाली एक है। एक, तीन तथा आठ मात्रा पर ताली व छटी मात्रा पर खाली है।

मात्रा	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०.
टेका:		धीना	धी	धी	ना	त	ना	धी	धी	ना
तालचिह्न	×		२			०		३		

दुगुन पहला प्रकार

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
धीना	धीधी	नानी	नाधी	धीना	धीना	धीधी	नाती	नाधी	धीना
×		२			०		३		

दुगुन दूसरा प्रकार

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
धी	ना	धी	धी	ना	धीना	धीधी	नानी	नाधी	धीना
×		२			०		३		

तिगुन पहला-प्रकार

१	२	३	४	५	६	७
धीनाधी	धीनाती	नाधीधी	नाधीना	धीधीना	तीनाधी	धीनाधी
+						

८	९	१०
नाधीधी	नानीना	धीधीना
३		

तिगुन दूसरा प्रकार

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
धी	ना	धी	धी	ना	ती	नाऽ,धी	नाधीधी	नातीना	धीधीना
×		२			०		३		

चौगुन पहला प्रकार

१	२	३	४	५
धानाधीधी	नाती नाधी	धीनाधीना	धीधीनाती	नाधीधीना
×		२		

६	७	८	९	१०
धीनाधीधी	नातीनाधी	धीना धीना	धीधीनाती	नाधीधीना
०		३		

चौगुन दूसरा प्रकार

धी	ना	धी	धी	ना	नी	ना	धीऽ,धीना	धीधीनानी	नाधीधीना
×		२			०		३		

एक ताल

एक ताल में मात्राएं बारह, होती है, बारह मात्राओं को ६ खण्डों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक खण्ड में २/२ मात्राएं हैं। ताली चार तथा खाली दो है। एक, पांच, नौ तथा ग्यारह मात्राओं पर ताली है व तीन तथा सात मात्राओं पर खाली है।

मात्रा	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
ठेका:	धी	धी	धागे	तिरकिट	तू	ना	क	त्ता	धागे	तिरकिट	धी	ना
ताल चिह्न	×		०		२		०		३		४	

दुगुन पहला प्रकार

१ २ | ३ ४ | ५ ६ | ७ ८

धिं धिं धागे तिरकिट | तूना कत्ता | धागे तिरकिट धीना | धिंधिं धागे तिरकिट

× | ० | २ |

९ १० | ११ १२

तूना कत्ता | धगे तिरकिट धीना

३ | ४

दुगुन दूसरा प्रकार।

१ २ ३ ४ | ५ ६ | ७ ८ | ९ १०

धी धी धागे तिरकिट | तू ना | धिंधिं धागे तिरकिट | तूना कत्ता

× ० | २ | ० | ३

११ १२

धागे तिरकिट धीना

तिगुन पहला प्रकार

१ २ | ३ ४ | ५

धीधिं धागे तराकेट तूना | कत्ता धागे तिरकिट धीना | धीधी धागे

× | ० | २

६ ७ ८ | ९ १०

तिराकेट तूना कत्ता धागे तिरकिट धीना | धीधी धागे तिराकेट तूना

| ३

११ १२

कत्ता धागे तिरकिट धीना

४

तिगुन दूसरा प्रकार

१ २ | ३ ४ | ५ ६ | ७८ | ९ १०

धी धी | धागे तिरकिट | तू ना | कत्ता | धीधी धागे तिरकिट तूना

× | ० | २ | ० | ३

११ १२
कत्ता धागे तिरकिट धीना
४

चौगुन पहला प्रकार

१ २ ३ ४
धीधी धगे निरकिट तूनाकत्ता | धागे तिरकिट धीना धी धी धागे तिरकिट
× ०

५ ६ ७ ८
तूनाकत्ता धागे निरकिट धीना | धीधी धागे तिरकिट तूना कत्ता

९ १० ११ १२
धागे तिरकिट धीना धाधी धागे तिरकिट | तूनाकत्ता धागे तिरकिट धीना
३ ४

चौगुन दूसरा प्रकार

१ २ | ३ ४ | ५६ | ७ ८ | ९ १० ११
धी धी | धागे तिरकिट | तूना | क त्ता | धागे धिंधि धागे तिरकिट तूना कत्ना
× | ० | २ | ० | ४ ४

१२
धागे तिरकिट धीना

चौताल

श्लोक :—

चतुस्तालो लोके विदित इहयोद्‌वादश कला ।
सशास्त्रे प्युक्तो वर्णयति रिति निःशंक सुधिया ।।
लघु यत्नादौ द्वौनदनु कायेतं तु द्रुत युगम् ।
निधाता श्चत्वारो ध्रुवपद नियुक्ता विजयतें ।।

चौताल में बारह मात्राएँ हैं, जिनके छ खण्ड हैं। प्रत्येक खण्ड में २/२ मात्राओं के अनुसार बारह मात्राओं को ६ खण्डों में विभाजित किया गया है। ताली चार हैं तथा खाली एक है। एक, पांच, नो तथा दस मात्राओं पर ताली है तथा तीन व सात मात्राओं पर खाली है।

मात्रा	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
ठेका :—	धा	धा	दी	ता	केट	धा	दी	ता	तिर	कत	गदि	गिन
तालचिह्न	×		०		२		०		३		४	

दुगुन पहला प्रकार

१	२	३	४	५	६	७	८
धा धा	दीता	किट धा	दीता	तिट कत	गदि गिन	धा धा	दीता
×		०		२		०	

९	१०	११	१२
किट धा	दीता	तिट कत	गदि गिन
३		४	

दुगुन दूसरा प्रकार

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
धा	धा	दी	ता	किट	धा	धाधा	दीता	किट धा	दीता	तिटकत	गदिगिन
×		०		२		०		३		४	

तिगुन पहला प्रकार

१	२	३	४	५	६
धाधादि	ता किटधा	दिता तिट कत	गदि गिन	धाधादि	ता किट धा

७	८	९	१०	११	१२
दीतातिद	कतगदिगिन	धाधादि	ता किट धा	दीता तिट	कतगदिगिन

तिगुन दूसरा प्रकार

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
धा	धा	दी	ता	किट	धा	दी	ता	धाधादी	ता किटधा	दीतातिट	कत गादि गिन
×		०		२		०		३		४	

चौगुन पहला प्रकार

१	२	३	४	५
धा धादिता	किट धा दीता	तिटकतगदि गिन	धा धा दीता	किट धा दीता
×		०		

६	७	८	९	१०
तिटकत गदिगिन	धाधादीता	किट धादीता	तिट कत गदि गिन	धाधा दीता

११	१२
किट धादींता	तिट कत गादि गिन

चौगुन दूसरा प्रकार

१ २	३ ४	५ ६	७ ८	९	१०	११
धा धा	दी ता	किट धा	दी ता	तिट	धाधादीता	किट धादीना
×	०		०	३		४

१२
तिट कत गदि गिन

झूमरा

श्लोक :—

तालोस्ति प्रथितश्चतुर्दशकलो झूमतिलोकेषु यो ।
मावंङ्ग इहिराजपूर्व उदितः संगीत रत्नाकरे ।।
यत्रादौ दधि रामको निगदितः तस्याल्लघु स्याततो ।
निः शब्दों दविराम लघुरतः प्रोक्तं निधात त्रयम् ।।

झूमरा ताल में चौदह मात्राएँ हैं, जिनका चार खण्डों में विभाजन किया गया है। तीन चार तीन चार इस प्रकार प्रत्येक खण्ड में मात्राओं का क्रमशः विभाजन किया गया है। ताली तीन हैं तथा खाली एक है। एक, चार तथा ग्यारह मात्राओं पर ताली दी जाती है व आठवी मात्रा पर खाली दर्शाई जाती है।

मात्रा :	१ २ ३	४ ५ ६	७	८ ९ १०	११ १२ १३ १४
	घि ऽधा तृक	धीं धीं धा	तृ क	ती ऽता तृक	धी धी धी तृक
तालचिह्न	×	२		०	३

उक्त ठेके के बोलो कों बजाते समय तृक बोल को तिरकिट के रूप में बजाया जाता हुआ अनेक बार पाया जाता है, जिससे उक्ततालको प्रथम विभाग के बोल धी धा तृक के स्थान पर "धीं धा तिरकिट बजाये जाते हैं तथा खाली वाले विभाग के बोल ती ता तृक के स्थान पर ती ता तिरकिट बजाये जाते हैं।

झूमरा ताल के ठेके का दूसरा प्रकार

मात्रा	१	२	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
ठेका :	धी	धागे तिरकिट	धी	धी	धागे	तिकिट	ती	तागे	तिरकिट	धी	धी	धागे	तिरकिट
तालचिह्न	×		२				०			३			

झूमरा ताल के ठेके का तृतीय प्रकार

मात्रा	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
ठेका :	धी	धी	नक	धीं	धी	धागे	तिरकिट	तीं	ती	नक	धी	धी	धागे	तिरकिट
तालचिह्न	×			२				०			३			

उक्त तीनों ही प्रकार आज प्रचलित हैं : यह ताल बड़े ख्यालों के साथ विलंबित लय में बजाया जाता है। इस ताल के बोलों की दुगुन, तिगुन तथा चौगुन सुविधा की दृष्टि से तृतीय प्रकार के बोलों को लेकर दी जाती है।

दुगुन का पहला प्रकार

१	२	३	४	५	६	७
धी धी	नक धी	धी धागे	तिरकिट ती	तीनक	धीं धी	धागे तिरकिट
×			२			

८	९	१०	११	१२	१३	१४
धीधीं	नकधीं	धी धा गे	तिरकिट ती	तीं नक	धी धी	धागे तिरकिट
०			३			

दुगुन का दूसरा प्रकार

१ २	३	४ ५	६	७	८	९	१०	११		१२
धीधीं	नक	धी धी	धागे	तिरकिट	धींधी	नक	धि धींध०	तिरकिट	तीं	ती नक
×		२			०					

१३ १४
धीं धीं धागे तिरकिट |

तिगुन का पहला प्रकार

१ २ ३ ४ ५
धीधि नक धी धी धागे तिरकिट तीतीं | नकधी धी धागे तिरकिट धी
×

६ ७ ८ ९ १०
धी नक धी धी धागे तिरकिट | ती ती नक धीधी धागें तिरकिट धीधी |
०

११ १२ १३ १४
नक धी धी धागे तिरकिट ती ती नक धी धी धागे तिरकिट ||
३

तिगुन का दूसरा प्रकार

१ २ ३ | ४ ५ | ६ ७ | ८ ९ १० ११
धी धी नक | धी धी | धागे तिरकिट | ती ती नक धीधी नक धी धी
× २ ० ३

१२ १३ १४
धागे तिरकिट ती तीनक धी धी धागे तिरकिट ||

चौगुन का पहला प्रकार

१ २ ३
धी धी न क धीं | धी धागे तिरकिट ती ती नक धीं धी
×

४ ५ ६
धागे तिरकिट धी धी नक धी धी धागें तिरकिट ती ती नक |
२

७ ८ ९ १०
धी धी धागे तिरकिट धी धी नक धी धी धागे तिरकिट ती तीन् नक धी धी
०

११ १२ १३
धागे तिरकिट धी धी नक धी धी धागे तिरकिट तीनी नक
३

१४
धी धी धागे तिरकिट

चौगुन का दूसरा प्रकार

१ २ ३ | ४ ५ ६ ७ | ८ ९ १० ११ १२
धी धी नक | धी धी धागे तिरकिट | ती ती नक धी ऽ धी धी नक धीधी धागे
× | २ | ० ३

१३ १४
तिरकिट तीती नक धी धी धागे तिरकिट

धमार ताल

श्लोक :—

भाषायां प्रथित श्चतुदर्मकला ताल्नों धमाराभिध :
सांय चंद्र इते स्वयं निगदित: शारंग देवेनहि ॥
आदौ यत्र लघुस्ततो लघुरिति प्रोक्तं निधातत्रयम् ।
वक्रा श्चित्र विचित्र पाहगतिभि: मादींगं कै वर्यिते ॥

धमार ताल में चौदह मात्राएँ हैं, जिनको चार खण्डों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक खण्ड में पांच, दो, तीन, चार, यह क्रम रखकर चौदह मात्राओ का चार खण्डो मे विभाजन किया गया है। तीन तालीं है तथा एक खाली है। एक, छ तथा ग्यारह मात्राओं पर ताली है व आठवी मात्रा पर खाली है।

मात्रा	१	२	३	४	५		६	७		८	९	१०		११	१२	१३	१४	
ठेका :—	क	धि	ट	धि	ट		धा	ऽ		क	ति	ट		ति	ट	ता	ऽ	
तालचिह्न	×						२			०								

कुछ पुस्तकों में धमार के खाली के विभाग में "कातिट" के स्थान पर ग ति ट 'भी माने गये है।

दुगुन का पहला प्रकार

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
काधि	टघी	टधा	ऽक	तिट	तिट	ताऽ	कधि	टधि	टधा	ऽक	तिट
×					२		०			३	

१३	१४
तिट	ताऽ

दुगुन का दूसरा प्रकार

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
क	धि	ट	धि	ट	धा	ऽ	कधि	टाधि	टधा	ऽक	तिट
×					२		०		२	३	

१३	१४
तिट	नाऽ

तिगुन का पहला प्रकार

१	२		४	५	६	७	८	९	१०
कधिट	धीटधा	ऽकति	टतिट	ताऽक	धिट धि	टधाऽ	कतिद	तिटवा	ऽकधि
×					२		०		

११	१२	१३	१४
टधीट	धाऽक	तिटति	टताऽ
३			

तिगुन का दुसरा प्रकार

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३
क	धि	ट	धी	ट	धा	ऽ	क	ति	ट, क धि	ट धि ट	धा ऽ क	ति ट टि
×					२		०			३		

१४
ट ता ऽ

चौगुन का पहला प्रकार

१	२	३	४	५	६	७
कधिटधि	टधाऽक	तिटतिट	ताऽ कधि	टधि टधा	ऽकतिट	तिटताऽ
×					२	

८	९	१०	११	१२	१३	१४
कधिटधि	टधाऽक	तिटतिट	ताऽ कधि	टधिटधा	ऽकतिट	तिटताऽ
०			३			

चौगुन का दूसरा प्रकार

१ २ ३ ४ ५	६ ७	८ ९ १०	११	१२	१३	१४
क धिट धिट	धा ऽ	८ ति ट	तिऽ कधि	टधि टधा	ऽक ति ट	तिटताऽ

दीपचंदी

श्लोक :–

तालोन्य· कथितश्चतुर्दश कलो यो दीपचंदीति वै ।
पूर्व स्यँवं भेद एषइति संस्पष्टं दरी तृण्वलं ॥
यत्रादौदविराम एव हिततः प्रोक्तोल्लघुः पूर्वनत् ।
तिः शब्द दविराम एव हित तो वाणी निधातत्रयम् ॥

दीपचंदी ताल में चौदह मात्रा हैं जिन्हें चार खण्डों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक खण्ड में ३/४ इस क्रम से चार खण्डों में क्रमशः मात्राओं का विभाजन किया गया है। ताली तीन तथा खाली एक है। इस ताल को होरी तथा ठुंबरी गीत-प्रकारों के साथ बजाया जाता है।

मात्रा	१ २ ३	४ ५ ६ ७	८ ९ १०	११ १२ १३ १४
तालचिह्न	धा धीं ऽ	धा धा ती-ऽ	ता ती ऽ	धा धा धी ऽ
	×	२	०	३

दुगुन का पहला प्रकार

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
धाधीं	ऽधा	धाती	ऽ धा	लोऽ	धाधा	धोऽ	धाधी	ऽधा	धातीं
×			२				०		

११	१२	१३	१४
ऽ ता	तीऽ	धाधा	धींऽ
३			

दुगुन का दूसरा प्रकार

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
धा	धी	ऽ	धा	धा	ती	ऽ	धाधी	ऽधा	धाती	ऽता	तीऽ	धाधा	धीऽ
×			२				०			३			

तिगुन का पहला प्रकार

१	२	३	४	५	६	७
धाधीऽ	धाधाती	ऽ ता तीं	ऽ धा धा	धींऽधा	धीऽधा	धाधीऽ
×			२			

८	९	१०	११	१२	१३	१४
तानीऽ	धा धा धी	ऽ धा धीं	ऽ धा धा	ती ऽ ता	ती ऽ धा	धाधीऽ
०			३			

तिगुन का दूसरा प्रकार

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
धाधीऽ			धाधा			ऽ	ता	तीं	ऽ, धाधो	ऽधाधा	ती ऽ ता	ती ऽ धा	धाधीऽ
×			२							३			

चौगुन का पहला प्रकार

१	२	३	४	५	६	७	८
धाधीऽधा	धातीऽना	तीऽधाधा	धीऽधाधी	ऽधाधाती	ऽतानीऽ	धा धाधीऽ	धाधीऽधा
×			२				०

९	१०	११	१२	१३	१४
धातींऽ ता	तीऽधाधा	धीऽ धाधी	ऽधाधाती	ऽतातीऽ	धाधाधीऽ
		३			

चौगुन का दूसरा प्रकार

१ २ ३	४ ५ ६ ७	८ ९ १०	११	१२	१३	१४
धाधीऽ	धाधातीऽ	तातीऽ	धाऽधाधी	ऽधाधाती	ऽतातीऽ	धाधा धींऽ
×	२	०	३			

आडाचौताल

श्लोक :—

द्रष्टो न्योति जने चतुर्दशकलो डादिश्चतुस्ताल को ।
यां रत्नाकर ईरितोस्तिच यथा भिरण्य तुस्तालकः ।।
पूर्वोचाव यतो द्रुत तयो लघवः प्रोक्ता स्त्रय स्सूरिभिः ।
एवम् धात चतुष्टयं सुमधुरं पाटेरभिर्भूयते ।।

इस ताल में चौदह मात्राए हैं चौदह मात्राओं को सात खण्डों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक खण्ड में २/२ मात्राओं के अनुसार चौदह मात्राओं को सात खण्डों में विभाजित किया गया है। ताली चार है तथा खाली तीन हैं। बड़े ख्यालों के साथ विलंबित लय में यह बजाया जाता है। कतिपय गायक तथा वादक द्रुत लय में तराने व रज़ाखानी रानें गाते-बजाते पाये जाते हैं।

मात्रा	१ २	३ ४	५ ६	७ ८	९ १०	११ १२	१३ १४
ठेका :	धी धी	धागे तिरकिट	तूना	कत्ता	धींधी	ना धी	धीना
तालचिह्न	×	२	०	३	०	४	०

आडाचौताल का दूसरा प्रकार

मात्रा	१ २	३ ४	५ ६	७ ८	९ १०	११ १२	१३ १४
ठेका :—	धी तिरकिट	धी ना	तूना	कत्ता	तिरकिट धी	नाधी	धीना
तालचिह्न	×	२	०	०	३	४	०

दुगुन का पहला प्रकार

१ २	३ ४	५ ६	७ ८	९ १०
धीतिरकिट धीना	तूना कत्ता	तिरकिट धी नाधी	धीना धीतिरकिट	धीना तूना
×	२	०	३	०

११	१२	१३	१४
कत्ता	तिरकिट धी	नाधी	धीना
४		०	

दुगुन का दूसरा प्रकार

१ २	३ ४	५ ६	७ ८	९ १०
धी तिरकिट	धी ना	तू ना	क धी तिरकिट	धीना तूना
×	२	०	३	०

११	१२	१३	१४
कत्ता	तिरकिट धी	नाधी	धीना
४		०	

तिगुन का पहला प्रकार

१ २	३ ४
धी तिरकिट धी नातूना	कत्तातिरकिट धीनाधी
×	२

५ ६	७ ८	९
धीनाधी तिरकिट धीना	तूनाक तातिरकिट धी	नाधीधी
०	३	०

१०	११ १२	१३ १४
नाधी तिरकिट	धीनातू नाकत्ता	तिरकिट धीना धीधीना
	४	०

तिगुन का दूसरा प्रकार

१ २	३ ४	५ ६	७ ८	९ १०
धी तिरकिट	धीना	तूना	कत्ता	तिरकिट धी, धी तिरकिट
×	२	०	३	०

११ १२	१३ १४
धीनातू नाकत्ता	तिरकिट धीना धीधीना
४	

चौगुन का पहला प्रकार

१	२	३	४
धी तिरकिट धीना	तूनाकला	तिरकिट धीनाधी	धीनाधी तिरकिट
×		२	

५	६	७	८
धीना तूना	कत्ता तिरकिट धी	नाधीधीना	धी तिरकिट धीना
०		३	

९	१०	११	१२
तूना कत्ता	तिरकिट धीनाधी	धीनाधी तिरकिट	धीना तूना
०		४	

१३	१४
कत्ता तिरकिट धी	नाधीधीना
०	

चौगुन का दूसरा प्रकार

१ २	३ ४	५ ६	७ ८	९ १०	११
धीतिरकिट	धीना	तूना	कत्ता	तिरकिट धी	नाऽ,धितिरकिट
×	२	०	३	०	४

१२	१३	१४
धीना तूना	कत्ता तिरकिट धी	नाधीधीना
	०	

त्रिताल

श्लोक :—

आबाल विदिस्तो षोडषकला
व्याप्त स्त्रितालो जने ।
शास्त्रे चापिहि शारंगिणा निगदितो
यम राज विद्याधर ॥
आदावत्र लघु स्मृतोद्य गुरु

रग्युक्त स्ततस्याल्लघुः ।
घाताः स्यत्रय एव सर्व जगतः
प्राणाः प्रवीणां मतः ॥

इस ताल में सोलह मात्राएँ हैं। सोलह मात्राओं को चार-चार का खण्ड बनाकर चार खण्डों में विभाजित किया गया है। ताली तीन तथा खाली एक हैं। एक पांच तथा तेरहवीं मात्राओं पर ताली है व ९वी मात्रा पर खाली है। बड़े ख्याल, छोटे ख्याल, तराना आदि गीतों के साथ इस ताल को बजाया जाता है अर्थात् विलंबित, मध्य तथा द्रुत तीनों ही लय-प्रकारों के गीतो के साथ इस ताल का प्रयोग होता है। अन्य तालों की अपेक्षा त्रिताल का अधिक प्रचलन है।

मात्रा	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
ठेका :—	धा	धि	धि	धा	धा	धि	धि	धा	धा	ती	ती	ता	ता	धि	धि	धा
तालचिह्न	×				२				०				३			

दुगुन का पहला प्रकार

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
धाधि	धिधा	धाधी	धिधा	धाति	तिता	ताधी	धिधा	धाधी	धिधा	धाधी	धिधा	धाति	तिता	ताधि	धिधा
×				२				०				३			

दुगुन का दूसरा प्रकार

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
धा	धि	धि	धा	धा	धि	धि	धा	धा धि	धि धा	धाधी	धि धा	धाति	तिता	ताधि	धि धा
×				२				०				३			

तिगुन का पहला प्रकार

१	२	३	४	५	६	७	८
धाधीधि	धाधीधि	धिधाधा	तींतीता	ताधि धि	धाधाधि	धिधाधा	धधिधा
×				२			

९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६
धातीतीं ताताधि धींधाधा धिंधिंधा धाधिंधि धाधाती तींतां ता धिं धिंधा ||
० ३

तिगुन का दूसरा प्रकार

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ | ९ १० ११ १२ १३ १४
धा धिं धिं धा धा धिं धिं धा | धा ति तिऽ,धा धिंधिंधा धतधिंधि धाधाती
× २ | ० ३

१५ १६
ती ता ता धिंधिंधा ||

चौगुन का पहला प्रकार

१ २ ३ ४
धाधींधिंधा धाधिंधिंधा धातीतीता ताधिंधिंधा
×

५ ६ ७ ८
धाधिंधिंधा धाधिंधिंधा धातितिता ताधिंधिंधा
२

९ १० ११ १२
धाधींधींधा धाधिं धिंधा धातितिता ताधिंधिंधा
०

१३ १४ १५ १६
धाधिंधिंधा धधिंधिंधा धातितिता ताधिंधिंधा ||
३

चौगुन का दूसरा प्रकार

१ २ ३ ४ | ५ ६ ७ ८ | ९ १० ११ १२ | १३ १४
धा धिं धिं धा | धा धी धी धा | धातितिता | धतिंधिंधा धाधिंधिंधा
× | २ | ० | ३

१५ १६
धातितिता ताधिंधिंधा ||

तलवाडा

यह ताल मात्रा विभाग, तांली तथा खाली आदि की दृष्टि से त्रिताल के समान है। किन्तु दोनों के बोलों में भिन्नता है। इस भिन्नता के कारण त्रिताल तथा तिलवाड़ा दोनों ही ताल चलन, प्रकृति तथा लय संतुलन (वजन) की दृष्टि से पूर्णतया भिन्न तथा स्वतंत्र हैं। त्रिताल विलंबित, मध्यह्न तथा द्रुत तीनों ही लय-प्रकारों में बजाया जाता है, किन्तु तिलवाड़ा ताल की विशेषता यह है कि इसे केवल बड़े ख्याल के साथ विलंबित लय में ही प्रयुक्त किया जाता है। अधिकतर ग्वालियर घराने के ख्याल-गायक अपने साथ तिलवाड़ा ताल का प्रयोग करते हुए दिखाई देते हैं। उस घराने की यह एक विशिष्टता समझी जाती है।

इस ताल में सोलह मात्राएँ हैं व प्रत्येक खण्ड में चार-चार मात्राओं के अनुसार कुल मात्राओं को चार खण्डों में विभाजित किया गया है। ताली तीन हैं तथा खाली एक है। एक, पांच तथा तेरहवीं मात्राओं र ताली है तथा नवी मात्रा पर खाली है।

मात्रा	१	२	३ ४	५ ६ ७ ८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५ १६
ठेका :—	धा	तिरकिट	धिंधि	धाधातिंतिं	ता	तिरकिट	धिं	धिं	धा	धा	धिंधिं
तालचिह्न	×			२	०				३		

दुगुन का पहला प्रकार

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
धा तिरकिट	धिंधि	धाधा	तींतीं	ता तिरकिट	धिंधि	धाधा	धिंधि	धा तिरकिट	धिंधि	धाधा	ती ती	ता तिरकिट	धिंधि	धाधा	धिंधि
×				२				०				३			

दुगुन का दूसरा प्रकार

१	२	३ ४	५ ६ ७ ८	९	१०	११	१२	१३
धा	तिरकिट	धिंधि	धाधा तीती	धा तिरकिट	धि धि	धा धा	ती ती	ता तिरकिट
×			२	०				३

१४ १४ १६
घि घि धाधा घि घि ||

तिगुन का पहला प्रकार

१ २ ३ ४ ५ ६ ७
धातिरकिट घि घिधाधा तीतीं ता तिरकिट धीधी धाधधी धिधा, तिरकिट घिघिधा
× २

८ | ९ १० ११ १२ | १३ १४
धातीती | तातिराकेटकि घिधाधा घिघिधा तिरकिट धीधी | धाधाति तिता तिरकिट
० ३

१५ १६
घिघिधा धनघिघि |

तिगुन का दूसरा प्रकार

१ २ ३ ४ | ५ ६ ७ ८ | ९ १० ११ १२
धा तिरकिट घि घि | धाधातिति | ता तिरकिट धिऽ,धा तिरकिट घिघि
× २ ०

१३ १४ १५ १६
धाधाती तीतातिरकिट घिघिधा धाघिघि |
३

चौगुन का पहला प्रकार

१ २ ३ ४
धा तिरकिट घि घि धाधातींती तातिरकिट घिघि धाधा धीधी |
×

५ ६ ७ ८
धा तिरकिट घिघि धाधातींतीं तातिरकिट घिघी धाधाधीं धी |
२

९	१०	११	१२
धातिरकिट घिंघि	धाधा तींतीं	ता तिरकिट घिं घिं	धाधा घिंघिं
०			

१३	१४	१५	१६
धा तिरकिट घिंघि	धाधातींतीं	तातिरकिट धींधीं	धाधाघिंघिं

चौगुन का दूसरा प्रकार

१ २ ३ ४	५ ६ ७ ८	९ १० ११ १२	१३
धातिरकिट घिंघिं	धाधा तींतीं	ता तिरकिट धीं धीं	धातिरकिट घिंघिं
×	२	०	३

१४	१५	१६
धाधातींतीं	ता तिरकिट धींधीं	धाधा घिंघिं

रूपक ताल

श्लोक :—

ताल: सत्पकलोत्र रूपक इति ख्यातोस्ति लोकेषु यः।
शास्त्रेण कथित स्तृतीय इति निःशंकेना रत्नाकरे॥
निःशब्दः द्रुत तो द्रुतो द्रुत विरामोस्तीह धात द्वयम्।
गीतेषु प्रविलंवित द्रुत लये पाटैं कलं वाद्य से॥

इस ताल में सात मात्राएं हैं। सात मात्राओं को तीन भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग में ३, द्वितीय तथा तृतीय प्रत्येक २/२ मात्राएं रखी जाकर तीन भागों में सात मात्राओं का इस प्रकार विभाजन किया गया है। उक्त श्लोक के अनुसार धात द्वयम् अर्थात् दो ताली ऐसा संकेत है व इसी कारण इस ताल में दो ताली व एक खाली मानी जाती है। हिन्दुस्तानी ताल-पद्धति में ताल की प्रथम मात्रा पर ही केवल सम मानी जाती है व अधिकतर प्रचलित तालों की प्रथम मात्रा पर तबले पर बजने वाले बोलों में से प्रमुख बोल धा अथवा धि दिखाई देता है किन्तु इस ताल की प्रथम मात्रा पर सम आवश्यक रूप में समझी जाती है। परन्तु सम पर अर्थात् प्रथम मात्रा पर तबले के 'धा या धि' अक्षर के स्थान पर ति यह अक्षर होता है।

राग में राग-विस्तार तथा राग रंजकता की दृष्टि से वादी तथा सवादी स्वरों का जो महत्वपूर्ण स्थान है, वही तबला-मृदंग-वादन में धा-धि, तथा ता-ती अक्षरों को है अर्थात् तबला-वादन में धा-धि को वादी तथा ता-ती को संवादी के संकेत अक्षर मानना अनुचित नहीं होगा। इस इस न्याय से हमारे किसी ताल में 'ति' अक्षर को प्रथम मात्रा पर सम मानी जाती है तो वहां ताल के चलन, प्रकृति तथा लय-संतुलन की दृष्टि से उसे अपवाद स्वरूप स्वीकार्य मानना चाहिए। किन्तु हमारे अन्य तालों में 'ति' अक्षर का कार्य संचालन देखते हुए उस अक्षर पर खाली अथवा निःशब्दपात क्रिया स्वीकार करने को भी बाध्य होना पड़ा है। धा-धि ये अक्षर तबला तथा डग्गा दोनों के एक साथ ध्वनि-समन्वय से निर्मित होते हैं और इसी कारण उक्त अक्षरों का तबला-वादन में सम की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान माना गया है। ता-ति अक्षर तबला तथा डग्गा दोनों के स्थान पर केवल तबला, इस एक ही माध्यम, से निर्मित होते हैं। इसी कारण उक्त अक्षरों का धा-धि की अपेक्षा कम महत्व माना जाकर धा-धि इन्ही दो पर सम होने का इन्हें महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। गायन, वादन तथा नर्तन में सम अतीव महत्वपूर्ण स्थान है।

अतएव ताल की प्रथम मात्रा पर सम माननी चाहिए। इस प्रचलित प्रणाली के आधार रूपक ताल में उसकी प्रथम मात्रा पर सम मानी जाती है तथा सम के संकेत स्वरूप सर्वमान्य धा-धि अक्षरों के स्थान पर 'ति अर्थात् ख्याली का संकेत अक्षर हैं, इस कारण वहां अर्थात् प्रथम मात्रा पर खाली मानी जानी चाहिए। अर्थात् इस ताल में प्रथम मात्रा पर सम तथा खाली केवल अपवाद स्वरूप मानी जाने का प्रचलन है यह उक्त विवरण से स्पष्ट होगा। एक ही मात्रा-स्थान पर सम तथा खाली का एक साथ संकेत × इस प्रकार दिखाया जाता है।

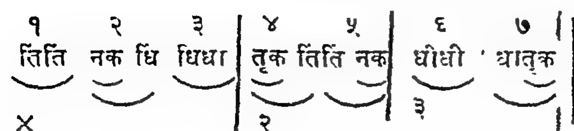
मात्रा	१	२	३	४	५	६	७
ठेका ३	ति	ति	नक	धि	धि	धा	तक
तालचिह्न	×			२			

इस ताल के अन्य बोल भी पाये जाते हैं किन्तु गायक-वादक उक्त प्रचलित बोलों के साथ ही अधिकतर गायन-वादन प्रस्तुत करना पसंद करते हैं। इस कारण उक्त बोलों का रूपक ही अधिक प्रचार में है व सर्व मान्य है। रूपक ताल का निम्नांकित दूसरा प्रकार केवल जानकारी की दृष्टि से समझ लेना चाहिए :—

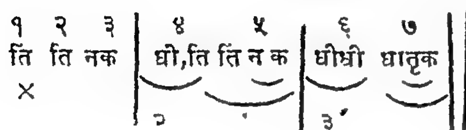
मात्रा	१	२	३	४	५	६	७
ठेका :	धि	धां	तृक	धि	धि	ध	तृक
तालचिह्न	×			२		३	

दुगुन, तिगुन तथा चौगुन देते समय सर्वमान्य प्रचलित रूपक के प्रथमोक्त बोलो का ही उपयोग किया गया है।

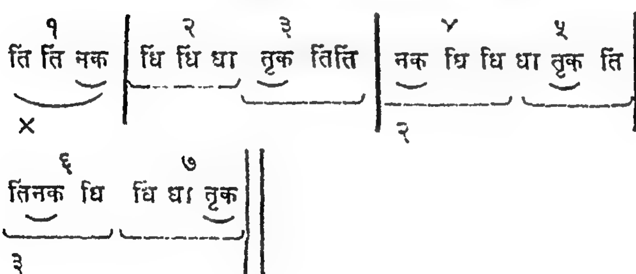
दुगुन का पहला प्रकार



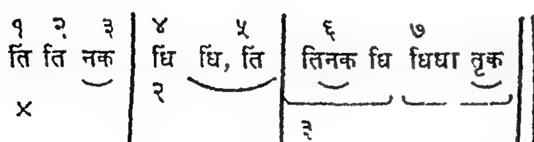
दुगुन का दूसरा प्रकार



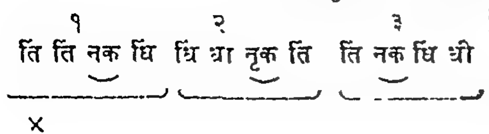
तिगुन का पहला प्रकार

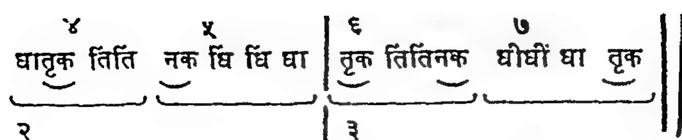


तिगुन का दूसरा प्रकार

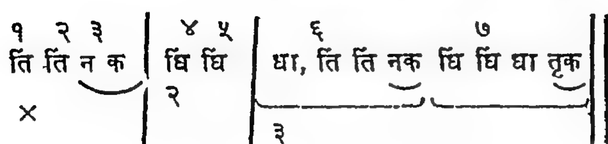


चौगुन का पहला प्रकार





चौगुन का दूसरा प्रकार



भारतीय शास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति में सर्वमान्य प्रचलित तालों में उपर्युक्त तालों में से ही अधिकतर ताल प्रचार में पाये जाते हैं। उक्त तालों में से एक ताल झूमरा, तिलवाडा, त्रिताल, आडाचौताल, झपताल तथा रूपक ये ताल अधिकतर बड़े ख्यालों तथा मसीद खानी गतों के साथ विलंबित लय के ताल माने जाते हैं। त्रिताल, रूपक, एक ताल, आडा चौताल, तथा झपताल ये तालें विलंबित लय के अतिरिक्त मध्य तथा द्रुत लय में भी प्रयुक्त किये जाते हैं तथा ये तालें तबला डग्गा वाद्य यंत्र के माध्यम से बजाये जाते हैं।

चौताल तथा धमार मृदंग अथवा पखावज वाद्य यंत्र के माध्यम से ध्रुवपद तथा धामार गीत-प्रबन्धों के साथ बजाये जाते है । ध्रुवपद गीत-प्रबन्ध के साथ चौताल तथा धमार गीत-प्रबन्ध के साथ धमार-ताल प्रयुक्त किया जाता है। कतिपय सरोद-वादक अपने वादन के साथ मृदंग पखवाज की संगति लेते हुए पाये जाते हैं, वहाँ पर मृदंग अथवा पखवाज पर बजने वाले चौताल तथा धमार तालों का भी विलंबित गत के रूप में प्रयोग किया जाता है। कहने का अर्थ यही है कि ध्रुवपद-धमार के गायन के साथ ही केवल चौताल-धमार का वादन नही होता है अपितु सरोद जैसे कतिपय वाद्यों पर भी ऐसी रचनाएं बजाई जाती हैं, जिनके साथ भी चौताल-धमार तालों का पखवाज वाद्य के माध्यम से प्रयोग किया हुआ पाया जाता है।

दपिचंदी ताल-तबला-डुग्गा वाद्य यंत्र के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है व इस ताल के साथ उपशास्त्रीय संगीत के गीत-प्रबंध होरी तथा ठुमरी गाये जाते हैं।

अध्याय १४

शास्त्रीय संगीत में उपयोगी विभिन्न वाद्यों का वर्णन

तानपूरा (तंबूरा)

प्रचलित 'तानपूरा' शब्द को 'तंबूरा' शब्द का अपभ्रष्ट रूप कहा जा सकता है। कहते हैं तुम्बरु नामक गंधर्व द्वारा इस वाद्य का अविष्कार किया गया था, इसीलिए उस गंधर्व के नाम पर इसे 'ताम्बूरम् या तंबोरा' कहा गया। पाणिनीय शिक्षा में 'अलावू' नामक दिस्वरी अर्थात् द्विवतंत्री (दो तार वाली) वीणा का उल्लेख मिलता है। 'अलावू' शब्द का अर्थ तुम्ब फल या तुम्बा होता है। पाणिनीय शिक्षा में उल्लिखित द्वितंत्री वीणा-'अलावू' को 'तुंबरु' कहना वास्तविकता के अधिक समीप होगा। ऐसी स्थिति में 'अलावू' अर्थात् 'तुम्बफल' या तुम्बा पर विशिष्ट रूप से आश्रित इस वाद्य को 'तंबूरा' कहना अधिक उचित है। आज भी महाराष्ट्र तथा भारत के अनेक भागों में तानपूरा शब्द के स्थान पर 'तंबूरा' शब्द अधिक प्रचार में दिखाई देता है, 'तानपूरा' शब्द के व्युत्पत्ति के आधार स्वरूप विशिष्ट उल्लेख भी अप्राप्य है, इस लिए 'तंबूरा' शब्द का 'तानपूरा' अपभ्रष्ट रूप है, यही अनुमान किया जा सकता है।

वैदिक काल में साम-गायन के साथ अविछिन्न रूप में स्वर-गुंजन होता रहे, इस कारण से वीणा का उपयोग किया जाता था, यह सर्वविदित है। साम-गायन की चतुःस्वरी योजना को स्वर-संबाद की दृष्टि से स्वराधार आवश्यक था। यही तत्व पाणिनीय शिक्षा में वर्णित द्विवस्वरी 'अलावू' वीणा के प्रयोग में निहित था। मूलतः एक तंत्री वीणा का विशेष प्रचलन था। पर जैसे जैसे भारतीय संगीत में स्वरों का व इन पर आधारित संगीत का क्रमशः विकास होता गया, वैसे वैसे स्वराधार व स्वर-संवाद तत्व की आवश्यकता प्रतीत होने लगी, फलतः एक तंत्री वीणा के स्थान पर द्वितंत्री, त्रितंत्री आदि वीणा प्रकारों का प्रचलन होता गया। आज हमें पाणिनीय शिक्षा में वर्णित 'अलावू' वीणा का आवश्यकतानुसार परिवर्तित रूप (चतुः तंत्री वीणा) चार तार वाला 'तंबूरा' दिखाई देता है, जो भारतीय संगीत का वर्तमान में स्वराधार माना जाता है। भारतीय संगीत में वीन, वेला, (Violin) सरोद, इसराज आदि

वाद्यियों को चतुः तंत्री वीणा के अन्तर्गत माने जाने का कारण उक्त वाद्यों में प्रयुक्त चार तार ही प्रतीत होते हैं।

तंबूरे के विशिष्ट अंगों के विषय में संक्षिप्त वर्णन निम्नांकित है :—

१. तूम्बा—गोलाकार वस्तु को तुम्वा कहा जाता है जो लौकी या कद्दू का एक भाग होता है। वैसे तो इस लौकी या कद्दू के बीज अनेक स्थानों पर बोये जाते हैं और तूम्वे तैयार किये जाते हैं किन्तु महाराष्ट्र के सतारा जिले में स्थित 'मिरज' क्षेत्र में इसका विशिष्ट प्रकार से उत्पादन किया है। मिरज मे उत्पादित यह कद्दू बड़े आकार का होता है। इससे तंबूरे के उपयुक्त विशेष प्रकार बनाया जाता है। तूम्वे के खोखलेपन की विशेषता पर तंबूरे के तारों का गुंजन निर्भर करता है। तुंवे के अन्तर्भाग, बीज व गूदा को निकालकर और इस प्रकार खोखला बना कर इसे हल्का किया जाता है। तूम्वा जितना अधिक हल्का होता है उतना ही अधिक ,उपयुक्त समझा जाता है, क्योंकि इस हल्केपन पर गुंजन निर्भर करता है। तंबूरे के उपयुक्त तूम्वे का घेरा(Ciremscribe)कम से कम ४० इंच व अधिक से अधिक ६०-६२ इंच का होना चाहिए। मिरज में उपर्युक्त बातों की ओर विशेष ध्यान दिया जाने से मिरज के बने तूम्वे तंबूरे के लिए अधिक उपयुक्त पाये जाते हैं।

तवली :—तूम्वे को वांछित रूप से काटा जाकर उसके खुले हुए भाग पर जो आच्छादन होता है, उसे तवली कहते है। यह साधारणत: तून की लकड़ी की बनी हुई होती है। इस आच्छादन की लकड़ी को चिकना बनाया जाकर रंग-पालिश द्वारा सुन्दर बनाया जाता है और तूम्वे पर चिपकाया जाता है।

३. कील अर्थात् लंगोट :—तूम्वे के तले में तवली तथा तूम्वे के जोड़ को मजबूत बनाने हेतु लकड़ी की एक तिकोनी पट्टी जोड़ी जाती है। इस पट्टी पर तवली व तूम्वे के जोड़ के ऊपरी भाग पर चार छेद करके इनमें चार तार डाले जाते हैं जो कील या लंगोट को स्पर्श करते रहते हैं। कभी-कभी तिकोनी लकड़ी की पट्टी के स्थान पर लोहे की तिकोनी पट्टी भी इस स्थान पर जुड़ी पायी जाती है।

४. मनका :—मनका या मणि यह हैं। कांच, हाथीदांत या हड्डी के बने हुए होते हैं, जिनके मध्य में एक छिद्र होता है। इस छिद्र में से तार डाले जाकर लंगोट से जुड़े हुए छिद्र वाले भाग से तार लंगोट के ऊपरी भाग पर बांध दिये जाते हैं। ये मणि अथवा मनका चार होते हैं। इनका उपयोग तार के स्वरों को उचित स्वर स्थानों पर लाने हेतु किया जाता है तथा स्वर स्थानों को किंचित् ऊँचा-नीचा करने का कार्य भी इन मनकों से लिया जाता है। तार की स्वर-ध्वनि को किंचित उच्च करना हो तो उस तार के मनके को बायें हाथ से तबली पर लंगोट की ओर

नीचे सरकाया जाता है और तार की स्वर-ध्वनि को कम करना हो तो मनके को तवली के ऊपरी भाग की ओर सरकाना चाहिए। अर्थात् तार-ध्वनि को वांछित स्वर-स्थान देने हेतु इन मनकों का उपयोग किया है। अंग्रेजी में इन्हें अेडजस्टर्स (Adjusters) कहते है।

५ घुरच या घोड़ी :— घुरच या घोड़ी है। यह हाथीदांत की या हड्डी या लकड़ी की बनी आयताकार पट्टी होती है, जो तवली के ऊपर मध्य भाग में रखी जाती है। इस आयताकार पट्टी के दो भाग तवली पर खड़े रह सकें, ऐसी रचना होती है। इसके ऊपर के भाग पर से तार मनको के छिद्रो में से लगोट की ओर जाते हुए दिखाई देते हैं। घुरच या घोड़ो (Bridge) का ऊपरी भाग साफ व चिकना होता है। इस घुरच या घोडी पर से तंबूरे के चार तार स्पष्ट दिखाई देते हैं।

६. डांड-तूम्बे व तवली के जोड में जो छिद्र रहता है उसे इस डांड द्वारा बन्द किया जाता है। यह तून की लकड़ी की बनी हुई होती है। इसका अन्तर्भाग ठोस न होकर पोला होता है और इसका निचला भाग कुछ गोलाई लिये हुए होता है। ऊपरी भाग सपाट होकर ऊपर की सतह कुछ उत्तल होती है। इसकी लम्बाई कम से कम $3\frac{1}{2}$ फीट व अधिक से अधिक चार फीट होती है। इसके ऊपर से तार घुरच या घोड़ी पर स्थिर किये हुए रहते हैं।

७. जव्हारी :—तवली पर स्थित घोड़ी (Bridge) पर चार तार होते हैं। प्रत्येक तार के नीचे घोड़ी से चिपका हुआ एक सूत का धागा लगाया जाता है जिसे नीचे-ऊपर सरकाने से किसी एक विशिष्ट स्थान पर तारध्वनि की झंकार खुली हुई प्रतीत होती है। घोड़ी के जिस स्थान पर ध्वनि की झकार खुली हुई व मधुर लगती है उस स्थान को जव्हारी कहते है। तारध्वनि की जव्हारी का खुली हुई, मधुर, स्पष्ट एव श्रवणीय होना घोड़ी की ऊपरी सतह की बनावट पर अधिक निर्भर करता है घोड़ी की ऊपरी सतह का जव्हारी से सम्बन्ध होने से उस ऊपरी सतह को जव्हारी का स्थान माना जाता है जव्हारी खोलना यह तंतुवाद्यों मे एक पारिभाषिक शब्द है।

इसके लिए घोड़ी की ऊपरी सतह बनाने में विशिष्ट कौशल की आवश्यकता होती है।

८. अटी :—हाथी दात या हड्डी की बनी हुई पतली सी पट्टी डांड के. ऊपरी भाग पर जोड़ी जाती है जिस पर से होकर तार डाड पर होते हुए तवली पर स्थित घोड़ी के ऊपर जाते है।

९. तारगहन :—उक्त अटी से लगभग आधा इंच ऊपर के स्थान पर अटे के समान हाथीदांत या हड्डी की बनी हुई चार छिद्रों से युक्त एक पट्टी डांड पर जोड़ी जाती है इस पट्टी के छिद्रों के अन्दर से प्रत्येक छिद्र में से एक एक तार के अनुसार चार छिद्रों में से चार तार अटी पर से तबली की घुरच पर जाकर स्थिर किये हुए दिखाई देते हैं।

१०. खूंटियां :—वीणा के चतुःतंत्री होने के कारण चार तार होते है। चार तार होने के कारण चार खूंटियां होती हैं, जिनमें दो डांड के आखरी भाग की ऊपरी सतह पर किये हुए दो छिद्रो में लगाई जाती है, डांड में दोनों ही खूंटियो का अन्तर १ से २ इंच के बीच का रखा जाता है। शेष दोनों खूंटियां डांड की सतह के दोनों ओर के निचले बाजुओं पर बने छिद्रों में गाड़ी जाती हैं। इन खूंटियों में एक एक छिद्र होता है, जिसके अन्दर तार डाले जाकर पक्के ढंग से उन्हें बांधा जाता है। प्रत्येक तार का दूसरा भाग तारगहन में से अटी, डांड तथा तबली पर स्थित घोड़ी पर लगोट की ओर बने छिद्रों में पिरोकर पक्के ढंग से वहां बांध दिया जाता है।

११. तार :—पूर्व में बताया गया है कि इस वाद्य में चार तारों की आवश्यकता होती है। इन चार तारों मे से मध्य के दो तार अच्छे लोहे के या स्टील के होते हैं। बाजू वाले दो तारों में से तंबूरा खड़ा रखने पर बायें हाथ की बाजू वाला तार तांबे का व दायें हाथ की बाजू वाला तार पीतल का होता है तांबा व पीतल के स्थान पर उक्त दोनों ही तार वर्तमान में स्टील के बने हुए भी लगाये जाते हैं। उक्त चारों तारों से निर्मित ध्वनि पर ही इस वाद्य की उपयुक्तता तथा विशिष्टता निर्भर करती है। इस कारण ये तार इसी उपयोग हेतु विशिष्ट ढग से बनाये जाते हैं। तार की उच्चानुच्च (Pitch) ध्वनि क्षमता का सम्बन्ध तारों के पतलेपन व मोटाई से होता है, मोटा तार पतले तार की अपेक्षा नीची ध्वनि क्षमता रखता है। साधारण रूप में यह देखने मे आया है कि स्त्री कण्ठ की ध्वनि क्षमता (Pitch) पुरुष कण्ठ की ध्वनिक्षमता से उच्च होती है। इसी तथ्य के अनुसार तंबूरे मे मोटे या पतले तारों का उपयोग किया जाता है। पतले तारों वाला तबूरा स्त्री गायक के उपयुक्त व मोटे तार वाला तंबूरा पुरुष गायक के उपयुक्त समझा जाता है। इन्ही दो विशेषताओं के कारण मोटे तार वाले तंबूरे को मर्दाना व पतले तार वाले तंबूरे को जनाना तंबूरा कहा जाता है।

तंबूरा बनाने की विधि :—पूर्व में कहा गया है कि तार के पतले तथा मोटे होने पर उसकी ध्वनि की उच्चनीयता निर्भर करती है। इसके अनुसार चारों तारों को भिन्न भिन्न चार स्वर ध्वनियों में मिलाना होता है, इसलिए तारों की मोटाई तथा पतलेपन पर विशेष ध्यान रखना पड़ता है। तंबूरे को खड़ा रखकर इन तारों को

मिलाना चाहिए। मध्य के दो तारों, जो स्टील के होते हैं, को वांछित ऊंचाई की षड्ज, अर्थात् मध्य सप्तक के 'सा' की ध्वनि में मिलाना चाहिए। उसके पश्चात् इन्ही दो तारों के मध्य षड्ज को आधार मानकर उस षड्ज ध्वनि के एक सप्तक नीचे की षड्ज ध्वनि अर्थात् खरज में दायी ओर के पीतल के तार को मिलाना चाहिए। बीच के स्टील वाले दो तार मध्य सप्तक की षड्ज ध्वनि में व दायीं ओर का पीतल वाला तीसरा तार खरज की ध्वनि में मिलाने से तबूरे की ध्वनि में तीनों ही तार सा सा सा की ध्वनि पैदा करेंगे। ये तार ठीक स्थान पर मिले हैं या नही, यह जानने के लिए तीनों ही तारों को बार-बार बजाकर ध्यान पूर्वक श्रवण करना चाहिए। उक्त तीनों ही तार-ध्वनियों को सुनकर उनके ठीक मिल जाने का संतोष होने के पश्चात् बाये हाथ की ओर वाले तावे के तार को मन्द्र रूपक के पंचम की ध्वनि में मिलाना चाहिए बांयी ओर से दायी ओर एक तार विधिपूर्वक बजाने से पु सा सा सा ये चार ध्वनियां सुनाई देंगी। चारों तारों को उक्त स्वर ध्वनियों में मिलाने के पश्चात् बार-बार श्रवण करना चाहिए और यह देखना चाहिए कि चारों तारों की ध्वनियों में से निर्मित स्वर उचित नाद-स्थान पर बोल रहे है या नही। यदि किसी तार की स्वर-ध्वनि में किंचित् मात्रा कम-अधिक नाद-स्थान की आशंका हो तो उसे तबली पर स्थित मनके को उचित स्थान पर ऊपर-नीचे सरका कर उस स्वर ध्वनि को उचित स्थान पर मिलाकर आशंका दूर कर लेनी चाहिए। घुरच पर लगे हुए तारों के नीचे जो धागे होते है उनको यथास्थान सरका कर जव्हारी खोल लेनी चाहिए।

संगीत एक श्रवण विद्या है। इस कारण श्रवणेन्द्रियो द्वारा सुनने से ही मन को नाद ध्वनियों की अनुभूति होती है और स्वर-ज्ञान बढ़ता है। प्राचीन विद्वान व कतिपय आधुनिक संगीत-साधक हमेशा कहते हुए सुने जाते हैं कि इस चतुःतंत्री वीणा-तंबूरे को मिलाकर प्रति दिन घटी-अर्ध घटी सुनना चाहिए जिससे श्रवणेन्द्रियों को स्वर-ध्वनियां सुनने का अभ्यास होता रहता है। चारो तार-ध्वनियों के समन्वय से जो मधुर गुंजन उत्पन्न होता है, उसके फलस्वरूप मन तथा आत्मा उस गुंजन की ओर केन्द्रित हो जाती है और उन्हें उसमें से निसृत षडज-नाद की अनुभूति होती रहती है। इस प्रकार अनायास ही षड्ज-साधना व स्वर-साधना होती रहती है। संगीत में षड्ज साधना का एक विशेष महत्व है, यह केवल सैद्धान्तिक बात ही नही है, अपितु एक व्यवहारिक तथ्य भी है।

श्रवण-तत्व को व्यवहारिकता की दृष्टि से परखने पर यह अनुभूति होती है कि तंबूरे के चौथे तार से निर्मित खरज की ध्वनि में से तार सप्तक के गांधार की ध्वनि निकलती है। 'पु सा सा सा' की समन्वयात्मक ध्वनि में खरज का तार बजते ही उसमें तार-सप्तक के गांधार की ध्वनि स्पष्ट सुनाई देती है। इस ध्वनि को

स्वयंभू गांधार कहा जाता है। कारण तंबूरे के चारों ही तार प़ सा सा सा़ ध्वनियों में होते हुए भी खरज की ध्वनि मे पाचवा गाधार स्वर स्पष्ट सुनाई देता है। श्रवण तत्व के इस व्यावहारिक पक्ष को भी परखना चाहिए ।

पूर्व में कहा गया है कि तंबूरे के चारों तारो को प़ स स स़ ध्वनियों में मिलाने में स्वर-संवाद तत्व है। स्वर-संवाद कें (Consonance) तत्व स्वर-सप्तक में तीन प्रकार से दिखाई देता है। आज प्रचलित सप्तक सा सा के संपूर्ण स्वर-संवाद के अतिरिक्त षड्ज पंचम-भाव अर्थात् पांच स्वरान्तर के (१३ श्रुत्यंतर के) सा-प, रेध, ग-नि, म- सां, तथा षड्ज-मध्यम भाव अर्थात् चार स्वरान्तर के (९ श्रुत्यंतर के) स म, रे प, ग ध, म नि तथा प सा ये स्वर-सवाद पर आधारित है। 'सा सा सा़" का संपूर्ण अथवा स्वयभावी स्वर-संवाद "प़ सा" स्वर-सवाद की ध्वनि मे समन्वित होने से चारों तारों से उत्पन्न ध्वनि-तरंग हवा में बिखरने की अपेक्षा आपस में मिल जाती है व संवेदनात्मक रूप मे समन्वित ध्वनि पैदा कर मधुर गुंजन निमित करती है, फलतः शुद्ध स्वरो के या कोमल स्वरो के पचम युक्त राग गाते समय तबूरे की यह मधुर गूंज राग-गायन में सहायक हो नही होती, अपितु गायक तथा श्रोताओ को आत्म-विभोर भी करती रहती है। हिन्दुस्तानी सगीत-पद्धति में मध्यम-पंचम एक साथ किसी भी राग में वर्जित नही होते। इसलिए यदि किसी राग में केवल पचम वर्जित है तो ऐसे राग में मध्यम स्वर आवश्यक रूप से बहुलत्व ग्रहण करता है। इस कारण से ऐसे रागों में पीतल वाला पचम का तार मध्यम स्वर मे मिलाया जाता है। मालकंस राग में पचम वर्जित है। यदि इस राग में गायन करने हेतु तबूरे के तार प़ स स स़ में रखे जायेंगे तो गायन करते समय पंचम की ध्वनि गायक-श्रोताओं के कानों को नित्यप्रति खटकती रहेगी और गायक विचलित होकर स्वाभाविक गायन करने की मनोदशा मे नही रह पायेगा। इसीलिए मालकस राग के गायन के लिए प़ सा सा सा़ के स्थान पर स़ सा सा सा़ मे तबूरा मिलाना चाहिए। स़ सा स्वर-संवाद-तत्व के अनुकूल होने के कारण गायक तथा श्रोता की श्रवण-दशा को विचलित नहीं होने देता अपितु ऐसी सवदित ध्वनि मधुर वातावरण का निर्माण करती रहती है। बागेश्री राग के गायन हेतु भी पचम का तार मध्यम स्वर में मिलाया जाता है, फिर भी बागेश्री राग को प सा सासा योजना के तंबूरे से भी यदि गाया जाये तो खटकता नही है और तबूरे का स्वर सवदन बागेश्री के स्वरालापो से मधुर रूप में संवदित हो जाता है।

पंचम के तार को पचम मे न मिला कर अन्य स्वर में मिलाने की भी कभी-कभी आवश्यकता प्रतीत होती है। मारवा थाट से निर्मित पूरिया, मारवा, तथा सोहनी आदि रागो मे प वर्जित माना जाकर शुद्ध म के स्थान पर तीव्र मध्यम प्रयुक्त होता है। ऐसी अवस्था में प़ सा सा सा़ स्वर-योजना मारवा, पूरिया तथा सोहनी आदि

राग-गायन में खटकती रहती है, इसलिए प सा सा सा के स्थान पर तंबूरे की स्वर-योजना नि सा सा सा की जाती है। पूरिया में तो नि बहुलता से विचरण करने वाला स्वर होने के कारण पूरिया के स्वरालाप में यह योजना समन्वयात्मक ही केवल प्रतीत नही होती है, अपितु मधुर संवेदनात्मक अनुभूति भी सर्जित करती रहती है। मारवा तथा सोहनी में निषाद का स्थान पूरिया की अपेक्षा गौण होने के कारण कभी-कभी निसासासा यह स्वर योजना कानो को खटके बिना नही रहती, व ऐसी स्थिति में निसा सा सा के स्थान पर तंबूरे में सा सा सा सा की स्वर-योजना व्यवस्थित की जाती है। नि सा सा सा की यही योजना हिंडोल जैसे रागों में भी खटकती है, इसलिए वहां पर भी सा सा सा सा की स्वरयोजना रखी जाती है। प्रयोगात्मक रूप में कभी-कभी इन रागों के गायन में ग सा सा सा की स्वरयोजना का प्रयोग भी किया जाता है, किन्तु ग मा सा सा की अपेक्षा ग स स सा स्वरयोजना कम लाभदायक सिद्ध हुई है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि तंबूरे के तारों को मिलाने की प सा सा मा २ म सा गा सा ३ सा मा सा सा तथा नि सा सा सा स्वरयोजनाएं अधिक उचित एवम् लाभकारी प्रतीत हुई है। अतः राग में प्रयुक्त होने वाले स्वरो की स्थिति को दृष्टिगत रखकर ही उक्त स्वर-योजनाओं में से उपयुक्त स्वरयोजना का चुनाव करना राग-रंजकता के लिए श्रेयस्कर है। इस तथ्य की ओर उचित ध्यान देना आवश्यक है।

स्वर-संवाद तथा रागोचित स्वर-समन्वय के तत्व पर आधारित तंबूरे की स्वरयोजना के खरज से जिस प्रकार स्वयंभू गाधार के स्वर की अनुभूति होती है, उसी प्रकार सप्तक के अन्य शुद्ध स्वरों की भी स्वय-निर्मित की संभावना व्यक्त की जा सकती है। क्योंकि स्वर संवाद तत्व ही इस स्वरयोजना का आधार है। पंचम की ध्वनि को षड्ज माना जाये तो जोड़ी की ध्वनि में मध्यम स्वर की ध्वनि मिलती है। मध्यम स्वर के उसी ध्वनि का चतुर्थ अर्थात् षड्ज मध्यम भाव के अभिभूत माना जाकर ऋषभ ध्वनि के निमित्त की संभावना होती है। स्वयंभू गांधार मूल रूप में ध्वनित होता ही रहता है। इस प्रकार सारे गम पध तथा नि' सपूर्ण सात स्वरों के निर्माण की सभावना तबूरे के प सा सा सा स्वर-योजना में विद्यमान रहती है।

इसी प्रकार यदि स्वयंभू गांधार को षड्ज माना जाये तो जोड़े के तारों की ध्वनि मंद्र सप्तक के कोमल धैवत की होगी। उस कोमल धैवत के स्वर-संवदन में ध ग ध रे का स्वर-संवदन संभाव्य माना जाता है। इसी प्रकार मूर्छना तत्व के अनुसार षड्ज कल्पित करके अन्य विकृत स्वरो के स्वर-सवाद भी संभाव्य माने जा जा सकते हैं।

तात्पर्य यह है कि स्वर-संवाद-तत्व पर आधारित इस चतुःतंत्री वीणा अर्थात् तंबूरे की प् सा सा सं स्वर योजना में सात शुद्ध तथा पांच विकृत स्वरो की निर्मित सैद्धान्तिक दृष्टि से सभव है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इस तथ्य को परखना श्रवणेन्द्रियों की सूक्ष्मतम क्षमता पर ही निर्भर है, इसे नकारा नही जाना चाहिए। अतः संगीत में श्रवण एक महत्वपूर्ण तथा श्रेयस्कर तत्त्व है, इसे निर्विवाद रूप में स्वीकार किया जाता है।

तबला :—

तबला अवनद्ध वाद्यों में से एक वाद्य है। अनेक अवनद्ध वाद्यों का बुद्ध-काल में उल्लेख मिलता है। डिम्डिम्, डमरू, दुर्दुर, आडम्बर आदि अनेक अवनद्ध वाद्य उस काल में प्रचलित थे। कहते हैं कि अमीर खुसरों ने तबले का आविष्कार किया था। किन्तु तबला प्राचीन वाद्यों का ही परिवर्तित रूप है। संगीत में परिवर्तन के साथ-साथ अवनद्ध वाद्यों में भी आवश्यकतानुसार परिवर्तन होता गया है। मध्यकाल में शास्त्रीय संगीत के ध्रुवपद गीत-प्रबंध के साथ मृदंग अथवा पखावज अवनद्ध वाद्य के वादन का प्रचलन था। शास्त्रीय संगीत में जब ख्याल नामक गीत-प्रकार प्रचलित हुआ तब तबला तथा बायी अथवा डग्गा उस गीत-प्रबंध के साथ बजाया जाने लगा। कहते हैं सुधार खां ने क्रोधवश पखावज के टुकड़े किये व तबला व डग्गा इन दो भागों का उपयोग करने की प्रणाली प्रारंभ की। उक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि तबला व डग्गा प्रचलन ख्याल नामक शास्त्रीय गीत-प्रबंध के साथ-साथ हुआ है, जिसका समय ११वीं शताब्दी माना जाता है।

इस वाद्य को तबला कहा जाता है किन्तु इसमें दो विभिन्न प्रकार के उपकरण तबला तथा डग्गा अथवा दायां बायां उपयोग में आते हैं। साधारणतया उक्त दो उपकरणों को सामने रोकते समय तबला दायी ओर व डग्गा बायी ओर रखा जाता है। इसी कारण तबला डग्गा के स्थान पर इसे दायां बायां भी कहा जाता है और इन दोनों उपकरणों का समाविष्ट नाम तबला प्रचलित हो गया है। उक्त दोनों अंगों की बनावट में भिन्नता होती है, जिसके कारण दोनों के ही आकार प्रकार में भिन्नता स्पष्ट दिखाई देती है।

तबला-डग्गा

१. खोड़ :—जिसका अंग खोड़ प्रायः बीजासार, शीशम, खैर, आम, बबूल, नीम आदि वृक्षों के बड़े तने से बनाया जाता है। उपयुक्तता तथा मजबूती की दृष्टि से बीजासार तथा शीशम के वृक्ष का खोड़ सर्वोत्तम माना जाता है। इसके निचले

हिस्से का घेर अधिकतर ८½ इंच होता है। तथा नीचे से ऊपर की ओर जाते समय इसका घेर कम होता जाता है और ऊपर की चौड़ाई का घेर अधिकतर ७ इंच कम से कम ३½ इंच होता है इसकी ऊँचाई ६ इंच से १२-१४ इंच तक होती है। इसके खोड़ का ऊपरी घेर जितना अधिक होगा उतना ही तबला निम्न स्वर में (Pitch) बोलेगा व घेर की चौड़ाई जितनी कम होगी उतनी ही इसकी स्वर-उच्चता अधिक होगी। इस खोड़ को तबले के उपयुक्त मानने हेतु यह देखा जाता है कि खोड़ की लकड़ी में गांठें तो नहीं हैं। खोड़ की लकड़ी में गांठ हो तो उपयुक्त तथा मजबूती की दृष्टि से उसे निम्न श्रेणी का खोड़ माना जाता है। इस खोड़ को अन्दर से खोखला कर अन्दर का खुरदरापन कम करने का प्रयास किया जाता है। अर्थात् खोड़ का वाह्य भाग तथा अन्तर भाग जितना अधिक साफ व मुलायम होता है, उतना ही उसे अधिक उपयुक्त माना जाता है।

२. पुडी :—खोड़ के ऊपर का मुख जिसके द्वारा आच्छादित किया जाता है उसे पुडी कहते हैं। यह पुडी चमड़े की बनी हुई होती है। अनेक पशुओं के चमड़े को स्वच्छ करके उसे पूर्ण रूप से कमाया (Tarned) जाता है। सम्पूर्णतः स्वच्छ व कोमल चमड़े को पुडी के योग्य माना जाता है। अधिकतर बकरी के चमड़े का इस कार्य हेतु उपयोग किया जाता है। पूर्ण रूप से केशरहित, पतली तथा कोमल पुडी सर्वोत्तम समझी जाती है। इसका घेर खोड़ के ऊपर के खुले हुए मुख के आकार पर निर्भर करता है, क्योंकि खोड़ के ऊपर के खुले हुए मुख को पुडी द्वारा आच्छादित किया जाता है।

३. स्याही :—पुडी के मध्य भाग में काले गोलाकार को स्याही कहते हैं। यह एक विशिष्ट प्रकार से तैयार किया हुआ मसाला होता है जिसे वर्तुलाकार रूप में पुडी पर पक्का जमाया जाता है। इसके द्वारा ही तबले में से उपयुक्त अक्षरों की नाद ध्वनि स्पष्ट तथा मधुर बजती है। स्याही का व्यास लगभग १½ से २ इंच होता है।

४. चाटी :—पुडी के सम्पूर्ण घेर के ऊपरी किनारे पर पतली सी १½ इंच की चौड़ाई वाली चमड़े की पट्टी पुडी बनाते समय ही लगाई जाती है, जो पुडी के ही अंग में समाविष्ट होती है। चाटी इस वाद्य में एक पारिभाषिक शब्द है तथा इसका वादन में प्रमुख रूप से उपयोग किया जाता है। इस कारण इसे पृथक रूप में 'चाटी' की संज्ञा दी गयी है। वस्तुतः चाटी एक पुडी का ही अंग माना जाता है।

५. लव :—पुडी की ऊपरी सतह पर स्याही तथा चाटी के मध्य का जो क्षेत्र शेष दिखाई देता है उसे लव कहते हैं।

६. गजरा :—यह भी एक पुडी का ही भाग है तथा चाटी के निचले सम्पूर्ण

गोलाकार के रूप में गुंथा हुआ होता है। चाटी से जुड़ी हुई यह वस्तु चमडे के बने हुए गजरे के समान दिखाई देती है। चाटी, गजरा तथा स्याही, ये पुडी के अंग माने जाते हैं, किन्तु तबला-वादन में तीनों ही वस्तुओं का उपयोग भिन्न-भिन्न प्रकार से किये जाने के कारण तीनों ही परिभाषिक शब्दों का अपना अपना महत्व है।

७. वद्दी अथवा वादी :—यह चमड़े की पतली सी पट्टी होती है। इस चमड़े की पतली पट्टी से पुडी को ऊपर के गजरे मे से कसा जाता है जिससे खोड़ के ऊपर का पुडी द्वारा आच्छादित मुख पूर्ण रूप से वन्द हो जाता है। वद्दी अथवा वादी को पूर्ण रूप से कसा जाकर तबले के खोड़ के तले मे जो चमड़े का छोटा सा गजरा होता है, उससे गूंथा जाता है। वादी के स्थान पर किसी-किसी समय सूत की रस्सी नुमा डोरी का भी इस कार्य हेतु उपयोग किया जाता है।

८. गुडरी :—यह खोड़ के तले मे चमड़े की पतली पट्टी द्वारा गुंथी हुई लगभग ४ इंच व्यास की गजरे जैसी वस्तु होती है। पुडी से सटे हुए ऊपर के गजरे में से होती हुई वादी को इस गुडरी के छिद्रों में कसा जाता है, जिससे पुड़ी पूर्ण रूप से कसी हुई प्रतीत होती है। गुडरी के आधार पर तबले का खोड़ जमीन पर टिका हुआ रहता है।

९. गट्टे :—यह लगभग २½,३ इंच लम्बे तथा १ इंच मोटे लकड़ी के गोल टुकड़े होते है। इन्हें वद्दी या वादी व खोड़ के बीच फंसाया जाता है। वादी की चार चार पट्टियों के बीच एक-एक गट्टा फंसाया जाता है। तबले की ध्वनि उच्च करनी हो तो गट्टों को हथोड़ी से ऊपर से नीचे की ओर आघात किया जाता है व तबले की ध्वनि नीची करनी हो तो गट्टे को हथौड़ी द्वारा नीचे से ऊपर की ओर कोमल आघात दिया जाता है।

१०. हथौड़ी :—इस उपकरण से प्राय: सभी व्यक्ति परिचित है। इसका डंडा कभी-कभी लकड़ी का होता है व आघात देने वाला एक लोहे का गट्टा होता है। हथौढ़ी से स्वर मिलाने हेतु गट्टों को आघात दिया जाता है। तबला-वादक अधिकतर पीतल या निकल की हथौड़ी का इस कार्य हेतु उपयोग करते हैं।

डग्गा इसे अच्छी मिट्टी से गोलाकार अर्ध मटकी जैसा बनाया जाकर ऊपर का मुख खुला हुआ रखा जाता है।

आज मिट्टी के अर्ध मटकी के आकार के स्थान पर तांवा या पीतल या निकल के अर्ध मटकी के आकार के डग्गे का अधिकतर उपयोग किया जाता है। मजबूती की दृष्टि से धातु से बने हुए डग्गे या वायें उचित समझे जाते है, किन्तु मिट्टी के बने हुए डग्गे ध्वनि की दृष्टि से अधिक उपयुक्त माने जाते है।

डग्गा या वायां के पुडी, गजरा, स्याही, चाटी, लव, वादी, गुडरी आदि अंग

तवला-वर्णन के साथ पूर्व में बताये गये हैं।

तबला मिलाने की विधि:—तवले की पुडी के छोटे या बड़े घेरे एवं पुडी के तनाव पर तबले की उच्चानुच्च ध्वनि निर्भर करती है। इसी तथ्य के अनुसार तवला षड्ज, मध्यम, पंचम, तार-सप्तक के षड्ज (टीप) आदि स्वरों में मिलाया जाता है। अधिक घेरे वाले तबले का षड्ज में मिलाना चाहिए तथा षड्ज के स्वर के तवले की अपेक्षा कम घेरे वाले तवले को मध्यम-पंचम स्वर में मिलाना चाहिए। मध्यम-पंचम तवले के घेरे की अपेक्षा अतीव छोटे घेरे के तवले का तार-सप्तक के षड्ज (टीप) स्वर में मिलाना चाहिए।

तवले की ध्वनि-उच्चता को निर्धारित ध्वनि-उच्चता से मिलाने हेतु सर्व प्रथम यह देखना चाहिए कि तवले की ध्वनि व निर्धारित ध्वनि में उच्चानुच्चता की दृष्टि से क्या भेद है? तबले की ध्वनि निर्धारित ध्वनि से अधिक निम्न स्तर की हो तो तवले व वादी में फंसे हुए गट्टों को हथौड़ी द्वारा निर्धारित ध्वनि-स्तर तक लाना चाहिए। ऐसी प्रक्रिया में वायें हाथ से गट्टे को आघात करके दायें हाथ की मध्यमा तथा तर्जनी से पुड़ी को कोमलता पूर्वक बजाकर, ध्वनि-वादन एक ही उच्च स्वर का हो रहा है या नही, यह सुनते रहना चाहिए। उक्त ध्वनि में अधिक अंतर न हो तो हथौड़ी को ऊपर की पुडी से सटे हुए गजरे पर कोमलता से इतना ही आघात करना चाहिए कि तवले की ध्वनि निर्धारित ध्वनि के स्तर पर आ जाये। निर्धारित ध्वनि-स्तर तथा तवले का ध्वनि-स्तर एक समान होने की यह परख समझी जाती है कि चाटी, मैदान, स्याही आदि भागों में से संपूर्ण रूप से एक ही ध्वनि-स्तर सुनाई दे। सूक्ष्मतम ध्वनि-अंतर भी गायन-वादन में खटकता रहता है, जिससे गायक वादक की स्फूर्ति को आघात लगता रहता है, जिससे उनके मन की एकाग्रता भंग होती रहती है। अतः सूक्ष्मतर अंतर को मिटाने हेतु व पूर्ण रूप से तवला मिलाने हेतु तवला-वादक को उत्कृष्ट स्वर ज्ञान होना चाहिए।

तवले के द्वितीय अंग डग्गा या वायां को मिलाने की विधि भी तवले के अनुसार ही समझनी चाहिए। डग्गे की ध्वनि अधिकतर तवले के षड्ज स्वर से एक सप्तक निम्न स्तर पर रखी जाती है। वायें पर वायें हाथ से "घुमक' तथा 'गूंज" निकालने हेतु वायां पूर्णरूप से कसा हुआ होना चाहिए।

तवला-वायें पर निकलनेवाले धा, धि, ता, ती, ग, क, ना, तिरकिट, तृक, क्डान् ध्डान् तथा त्ता आदि अक्षर होते हैं जिन्हें ठेके, कायदे, बोल, परन, रेला मुखड़े तथा टुकड़े आदि वादन प्रकारों मे वजाया जाता है। धा, धी, तिरकिट, तृक क्डान तथा आदि अक्षर तबला तथा वाया दोनों की ध्वनियों के समन्वय से निर्मित किये जाते है और ता, क, ती, ना, तथा त्ता आदि अक्षर केवल तवले की ध्वनि से रचित

किये जाते हैं।

तबला-वादन, गायक-वादक के साथ साथ संगति के अतिरिक्त, स्वतंत्र रूप में भी किया जाता है। नृत्य के साथ अधिकतर मृदंग या पखावज की सगति की जाती है, किन्तु वर्तमान में नृत्य के साथ तवले की संगति भी दिखाई देती है। संगति के रूप में तबला-वादन तथा तबले का स्वतंत्र वादन, ये तबला-वादन के दो भिन्न पक्ष हैं। प्रथम पक्ष में तबला-वादक को गायक वादक तथा नर्तक के गायन, वादन तथा नर्तन के साथ-साथ समन्वय स्थापित रखते हुए वादन करना पड़ता है। जबकि दूसरे पक्ष मे उसे स्वतंत्र रूप में शास्त्रानुसार वादन-कौशल दिखाना होता है।

स्वतन्त्र-वादन एवं संगत-वादन दोनों अंगों के आज अनेक तबला-वादक हैं, जिनकी गुरु परम्परा प्रसिद्ध घरानेदार गुरुओं से आज भी चली आ रही है। दिल्ली घराना, पूरब घराना, (लखनऊ), पूरबा घराना (फरुखाबाद), अजराड़ा घराना, बनारस घराना, पंजाब घराना, आदि अनेक तबला-वादन के घराने है। उक्त घरानों की महान् विभूतियों की कठिन तपस्या का यह फल है कि आज तबला-वादन अपनी अपनी स्वतंत्र परम्परा भी स्थापित कर सका है।

बेला या वायोलिन (Violin)

रामायण-काल में प्रचलित और पुराणों में उल्लिखित हस्तस्कंध वीणा से इस वाद्य का संबंध जोड़ना अनुचित नही होगा। कहते है कि रावण एक कुशल तथा निपुण संगीतज्ञ था, हस्तकंध वीणा उसका प्रिय वाद्य था, जिसे गज जैसी किसी वस्तु से ही वह बजाता था। बेला, फिडल या वायोलिन आदि पाश्चात्य संज्ञाओं से ऐसा लगता है कि यह वाद्य पश्चिम से भारत मे आया। उक्त कथन किसी अर्थ मे इस दृष्टि से उचित माना जा सकता है कि आज वायोलिन का जो रूप है उसका प्रचार वर्तमान काल में भारत की अपेक्षा पश्चिम में पहले हुआ, जिसके कारण उसकी बनावट तथा आकार का श्रेय पश्चिम को जाता है। किन्तु पौराणिक हस्तस्कंध वीणा का संशोधित तथा परिवर्तित रूप ही वायोलिन है, यह कहना अनुचित नही होगा। वर्तमान में इस वाद्य को भारतीय सगीत में संगति के वाद्य के अतिरिक्त स्वतंत्र-वादन-वाद्य के रूप में भी अपनाया गया है। दोनों ही क्षेत्रों में आज अनेक वायोलिन-वादक कलाकार निपुण एवं श्रेष्ठ श्रेणी के समझे जाते हैं। अतएव इस स्थिति को देखते हुए यह स्वीकार करना पड़ता है कि वायोलिन संज्ञा पश्चिमी होते हुए भी उसने भारतीयता अपना ली है।

इस वाद्य मे वादन की दो विभिन्न शैलियां मानी जाती हैं। प्रथम गायन शैली तथा द्वितीय गत शैली। ख्याल अंग से, मीड, मुरकी, आलाप तथा तान आदि प्रकारों का दिग्दर्शन जिस वादन के द्वारा होता है उसे गायन-शैली कहते हैं। गत शैली में

उक्त अंगों का प्रदर्शन गौण रहता है व गज के माध्यम से झाला, कंपन, तानें तथा गमक आदि बजाये जाते हैं जहां गज प्रक्रिया, (Bawring) प्रमुख होती हैं। दोनों ही शैलियां अपने अपने स्थान पर स्वतन्त्र और श्रवणीय होती है।

वायोलिन के विशिष्ट अंगों का वर्णन

१. वेली (Body) इसे इस वाद्य का शरीर कहते हैं। यह पतली प्लाय वुड (Ply-Wood) का वना हुआ होता है और इसका अन्तर्भाग पोला होता है।

२. रिब्ज :—उक्त शरीर(Body) के चारों ओर प्लायवुड के अनेक पतले टुकड़ों से वेली व रिब्ज का जोड़ किया जाकर अन्तर्भाग को खोखला अर्थात् पोला बनाया जाता है।

३. गर्दन(Neck) लकड़ी की पतली तथा लम्बी सी छोटी डांड होती है, जिसके ऊपर से तार बेली की ओर गये हुए दिखाई देते हैं।

४. घोड़ी या घुरच (Bridge) :—यह हाथी दांत या लकड़ी की वनी होती है, इसे वेली पर स्थिर किया जाकर इस पर से वाद्य के तार ऊपर को ओर बांधे जाते हैं।

. टेल पीस (Tail-Piece) लकड़ी की छोटी सी लगभग डेढ़ इंच से २ इंच की तिकोनी पट्टी होती है, जिसमें चार बांधे जाते है।

६. अेडजस्टर्स (Adjusters टेलपीस के चार छिद्रों में जो चार तार बांधे गये हैं, उनमें से प्रत्येक तार पर एक पेच होता है (screw) होता है। इनका तार ध्वनि की उच्चानुच्चता के नियन्त्रण हेतु इनका उपयोग किया ज़ाता है। अेडजस्टर कसने से तार की ध्वनि उच्च होती है व उसे ढीला करने से तार की ध्वनि नीची होती है।

७. बटन End·Piece) वेली के निम्न भाग में टेलपीस से सटी हुई एक लकड़ी के गोलाकार बटन जैसी वस्तु होती है, जिसमें टेलपीस को तांत द्वारा बांधा जाता है अक ७ पर वटन निर्देशित हैं।

८. साउंड होल्स (Sound holes) वेली अथवा वाद्य के शरीर पर घोड़ी के दोनो ओर "एफ" अक्षर के समान दो छिद्र होते हैं। इन 'एफ' के आकार के सुराखों को साउंडहोल्स कहते हैं। इन साउंड होल्स द्वारा वादन की ध्वनि प्रस्तारित होती रहती है।

९ साउंड पोस्ट (Sound Post) वेली या रिब्ज के पोल में घोड़ी के नीचे डेढ़ इंच की एक गोलाकार लकड़ी लगी रहती है जो खूंटी के समान खड़ी हुई साउड होल्स में से देखी जा सकती है। वादन की ध्वनि वेली व रिब्ज के पोल मे छूती

रहती है और उस साउंड पोस्ट पर आघात करती हुई बाहर की ओर प्रसारित होती रहती है। साउंड पोस्ट वादन की मधुरता-निर्माण में सहायक होती है।

१०. चिन रेस्ट (Chin rest) यह एक लकड़ी तथा धातु का मिश्रित टुकड़ा होता है जो बेली व ब्रिज से सटा कर कसा जाता है। इस पर वादक अपनी ठुड्डी रख कर वादन करते रहते हैं।

११. फिंगर बोर्ड (Finger board) लकड़ी की बनी हुई ४ से ५ इंच लम्बी डांड होती है। इसकी ऊपर की सतह किंचित् उभरी सी लगती है। इस उभरी सतह पर से चारों तार घोड़ी की ओर जाते हुए दिखाई देते हैं। इसी बोर्ड पर अंगुलियों द्वारा तार दबाये जाकर वादन किया जाता है।

१२. पेग बॉक्स (Peg-Box) यदि वाद्य को बजाने के ढंग से अपने हाथ में लें तो उसके निचली ओर की डांड के दोनों बाजुओं में चार खूंटियां, प्रत्येक बाजू पर २/२, लगी रहती हैं, जिनमें प्रत्येक में से एक-एक तार पिरोया जाता है। ये सब तार फिंगर बोर्ड से होते हुए बटन पर बांधे जाते हैं। खूंटियां स्थिर करने का यह स्थान अन्दर से पोला होता है। इसी स्थान को पेग बॉक्स कहा जाता है।

१३. खूंटियां :—पेग-बॉक्स के दोनो ओर के छिद्रों में २/२ खूंटियां लगायी जाती है। प्रत्येक खूंटी में एक छिद्र होता है, जिसमें से तार पिरोया जाकर बटन की ओर ले जाकर बांधा जाता है।

१४. तार (Wires) इस वाद्य में चार तारों की आवश्यकता होती है। प्रथम तीन तार सिल्वर के होने चाहिए, किन्तु वास्तव में तीनों ही तार मूलत: फौलाद या एल्यूमिनियम के ही होते हैं, जिन पर चांदी के बारीक तारों की परतें दी जाती हैं, ये परतें मशीन द्वारा इतनी सफाई से लगायी जाती हैं कि एकदम से दिखाई नही देती हैं। प्रथम तार अन्य तीन तारों की अपेक्षा कुछ मोटा होता है, इस पर मद्रसप्तक के स्वर बजाये जाते हैं, इसलिए इन तारों की मोटाई प्रथम तार की अपेक्षा कम होनी आवश्यक है।

१५. गज (Bow) इसमें लगभग दो अढ़ाई फीट लम्बी लकड़ी कीं एक छड़ी है, जिनमें बाल बँधे हुए हैं। ये बाल घोड़े की पूंछ के होते हैं, जिन्हें छड़ी के दोनों ओर इस प्रकार कसा जाता है कि बाल तथा छड़ी में १/२ इंच का अन्तर स्पष्ट दिखाई दे। घड़ी के एक ओर एक स्क्रू लगा रहता है जिसके द्वारा ये बाल वांछित रूप में कसे जाते हैं या ढीले किये जाते हैं। इस स्क्रू की ओर एक नट होता है जिसमें यह बाल फंसाये जाते हैं। नट व स्क्रू के स्थान से किंचित् दूरी पर गज को पकड़ने का स्थान होता है जिसे हेड (Head) कहते हैं। हेड, नट, स्क्रू, छड़ी तथा बाल ये गज के ही विभिन्न भाग हैं। इन्ही की सहायता से गज (Bow) बनाया जाता है।

उपयोग करने से पूर्व रोजिन (Rosin) या विरोजा पर गज के बालों को कोमलता से तीन चार बार घुमाया जाता है जिससे गज के वाल साफ हो जाते हैं व बजाने में सुविधा होती है। रोजिन के स्थान पर राल भी उपयोग में ली जाती है। रोजिन पर गज के वालों को घुमाने से वादन की ध्वनि में मधुरता भी आ जाती है।

वायोलिन के तार मिलाने की विधि :—भारतीय वायोलिन-वादक इसके चार तारों को तीन प्रकारों से मिलाते हुए पाये जाते हैं।

१. प़, सा, प सां क्रम से चार स्वरों में चारों तार,
२. प़, सा, प' रें क्रम से चार स्वरों में चारों तार और
३. सा, प, स, प क्रम से चारों तार मिलाये जाते है।

अन्तिम दो प्रकार विशेष प्रचलित नहीं है। अधिकतर भारतीय वायोलिन-वादक प्रथम प्रकार से ही चारों तार मिलाकर वादन प्रस्तुत करते हुए पाये जाते हैं।

दायें हाथ से गजा के वालों को तार पर कोमलता से घुमाया जाता है और बायें हाथ की अंगुलियों का उस तार के उचित स्थान पर कोमल दबाव देकर वांछित स्वरध्वनि निर्मित की जाती है। यह एक मधुर तथा लोकप्रिय वाद्य है ।

(बांसुरी) (Flute)

तत्, वितत्, घन तथा सुषिर, इन चार प्रकार के वाद्यों में वांसुरी सुषिर वाद्य माना जाता है। सुषिर अर्थात् हवा के माध्यम से वांछित स्वर-निर्माण किये जाते हैं। जिस वाद्य में हवा के कम-अधिक परिमाण से वांछित स्वर ध्वनि निर्मित की जाती है उसे सुषिर वाद्य अथवा फूंक से बजने वाला वाद्य कहते हैं। वांसुरी (Flute) सुषिर वाद्यों में प्राचीन तम मधुर तथा लोकप्रिय वाद्य है। द्वापर -युग के महाभारत-काल में श्रीकृष्ण द्वारा इस वाद्य का अति कुशलतापूर्वक प्रयोग किया गया था, ऐसा अनेक पुराणों में कथित है। इसके वेणु, वंशी, वांसुरी, मुरली आदि अनेक पर्याय पाये जाते हैं। वैदिक काल मे साम-गायन के साथ 'वेणु-वादन' का उल्लेख हुआ है।

भरत-नाटचशास्त्र में वंशी, वेणु, मुरली, आदि नामों का उल्लेख है। वंशी संज्ञा "वंश" अर्थात् वाँस से बनी हुई होने के कारण सार्थक प्रतीत होती है। वंशी का अपभ्रष्ट रूप वाँसुरी है।

बाँसुरी वांस के पोले तथा बिना गांठ के टुकड़े से बनायी जाती है। आज वांस के स्थान पर लकड़ी, पीतल, लोहा तथा अन्य धातुओं से इसे बनाया जाता है। लोहे से बनी हुई वांसुरी जैसे वाद्यको आज "अल गूजा" भी कहते हैं जिसका उपयोग महाराष्ट्र तथा मध्यप्रदेश में अनेक कीर्तन कारों के कीर्तनो मे होता है। वांसुरी

की लम्बाई १ से १ १/४ फीट होता है और इसका पोला घेरा लगभग ३/४ से १ इंच रखा जाता है। आज बांसुरी की लम्बाई २ १/४ से २ १/२ फीट तक तथा घेरा १ से १ १/४ इंच तक पाया जाता है। इस परिवर्तित वाँसुरी-वादन का प्रचार स्व० पन्नालाल घोष ने किया व बांसुरी-वादन को अति लोकप्रिय भी बनाया। बाँसुरी में ६ छिद्र होते हैं; मंद्र, मध्य तथा तार तीनो ही सप्तकों के संपूर्ण १२ स्वर इन्ही छिद्रों द्वारा उचित फूंक के द्वरा सर्जित होते हैं।

भरत-नाटयशास्त्र में इस सुषिर वाद्य-वादन के संबंध में बताया गया है कि मुख द्वारा वांसुरी के मुख में हल्के या जोर से फूंक लगने पर स्वर-ध्वनियों में परिवर्तन किया जाता है। इसी प्रकार अंगुलियों से छिद्रों को पूरा वंद करके या आधा वंद करके फूंक-नियन्त्रण द्वारा भी स्वर-ध्वनियों में परिवर्तन किया जाता है। भरत मुनि ने चतु: श्रुतिक सा, म, प, त्रिश्रुतिक रे, ध तथा द्वि श्रुतिक ग नि आदि संपूर्ण सात स्वरों के वाँसुरी पर वजाये जाने की विधि के अतिरिक्त विकृत स्वर वजाने की विधि का भी स्पष्टीकरण किया है।

भरत मुनि के अनुसार वेणु-वांसुरी-पर सात शुद्ध स्वरों को वजाने की विधि:—

१. वक्त मुक्ताङ्गलि :—मुक्त अंगुलियों से छिद्रों को संपूर्ण रूप से खोलने से फुंक द्वारा चतु: श्रुतिक सा म प स्वर-ध्वनियां निर्मित होती हैं।

२. कम्पमान अंगुलि :—उचित फूंक देकर छिद्रों पर कम्पित अंगुलियां दे कर त्रिश्रुतिक रि तथा ध स्वरध्वनियाँ सर्जित की जाती हैं।

३. अर्थ मुक्ताङ्गलि :—वेणु के छिद्रों को आधा खुला रखने से अर्थात् अंगुलियों से उन्हें आधा वंद करने से उचित फूंक द्वारा द्विश्रुतिक स्वर ग तथा नि का निर्माण किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वांसुरी-वादन को प्राचीन आधार प्राप्त है।

वांसुरी-वादन की आधुनिक विधि :—

वाद्य को उसके मुख की ओर से अपने मुख पर रख कर प्रथम तीन छिद्रों पर वायें हाथ की तीन अंगुलियां रखें तथा दाये हाथ की तीन अंगुलियाँ शेष तीन छिद्रों पर रखें। इन पहले छिद्रों को अच्छी प्रकार वंद रखें। यदि कोई भी छिद्र किंचित् खुला रहे तो वाँछित ध्वनि के अतिरिक्त अन्य ध्वनियों का निर्माण हो सकता है। अत: सव छिद्र संपूर्णत: वंद हों, इसका ध्यान रखें। सव छिद्रों के वंद होने पर मुख द्वारा फूंक लगायी जाने पर वाद्य में से मंद्र सप्तक के पंचम की ध्वनि का निर्माण होगा। इसके पश्चात् नीचे के क्रम में एक एक छिद्र खोलने पर क्रमश: ध़ नि़ सा रे ग म स्वरधनियां निर्मित होंगी। उक्त स्वरों में मध्यम स्वरों में मध्यम स्वर

तीव्र (विकृत) होगा। मध्यम स्वर के छिद्र का आधा भाग खुला रखने से शुद्ध अथवा कोमल मध्यम स्वर रचित होगा। अन्य विकृत स्वर रे॒, ग॒, ध॒, तथा नि॒, इसी प्रकार आधे छिद्रों को बंद करके उचित फूंक द्वारा निर्मित किये जाते हैं।

वांसुरी को सुषिर वाद्य कहा गया है। इसी कारण इस वाद्य की वादन-क्रिया संपूर्ण रूप में फूंक पर ही निर्भर करती है। पूर्वोक्त कथन से यह स्पष्ट है कि प़ ध़ नि़ सारे गमं स्वर बिना कठिनाई के निर्मित किये जाते हैं किन्तु मद्र, तार-सप्तक तथा विकृत, शेष स्वर ध्वनियां भी केवल फूंक पर ही निर्भर करती हैं। तंत्र-वाद्यों में से कतिपय वाद्यों में परदों की सहायता से वादन सुगम होता है, तथा शेष तंत्र-वाद्यों में मंद्र, मध्य व तार के नाद-स्थानों के विशिष्ट संकेत होने से तीनों ही सप्तकों में वादन-विधि सुनियोजित होती है वितत् वाद्यों (तबला, मृदंगादि) की अपनी स्वतन्त्र तथा भिन्न वादन-शैली है। किन्तु वांसुरी-वादन तत् तथा वितत् वाद्यों की अपेक्षा अधिक कठिन है, क्योंकि इसमें परदो के स्थान पर छिद्र हैं और छिद्र भी केवल छः ही हैं इस कठिनाई के अतिरिक्त अन्य कठिनाई यह भी है कि मंद्र, तार आदि नाद-स्थानों का भी स्पष्ट संकेत इस वाद्य में नहीं है। उक्त तथ्यों को देखते हुए यह स्पष्ट है कि वांसुरी-वादन सीमित साधनों, उचित फूंक तथा उचित श्वास-नियन्त्रण, पर ही निर्भर है। उचित फूंक तथा उचित श्वास-नियन्त्रण के तत्व पर आधारित वांसुरी-वादन एक कठिन संगीत शैली है। शास्त्रीय शुद्ध कौशलयुक्त तथा मधुर वांसुरी-वादन हेतु उच्च स्तर के सूक्ष्म स्वर-ज्ञान की आवश्यकता है। क्योंकि वांसुरी वादन संपूर्ण रूप से गायन-शैली का वादन है।

सितार

इस वाद्य के आविष्कारक के सम्बन्ध में अनेक मत पाये जाते हैं। वैदिक काल में एक तंत्री, द्वितंत्री तथा त्रितंत्री आदि वीणाओं का प्रचलन था। टर्की के इस्तबुल पुस्तकालय में अरबी की एक पुस्तक में एक वाद्य का वर्णन मिलता है जिसमें तूम्बे के स्थान पर बकरी की खाल मढ़ी जाने का संकेत है और सात तार होने का भी उल्लेख मिलता है। गुप्तकाल के समुद्र गुप्त, जिन्हें राजा विक्रमादित्य कहा जाता है, स्वयं सितार जैसे वाद्य के कलाकार थे। वर्तमान सितार में सात तार होने का संकेत गुप्तकाल से ही मिलता है, यह कहना अनुचित नहीं माना जा सकता है। तेरहवी शताब्दी में अमीर खुसरो ने उक्त वाद्य में बकरी की खाल के स्थान पर अलाबू अर्थात् तुम्ब फल-तूम्बा लगाया, यह माना गया है। किसी का मत है कि सितार 'सहतार' का अपभ्रंश है फारसी में सेह का अर्थ तीन होता है और तीन तार वाला वाद्य होने के कारण इसे सेहतार कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि गुप्त काल में प्रचलित तथा मध्यकाल मे परिवर्तित रूप में प्रचलित जो वाद्य रहा है, वह सितार

ही है, यह मानना ही उचित होगा।

सितार के रूप संशोधन तथा परिवर्तन करने एवम् इसके वादन-वैशिष्ट्य का प्रचार करने का श्रेय राजस्थान में जयपुर के विद्वान अमर सेन को तथा उनके पौत्र निहालसेन को दिया जाता है। इस घराने के अन्तिम तंत्रकार अमीर खां माने जाते हैं। इनी शिष्य-परम्परा में इमदाद खां उनके सुपुत्र इनायत खां सुप्रसिद्ध इनायत खां के पुत्र विलायत खां विख्यात सितार वादकों में से एक है। अतएव सितार-वाद्य तथा उसके वादन-वैशिष्ट्य को सेन घराने का एक विशेष योगदान है।

इस वाद्य में परदे (सुन्दरियां कहने की भी प्रथा है) होने के कारण यह वादन हेतु सरल वाद्य माना जाता है किन्तु लगभग १५/२० वर्ष के अखण्ड अभ्यास से ही इसमें निपुणता प्राप्त की जा सकती है। हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के तंतु-वाद्यों में सितार सर्वश्रेष्ठ व अति लोकप्रिय वाद्य माना जाता है। इस वाद्य की बनावट में मुनतान में निर्मित तून की लकड़ी का अधिक प्रयोग किया जाता है। तून की लकड़ी के स्थान पर सागवान की लकड़ी भी प्रयोग में लायी जाती है। सागवान मजबूती की दृष्टि से उपयुक्त होता है व तून मजबूती, हल्कापन तथा बोलचाल की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट माना जाता है।

इस वाद्य के तीन आकार (Size) पाये जाते है, छोटा, मध्यम तथा बड़ा। प्रथम प्रकार के सितार की डांड लगभग तीन फीट लम्बी तथा तीन इंच चौड़ी होती है तबली की चौड़ाई ७/८ इंच होती हैं। इस प्रकार की सितार के प्रत्येक परदे पर ३/४ स्वरों की मीड सुलभता से प्रदर्शित की जा सकती है। दूसरे प्रकार की मध्यम सितार की डांड की लम्बाई ३ १/४ से ३ १/२ फीट हो सकती है, चौड़ाई ३ इंच होती है तथा तबली की चौड़ाई ९–१० इंच होती है। इसके प्रत्येक परदे पर ४–५ स्वर की मीड सुगमता से प्रदर्शित की जा सकती है। तृतीय तथा सर्वोत्तम सितार के प्रकार की डांड की लम्बाई ३ १/२ से ४ १/३ फीट तक होती है, चौड़ाई ४ इंच लगभग तथा तबली की चौड़ाई १२ से १४ इंच तक रखी जा सकती है। इसके प्रत्येक परदे पर सम्पूर्ण एक सप्तक की मींड सरलता से बजायी जाती है।

सितार के विभिन्न अंग

१. तूम्बा :—तंबूरे के तूम्बे जैसा ही इसका तूम्बा होता है, किन्तु इस तूम्बे का घेर तम्बूरे के तूम्बे के सर्वोत्तम घेर से किंचित् छोटा होता है। मिरज के तूम्बे इस कार्य हेतु उपयुक्त माने जाते हैं। किसी किसी सितार में जंगली कड़वे कद्दू के तूम्बे का भी प्रयोग किया जाता है। इसका अंतर्भाग खोखला व पोला होता है तथा इसका एक ओर का मुख खुला रखा जाता है।

२. तबली :—तूम्बे को आच्छादित करने के लिए इसका उपयोग किया

जाता है। यह तून या सागवान की लकड़ी की बनी हुई होती है।

३. मोगरा, लंगोट या कील :—तूम्बे के नीचे अर्थात् उसके पेंदे में तारों के बाधने हेतु लकड़ी या हड्डी की एक पट्टी सी लगायी जाती है जहाँ से तार बांधने के पश्चात् ऊपर खूंटियों की ओर जाते हैं।

४. घोड़ी-घुरच :—यह तबली की सतह पर हाथीदांत, सीग या हड्डी की छोटी सी चौकीनुमा वस्तु होती है जिसकी लम्बाई, चौड़ाई से लगभग दुगुनी होती है। इसे घोड़ी या घुरच (Bridge) कहा जाता है। घोड़ी की ऊपरी सतह साफ व चिकनी होनी चाहिए। घोड़ी की इस ऊपरी सतह को जव्हारी कहते हैं। जव्हारी अच्छी होने से तारों की झकार स्पष्ट, मधुर तथा श्रवणीय होती है।

५. डांड :—यह तून या सागवान की लकड़ी की लम्बी सी डंडी होती है। इसकी लम्बाई सितार-आकर के अनुसार ३ फीट से ४ १/२ फीट तक होती है। इसे तूम्बा व तबली से इस प्रकार जोड़ दिया जाता है कि तूम्बा सम्पूर्ण रूप से आच्छादित हो जाये और तबली, डांड, तूम्बा आदि में कोई भी भाग खुला हुआ प्रतीत न हो। डांड की चौड़ाई ३ से ४ - ४ १/२ इंच तक की हो सकती है। इसके किनारे पर एक पतली सी तख्ती होती है जिस पर परदे लगाये जाते हैं। डांड की ऊपरी सतह अवतल (Concave) होती है जिस पर डांड और परदों के बीच तरब के तार लगाये जाते हैं। डांड के उचित स्थानों पर खूंटियां जड़ने हेतु छिद्र किये जाते हैं जिनमें खूंटियां लगायी जाती हैं।

६. गुलू :—वह स्थान जहां तूम्वा व डांड जुड़ा हुआ होता है, उसे गुलू अथवा कण्ठ कहते हैं।

७. मनका :—सितार के बाज के तार में लंगोट तथा घोड़ी के बीच में कांच अथवा हाथीदांत का जो मोती होता है उसे मनका अथवा मणि कहते हैं। इस मनका अथवा मणि से स्वरध्वनि को वांछित ऊँचाई-निचाई पर लाया जाता है।

८ परदे :—स्वरों का स्थान निश्चित करने हेतु डांड की ऊपरी सतह पर परदे लगाये जाते है। ये परदे किंचित वर्तुलाकार होते हैं और उनका ऊपरी उठा हुआ भाग ऊपर की ओर करके उन्हें डांड के दोनों किनारों पर तांत या पक्के धागे से वांधा जाता है। इन परदो पर अंगुली रखने से स्वर ध्वनि निर्मित होती है। सितार में कम से कम सोलह तथा अधिक से अधिक चौबीस परदे बाँधे जाते हैं; इन्हें सुन्दरी अथवा सारिका जैसी संज्ञाएं भी दी गई हैं।

९. तारगहन :—यह सीग, हाथीदांत या हड्डी की बनी हुई छोटी सी पट्टी होती है जिसमें छिद्र होते हैं। इन छिद्रों में से प्रत्येक में एक-एक तार पिरोया जाकर ये तार डांड की ओर से खूंटियों से बांधे जाते हैं। तार-धारण करने वाली वस्तु होने

के कारण इसे तारगहन या तारदान कहते हैं।

१०. अटी :—तारगहन जैसी ही बिना छिद्र वाली एक पट्टी होती है। तारगहन तथा अटी में लगभग १/४ से १ इंच का अन्तर होता है। अटी पर तारों को स्थिर किया जाता है जिससे तार डांड परदों को छूते हुए नहीं दिखाई देवें।

११. खूंटियां :—ये लकड़ी की बनी हुई होती हैं, जिनमें एक-एक छिद्र होता है। इन छिद्रों में से तारों को पिरोया जाकर सुविधानुसार खूटियों से लपेट दिया जाता है। इस वाद्य में मुख्य सात तारों की सात खूटियां होती हैं।

दो खूंटियां सितार के ऊपरी भाग की सतह पर सामने लगायी जाती है। (एक बाज के तार की व दूसरी जोड़ी के प्रथम तार की) तीन खूंटियां अपनी ओर सितार के अंतिम भाग पर लगायी जाती है। (एक जोड़ी के दूसरे तार की, दूसरी पंचम के पीतल के तार की तथा तीसरी पंचम के फौलाद के तार की) शेष दो खूंटियां अटी तथा तूम्बे के मध्य भाग में सितार के बाजू में लगाई जाती हैं। इन खूंटियों पर लगे तारों को चिकारी के तार कहते हैं।

१२. मिज़राब :—यह धातु की बनी हुई होती है। इसे लोहा या पीतल के तार से बनाया जाता है। आकार में यह त्रिकोण जैसी प्रतीत होती है। इसे दाहिने हाथ की तर्जनी में धारण कर सितार की तबली की ओर की सतह पर घोड़ी तथा अंतिम परदों के बीच के तारों पर प्रहार किया जाता है। इसे कोण या नक्की कहते हैं।

सितारों के तारों के संबंध में संक्षिप्त विवेचन :—

सितार-वाद्य को अपने सामने इस प्रकार रखा जाये जिससे तूम्बा दायें बाजु में व खूंटियां बायें बाजु में हों। वाद्य की इस अवस्था में बाहर की ओर का सर्व प्रथम तार फौलाद का बना हुआ होता है। सितार में लगे अन्य तारों की अपेक्षा यही तार अधिक उपयोग में आता है। यह मंद्र सप्तक के मध्यम स्वर में मिलाया जाता है जिसे बोल, बाज, मध्यम या नायकी तार कहा जाता है। दूसरा तथा तीसरा तार, दोनों, पीतल के बने हुए होते हैं और दोनों की मोटाई समान होती है। ये दोनों ही तार एक ही टेंपर के होने चाहिए, क्योंकि इन्हें एक ही स्वर में अर्थात् मंद्र सप्तक के षड्ज में मिलाया जाता है। इन्हें जोड़ी के तार कहते हैं।

चौथा तार:—यह तार स्टील अर्थात् फौलाद का होता है। इस तार को मंद्र सप्तक के पंचम में मिलाया जाता है। इसे पंचम का तार कहते हैं।

पाँचवां :—यह पीतल का बना हुआ तार होता है व जोड़ी के तारों की अपेक्षा थोड़ा मोटा होता है। इसे अति मंद्र पंचम में मिलाया जाता है। कोई कोई इसे अति

मंद्र षड्ज में भी मिलाते हैं।

षष्ठ तार :–यह लोहे का बना हुआ होता है। यह तार चौथे तार से थोड़ा पतला होता है। इसे मध्य सप्तक के षड्ज में मिलाया जाता है। इसे चिकारी का प्रथम तार कहते हैं।

सातवां तार :—यह चिकारी के प्रथम तार अथवा छठे तार की अपेक्षा अधिक पतला होता है। यह लोहे का या फौलाद का बना हुआ होता है। इसे तार-सप्तक के षड्ज में मिलाया जाता है। इसे चिकारी का दूसरा तार कहते हैं।

सितार के सात तार निम्नांकित स्वरो में मिलाये जाते है :—

१. म (मंद्र सप्तक के शुद्ध मध्यम में) फौलाद का तार-बोल या बाज।

२., ३ सासा (मंद्र सप्तक के षड्ज में) तांबे के तार (जोड़ी के तार)

४. प (मंद्र पंचम में तांबे का तार) लरज का तार

५. प (अति मंद्र पचम में या अति मंद्र षड्ज मे) तांबे का तार–पंचम या खरज का तार।

६ सा (मध्य सप्तक के षड्ज में) चिकारी का तार (फौलाद)

७. सां (तार सप्तक के षड्ज मे) चिकारी का तार फौलादी किसी किसी सितार में सात तारों के अतिरिक्त एक आठवां तार लगाने की भी योजना पायी जाती है। पूर्व में कहा गया है कि पांचवें तार को अति मंद्र पंचम या अति मंद्र षड्ज में मिलाया जाता है। यदि पांचवां तार अति मंद्र पंचम में मिलाया जाता है तो उस तार के व चिकारी के प्रथम तार के मध्य मे एक छटा तार लगाया जाकर उसे अति मंद्र षड्ज मे मिलाया जाता है। यह तार पांचवें तार की अपेक्षा अधिक मोटा होता है। ऐसी अवस्था में चौथा तार मंद्र पंचम, पांचवां तार अति मंद्र पंचम, तथा छठा तार अति मंद्र षड्ज, ऐसी योजना बनायी जाती है। चिकारी के दोनों तार मध्य षड्ज तथा तार षड्ज में क्रमश. मिलाये जाते हैं।

वादन सुविधा हेतु परिवर्तन आवश्यक होता गया है, इसलिए आज उक्त योजना में किंचित् संशोधन किया जाकर अधिकतर सितार वादक निम्नांकित योजना के पक्ष में दिखाई देते है :—

१. यह तार फौलाद का बना हुआ होता है जिसे मंद्र मध्यम में मिलाते हैं। दूसरा तार, जो तांबे का बना हुआ होता है, मंद्र सप्तक के षड्ज में मिलाया जाता है। तीसरा तार, दूसरे तार के स्वर में अर्थात् दूसरे तथा तीसरे की जोड़ी का बनाने के स्थान पर, अति मंद्र पंचम में मिलाया जाता है। यह तार तांबे का बना होता है और अपेक्षाकृत मोटा होता है। चौथा तार, जो तीसरे तार की अपेक्षा किंचित् मोटा होता है, अति मंद्र षड्ज में मिलाया जाता है। इस प्रकार चारों तारों की यह

योजना आज वादन-सुविधा हेतु विशेष रूप में प्रचार में पायी जाती है। पांचवां तार (यदि लगाया जाये) मंद्र पंचम में मिलाया जाता है। सितार-वादकों का यह अनुभव है कि जोड़-आलाप का काम उक्त चार तारों पर ही अधिक सुविधाजनक रूप से प्रदर्शित किया जा सकता है। इसी कारण आज चिकारी के दो तारों के अतिरिक्त उक्त चार तारों की योजना वर्तमान में विशेष प्रचलित मानी जाती है।

सितार में परदों के दो प्रकार दिखाई देते हैं; १) अचल थाट का सितार व २) चल थाट का सितार

(१) अचल थाट का सितार :—परदों को ऊपर-नीचे सरकाये बिना सभी थाट के राग जिस सितार पर बजाये जाते हैं उसे अचल थाट का सितार कहते हैं जिसमें निम्नांकित स्वर-स्थानों के परदे पाये जाते हैं :—

मॅ प़ ध़ ध़ नि़ नि़ सा रे रे गु ग म मॅ प ध ध नि नि सां रें रें गुं गं मं।

अचल थाट के किसी सितार में तार सप्तक के मध्यम के हेतु परदा लगाने की आवश्यकता नही होती है। तार सप्तक के गांधार के परदे पर ही मींड द्वारा शुद्ध मं, तीव्र मॅं तथा पं आदि स्वरों का निर्माण कर लिया जाता है।

२. चल थाट का सितार :—पहले चल थाट के सितार में सोलह परदे लगाये जाते थे किन्तु आज १६ से १९ परदे लगे हुए सितार भी पाये जाते हैं। रागोचित वांछित स्वरों के निर्माण हेतु १६ से १९ परदों में से कतिपय परदों को नीचे-ऊपर सरकाना पड़ता है। अर्थात् परदों को उनके नियत स्थान से चलित करना पडता है। इस कारण इसे चल थाट की सितार कहा जाता है।

सोलह से उन्नीस परदों को चल थाट वाली सितार में निर्धारित परदे साधारणतः निम्नांकित रूप में पाये जाते :—

१. सोलह परदों वाली सितार :—

मॅ प़ ध़ नि़ नि़ सा रे ग म मॅ प ध नि नि सां रें गं।

२. सत्रह परदों वाली सितार

मॅ प़ ध़ ध़ नि़ नि़ सारेगम मॅ पध नि सां रें ग। इसमें कोमल धैवत (ध)का परदा अधिक लगाया जाता है।

३. अट्ठारह परदों वाली सितार

मॅ प़ ध़ ध़ नि़ नि़ सा रे ग म मॅ प ध नि नि सां रें गं। इस सितार मे संख्या २ की सितार के परदों में कोमल निषाद (मध्यसप्तक) का परदा अधिक लगाया जाता है।

४. उन्नीस परदों वाली सितार

मॅ प़ ध़ ध़ नि़ नि़ सा रे गु ग म मॅ प ध नि नि सां रें गं। इस प्रकार के सितार

में संख्या ३ के प्रकार में मध्य सप्तक के कोमल गांधार का परदा बढ़ाया जाता है है तथा अतिरिक्त योजना हेतु तार-सप्तक के मध्यम का परदा लगाया जाकर २० परदे भी किये जाते हैं। अचल तथा चल थाट के सितारों के परदों का अवलोकन करने से यह ज्ञात-होता है कि अचल थाट के २४ परदों वाली सितार पर सपूर्ण शुद्ध-विकृत स्वरों का स्पष्ट संकेत है व चल थाट की १९ परदों वाली सितार में मध्य सप्तक के <u>रे</u> <u>ग</u> स्वरों के तथा तार सप्तक के <u>रे</u> <u>गं</u> स्वरों की योजना हेतु परदों को सरकाने की आश्यकता दिखाई देती है।

उन्नीस परदों वाली चल थाट की सितार की योजना बनाने में यह दिखाई देता है कि अंतिम स्वर तार सप्तक के मध्यम के बजाय कोमल गांधार का परदा भी वहां जोडा जा सकता है, ऐसा कुछ लोगों का मत है। उक्त दोनो योजनाओं में से किसे स्वीकार्य माना जाये, यह वादक की सुविधा पर निर्भर करता है।

उन्नीस परदों वाली चल थाट की सितार की योजना को देखने से यह प्रतीत होता है कि भैरव, पूर्वी, मारवा, काफी, आसावरी, भैरवी तथा तोड़ी थाट के राग इस पर बजाये जा सकते हैं। यदि उक्त सात थाट से निर्मित राग जब इस योजना के अंतर्गत बजाये जा सकते हैं तो उक्त सात थाटों से निर्मित अधिक विकृत स्वर वाले रागों की,अपेक्षा कम विकृत स्वरो वाले कल्याण बिलावल तथा खमाज जैसे थाटों से निर्मित रागों को उक्त योजना के अंतर्गत बजाना अतीव सुगम होना चाहिए। ऐसी स्थिति में जब कल्याण बिलावल, खमाज, भैरव, पूर्वी, मारवा, काफी, आसावरी, भैरवी तथा तोडी, इन प्रमुख दस थाटों से निर्मित राग १९ परदों वाली योजना में परदे सरकाये बिना बजाने का प्रयास किया जा सकता है तो १९ परदों वाली सितार को चल थाट की सितार कहने की अपेक्षा अचल थाट की सितार कहना अनुचित नही होना चाहिए ऐसी अनेक लोगों की मान्यता है। वादन की क्षमता का जहां तक प्रश्न है वहां १९ परदों के स्थान पर १६/१७ परदों से भी २४ परदों का कार्य लिया जा सकता है।

वर्तमान मे १७ से १९ २० परदोंवाली सितार अधिक प्रचलित है जिसमें चार तारों की योजना के आधार पर जोड़ काम सुविधाजनक होता है ऐसा वर्तमान कलाकारो का अनुभव है।

स्व० प० वाजपेयी भीमपुरे (ग्वालियर) ने १७ परदों पर आठ थाटों की योजना बनायी है जिसके द्वारा अनेक राग बजायें जा सकते है, ऐसा उनका मत है। यह योजना मनोरंजक तथा विचारणीय है। उक्त योजना निम्नांकित हैं :

१. कल्याण थाट	मॅ प ध नि नि सा रे ग म मॅ प ध नि सां रें गं ।
२. खमाज थाट	मॅ प ध नि नि सा रे ग म मॅ प ध नि सां रें गं ।
३. काफी थाट	मॅ प ध नि नि सा रे ग म मॅ प ध नि सां रें गं ।
४. दरबारी थाट	मॅ प ध नि नि सा रे ग म मॅ प ध नि सांरेंगं ।
५. भैरवी थाट	मॅ प ध नि नि सा रे ग म मॅ प ध नि सांरेंगं ।
६. तोड़ी थाट :	मॅ प ध नि नि सा रे ग म मॅ प ध नि सांरें गं ।
७. भैरव थाट :	मॅ प ध नि नि सा रे ग म मॅ प ध नि सां रें गं ।
८. मारवा थाट	मॅ प ध नि नि सारे ग म मॅ प ध निसांरेंगं ।

उपर्युक्त प्रकार के परदों की योजना का स्पष्टीकरण :—

१. प्रथम थाट अर्थात् कल्याण थाट योजना के अंतर्गत कल्याण थाट जनित यमन, हमीरं, केदार, कामोद, छयानट, श्याम कल्याण, हिंडोल आदि राग बजाये जा सकते हैं।

२. कल्याण थाट के परदों में मध्य निषाद का परदा कोमल निषाद का करने से खमाज थाट जनित खमाज, झिझूटी बागेश्री, देस, तिलक-कामोद, सोरठ, जयजयवंती आदि बजाये जा सकते है।

३. खमाज थाट मे मध्य व तार सप्तक के गांधार को कोमल करने से काफी थाट जनित राग, काफी, बागेश्री, भीमपलासी बहार, मियां मल्हार, नायकी कानूड़ा, सूहा-कान्हड़ा आदि बजाये जा सकते हैं।

४. काफी थाट मे मध्य धैवत कोमल करने से आसावरी थाट जनित राग आसावरी, जौनपूरी, दरबारी कान्हड़ा, अडाणा आदि बजाये जा सकते हैं।

५. इसमें मध्य तथा तारसप्तक के ऋषभ को कोमल करने से भैरवी थाट जनित भैरवी मालकंस जैसे राग बजाये जा सकते हैं।

६. भैरवी थाट में मध्य सप्तक का निषाद तीव्र करने से तोड़ी थाट-जनित तोड़ी, गूजरी, तोड़ी, मुल्तानी आदि राग बजाये जा सकते हैं।

७. तोड़ी थाट मे मध्य तथा तार सप्तक का गांधार तीव्र करने से भैरव थाट-जनित राग भैरव, रामकली, जोगिया, विभास आदि बजाये जा सकते हैं।

८. भैरव थाट में मध्य धैवत तीव्र करने से मारवा थाट - जनित मारवा, पूरिया, ललित आदि राग बजाये जा सकते है।

उपर्यक्त योजना विचारणीय प्रतीत होती है। इसके अनुसार परदों में थोड़ा बहुत हेरफेर करके करके कतिपय प्रसिद्ध राग १७ परदों की चल थाट वाली सितार पर बजाये जा सकते हैं। पूर्वी थाट-जनित पूर्वी, वसंत, परज, आदि रागों के वादन हेतु उक्त योजना में कोई संकेत नही है। अतः १७ परदों वाली चल थाट की सितार

पर आवश्यकतानुसार हेरफेर किया जा सकता है। १८/१९ परदों वाली सितार का इस कार्य हेतु भी प्रयोग किया जाता है। कौन सी सितार किस प्रकार के वादन हेतु अति उपयुक्त है, यह वादक की अपनी सुविधा पर निर्भर करता है।

उन्नीस परदों वाली प्रचलित सितार में विभिन्न स्वरों के परदों को षड्ज (मध्यसप्तक) मानकर स्वर-संवाद की दृष्टि से छः थाटवाली भी एक योजना है जिसके अन्तर्गत प्रचलित अनेक राग बजाये जा सकते हैं।

स्वर-संवाद पर आधारित विभिन्न परदों को सा मानकर छः थाटवाली योजना

प्रचलित उन्नीस परदे

मं प़ ध़ ध़ नि़ नि़ सा रे ग ग म मं प ध निनि सां रें गं

उक्त परदों में सर्वप्रथम कल्याण थाट मूल रूप में स्थित माना जाकर सारे-शुद्ध स्वरों के परदों में से उक्त परदों में मंद्र पंचम को मध्यम-सप्तक का सा मान लिया जाये तो शुद्धस्वरों के स्थान पर क्रमशः सारे ही शुद्ध स्वर निर्मित होकर मध्य सप्तक के मध्यम स्वर पर कोमल निषाद बोलेगा, जिससे खमाज थाट और उससे जनित राग बजाये जा सकते हैं। इसी प्रकार धैवत, सा, रे ग, के स्वरों के परदों को सा मानकर मूल उन्नीस परदों पर कल्याण थाट के अतिरिक्त खमाज, आसावरी, बिलावल, काफी तथा भैरवी थाट भी बजाये जा सकते हैं, जो निम्नांकित हैं।

१. मं प़ ध़ ध़ नि़ नि़ सा रे ग ग म मं प ध नि नि सां रें गं—कल्याण थाट।

मंद्र सप्तक के पंचम को सा कल्पित करके खमाज थाट :—

।   ।

२. म प़ ध़ ध़ नि़ नि़ सा रे ग ग म मं प ध नि नि सां रे ग

। । । । । । । ।

सा रे ग म प ध नि सां ......खमाज थाट।

३. मंद्र सप्तक के शुद्ध धैवत को सा कल्पित करके आसावरी थाट :—

मं. प़ ध़ ध़ नि़ नि़ सा रे ग ग म मं प ध नि नि सां रें गं

। । । । । । । ।

सा रे ग म प ध नि सां ....आसावरी थाट।

४. मध्य सप्तक के सा को 'सा' मान कर विलावल थाट :—

मं प़ ध़ ध़ नि़ नि़ सा रे ग ग म मं प ध नि नि सां रें गं

। । । । । । । ।

सा रे ग म प ध नि सां ....बिलावट थाट।

५. मध्य सप्तक के ऋषभ को सा मानकर काफी थाट :—

मं प़ ध़ ध़ नि़ नि़ सा रे ग ग म मं प ध नि नि सां रें गं

|
सां रे ग़ु म प ध नि़ सां ………काफी।

६. मध्य-सप्तक के गांधार को सा मानकर भैरवी थाट :—
मे प़ ध़ ध़ नि़ नि़ सा रे ग़ु ग म मे प ध नि़ नि सां रें गं
| | | | | | | |
सा रे़ ग़ु म प़ ध़ नि़ सां………भैरवी।

इस प्रकार उक्त परदों में सर्वप्रथम कल्याण थाट मूल रूप मे स्थित माना जाकर सारे शुद्ध स्वरों के परदों में से मंद्र सप्तक के पंचम को सा मानकर खमाज, मंद्र धैवत को षड्ज मानकर आसावरी, मध्य सप्तक के षड्ज से बिलावल, मध्य सप्तक के ऋषभ को षड्ज मानकर काफी, तथा मध्य सप्तक के गांधारको षड्ज मानकर भैरवी ऐसी छ थाट की योजना वनायी जा सकती हैं व इनका वादन किया जा सकता है। संभावना की दृष्टि से यह योजना विचारणीय हो सकती है किन्तु वादन-प्रयोग की दृष्टि से वादक की सुविधा को ही लक्ष्य रखा जायेगा।

सितार मिलाने की विधि

सितार के तार मिलाने से पूर्व सर्वप्रथम सव तारों को किंचित् उतार लेना चाहिए जिससे तार टूटने की आशंका न हो। सर्वप्रथम जोड़ी के तारों को वांछित षड्ज के मंद्र सप्तक के षड्ज में मिलाना चाहिए। इसके वाद वाज का तार इसी जोड़ी के स्वर मद्र मध्यम स्वर में मिलाना चाहिए। इसके पश्चात् इसी षड्ज के मद्र पंचम में मिलाकर उसीं मंद्र पंचम में या खरज में खरज के पांचवें तार को मिलाना चाहिए। चिकारी के प्रथम तार को मध्य सप्तक के षड्ज में व चिकारी के दूसरे तार को तार सप्तक के षड्ज में मिलाना चाहिए।

सितार के तारों की योजना के अनुसार उन्हें मिलाने की विधि में भिन्नता भी हो सकती है। कारण कि प्रचलित जोड़ी के तार मिलाने की योजना में चार तार प्रमुख योजना के अन्तर्गत जोड़ी के दूसरे तार कों मंद्र षड्ज के स्थान पर अति मंद्र पंचम में मिलाया जा सकता है तथा चौथे तार को अति मंद्र षड्ज में मिलाया जा सकता है।

अतएव उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि सितार में सं० २ तथा ३ के तार जोड़ी मे मिलाई जाने वाली सात तारों की योजना है। तथा जोड़ी के नं. २ वाले तार मद्र षड्ज व नं. ३ वाले तार को अति मंद्र पंचम तथा चौथा तार अतिमंद्र षड्ज यह दूसरी योजना है। वादक अपनी सुविधा के अनुसार तार मिलाते हुए दिखाई देते हैं। जोड़ काम, गतकारी तथा झाला आदि जो सितार के वादन-कौशल है, उसके प्रदर्शन हेतु साधारणतया चार तारों की प्रमुख योजना के अन्तर्गत १८-१९

या २० परदों वाली सात तारों वाली सितार का प्रयोग किया जाता है। क्योंकि उक्त प्रदर्शन हेतु उसे ही अधिक सुविधा जनक माना जाता है।

तरवदार सितार व सादा सितार

सितार में तरवदार व विना तरव का, ऐसे दो प्रकार पाये जाते हैं, दोनों ही प्रकारों में सात तार आवश्यक रूप में होते हैं, किन्तु सात तारों के अतिरिक्त ९/११/१३ या १५ तारों को विशेप ढंग से लगाया जाता है। ये तार भिन्न-भिन्न लंबाई तथा मोटाई के होते हैं। ये डांड की ऊपरी अवतल (Concame) सतह पर परदों के नीचे लगाये जाते हैं। इन्हें तरवे कहते हैं व इन्हें रागोचित स्वर-ध्वनियों के सवेदनात्मक ध्वनियों मे अर्थात् स्वरो में मिलाया जाता है जिससे राग विशिष्ट की गत, जोड़, अलाप, झाला, मीड आदि स्वर-ध्वनियों का उन तरवों से समन्वयात्मक ध्वनि संपर्क होता रहता है और इस प्रकार सितार-वादन में एक विशिष्ट प्रकार की मधुर झंकार सुनाई देती है जिससे वादन से विशिष्ट आनन्द प्राप्त होता रहता है।

सितार के वोल

मिजराव पहनकर सितार के वोल वजाये जाते हैं। यह लौह अथवा पीतल के तार से वनायी जाती है, यह पूर्व में वताया गया है। मिजराव को दाहिने हाथ की तर्जनी में इस प्रकार पहनना चाहिए कि उसका लंवा भाग नाखून के ऊपर रह कर शेप भाग तर्जनी के ऊपर के प्रथम जोड़ के ऊपर ही रहे। यदि तर्जनी के ऊपर के प्रथम जोड़ के नीचे मिजराव पहन ली जाये तो द्रुतलय के संचालन में वाधा उत्पन्न हो सकती है।

सितार के प्रथम अर्थात् वोल के तार पर मिजराव से जो आघात किये जाते हैं, उसे बोल कहते हैं। सितार में मुख्य वोल दा तथा रा अथवा डा होते हैं। उक्त दो वोलों से दिड़, दा, दिर, आदि अन्य वोल–प्रकार वनाये गये हैं। उक्त वोलो में 'दारा' के स्थान 'दाडा' तथा दिड़ के स्थान पर दिर कहा जाता है। दा अथवा रा को पूरी एक मात्ना का अवकाश देना चाहिए।

मिज़राव से निम्नांकित वोल-निर्माण की विधि :

१. दा, यह वोल मिजराव से वाज के तार पर आघात करके तर्जनी को अपनी ओर लाने पर निर्मित होता है।

२. रा अथवा डा :—तार पर आघात करने के पश्चात् तर्जनी को अपनी

ओर ले जाने से उक्त बोल बजते है।

३. 'दि' बोल को 'दा' के अनुसार बजाकर अर्धमात्रा का अवकाश देने पर दि निर्मित होता है।

४. र अथवा ड बोल का निर्माण रा अथवा डा के बोल को अर्धमात्रा का अवकाश देने पर होगा।

५. दिर अथवा दिड :—दा तथा रा को प्रत्येक को अर्धमात्रा के अवकाश में बजाकर दोनों को मिलाकर एक मात्रा अवकाश पूरा करने पर दिर अथवा दिड बोल बजेगा।

६. दार :—दा बोल को एक मात्रा अवकाश देकर रा अथवा डा को अर्ध मात्रा के अवकाश से बजाकर १–१/२ मात्रा के अवकाश से निर्मित बोल को दार कहा जायेगा।

७. द्रा :—दा तथा रा को मिलाकर अर्धमात्रा अवकाश में बजाने से द्रा बोल बजाया जाता है।

उक्त बोलो द्वारा ही सितार में जोड़, आलाप, गत, झाला आदि वादन-प्रकार दिखाये जाते हैं। उक्त बोलों द्वारा स्वरताल गतों बद्ध की रचनाएँ की जाती हैं और इन रचनाओं में मसीतखानी तथा रज़ाखानी ये दो प्रमुख रचनाएँ मानी जाती हैं।

मसीतखानीगत :—यह मसीत खां तानसेन की परम्परा में प्रसिद्ध ध्रुवपद-गायक तथा वीणा वादक हुए हैं। वीणा-वादन के आधार पर ही इन्होंने सितार-वादन में उक्त बोलों द्वारा एक रचना बनायी और इस प्रकार विशिष्ट प्रकार के नूतन बाज का आविष्कार किया। इनके दिल्ली-निवासी होने के कारण इस नवीन प्रकार की रचना के गत बाज को मसीतखानी गत या दिल्ली बाज अथवा दिल्ली घराने की गत कहा गया। इस गत की रचना में दिर, दा, दिर, दारा, दादारा, इस क्रम से बोलों की रचना होनी चाहिए उक्त बोलों के रचना-क्रम को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार की गत रचना विलंबित लय में ही बजाना अधिक श्रेयस् होता है। मसीत खानी अथवा दिल्ली बाज की गतों में उक्त रचना-क्रम का सिद्धान्त में स्वीकृत है। कण्ठ संगीत में जो स्थान बड़े ख्यालों का है वही स्थान सितार - वादन मसीत खानी गतो का है। यह एक गंभीर रचना मानी जाती है।

रजाखानी गत :—रज़ाखां अर्थात् गुलाम रजाखां लखनऊ के एक प्रसिद्ध संगीतज्ञ थे। इन्होंने द्रुतलय में बजाने हेतु इस रचना का अविष्कार किया। इस कारण इसे रजाखानी गत या पूरब बाज की गत कहा जाने लगा। इस गत-रचना में बोलो की स्वर-ताल-बद्ध रचना इस प्रकार की गई है कि उसको द्रुतलय में बजाने से ही वादन श्रेयस्कर व मधुर प्रतीत होता है। इस गत की रचना में दिर्, दार्,

दारा, दादारदा तथा द्रा आदि बोलों की विशेष सहायता ली जाती है। इन गतों की गति मसीत खानी की अपेक्षा अधिक द्रुत मानी जाती है।

मसीत खानी अर्थात् विलंबित गत में जोड़, आलाप, मीड, गमक, आदि विभिन्न प्रकार की अलंकारिक तानें (तोडे) का विशेष रूप में प्रदर्शन किया जाता है। तथा रजाखानी अर्थात् द्रुत गत में गतकारी, चिकारी तथा विभिन्न प्रकार के "झाला" का प्रदर्शन किया जाता है। कण्ठ-सगीत में जिस प्रकार बड़े ख्याल के पश्चात् मध्य लय के ख्याल व द्रुत लय के तराने गाये जाते हैं उसी प्रकार सितार-वादन मे मसीत खानी गत-वादन के पश्चात् रज़ा खानी गत बजायी जाने की प्रथा है।

सितार-वादन में प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक शब्द :—

१. लाग-डांट :—आरोही अथवा अवरोही करते समय तर्जनी को एक स्वर से दूसरे स्वर तक उस विवक्षित तार पर घसीट कर जब बजाया जाता है, तब उसे लाग-डांट कहते हैं, आरम्भिक क्रिया को लाग तथा समाप्ति-क्रिया को डॉंट कहते हैं अर्थात् जिस स्वर से घसीट का आरम्भ होता है उसे लाग कहते हैं व जिस पर घसीट समाप्त की जाती है, उसे डांट कहते है।

२. अनुलोम मीड :—मिजराब से तार पर आघात करने क पश्चात् किसी परदे पर तार को विवक्षित स्वरध्वनि तक खीच कर पुन: पूर्व स्थान पर ध्वनि खंडित न करते हुए पहुँचा जाता है, तब उसे अनुलोम मींड कहते हैं। ऐसे स्वरों में दो या इससे अधिक स्वरों का मूल परदों के स्वरों से ध्वनि-अन्तर दिखाई देता है।

३ विलोम मीड :—अनुलोम मीड में तार पर मिजराब द्वारा प्रथम आघात किया जाता है किन्तु विलोम मीड में तार पर प्रथम आधात करने के स्थान पर विवक्षित स्वरध्वनि के परदे पर स्थित तार को प्रथम खीचा जाता है व उसके पश्चात् मिज़राब से उसी तार पर आघात् किया जाता है व वांछित मीड का निर्माण किया जाता है। किन्तु विलोभो मीड में तार पर प्रथम आघात करने के स्थान पर विवक्षित स्वर ध्वनि के परदे के तार को प्रथम खीचा जाता है व उसके पश्चात् मिज़राब से उसी तार पर आघात किया जाता है और इस प्रकार वांक्षित मीड निर्मित की जाती है जिसे विलोमी मीड कहते हैं। मीड-प्रक्रिया मे दो या इससे अधिक अतरे की स्वर-ध्वनियों में ध्वनि खंडित नही होनी चाहिए। इस बात की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

४. कृन्तन :—मिजराब द्वारा किसी विक्षित तार पर केवल एक ही आघात में बिना मीड़ दिये हुए ऊँचे स्वर से नीचे स्वर पर आते समय दो से अधिक स्वर जब अंगुलियों द्वारा निर्मित होते हैं तब उसे कृन्तन कहते हैं।

५. जमजमा :—किसी भी परदे पर बाज के तार को तर्जनी द्वारा दबाया

जाकर उसके पश्चात् के परदे पर मध्यमांगुलि द्वारा जोर से आघात कर से जो ध्वनि उत्पन्न होती है उसे जमजमा कहेंगे। यहां ध्वनि मिज़राब के आघात से उत्पन्न होने के स्थान पर मध्यमांगुलि के जोरदार आघात से ही निर्मित होती है।

६. झाला :––चिकारी के तारो पर तर्जनी की मिजराब से अथवा कनिष्ठिका के नख से अपकर्ष प्रहार किया जाता है; इस प्रयोग को झाला कहा जाता है। ऐसी प्रक्रिया में बीच बीच में बाज के तार पर भी मिजराब द्वारा प्रहार किया जाकर स्वर-रचनाओं के विभिन्न प्रकार बताये जाते हैं जिससे बाज व चिकारी के संमिश्रण से झाला-प्रकार अति मधुर लगता रहता है। झाला दो प्रकारों से बजाया जाता है : प्रथम सुलट झाला तथा द्वितीय उलट झाला। सुलट झाला-प्रकार में प्रथम तार पर दा बोल बजाते हैं और उलट झाला प्रकार में प्रथम तार पर रा बोल बजाते हैं जैसे "दारारारा" सुलट झाला व "रादारारा" उलट झाला। कुशल गायक झाला के उक्त प्रकारों के अतिरिक्त अन्य अनेक झाला-प्रकारों का अपने वादन में मधुर प्रयोग करते हुए दिखाई देते हैं।

तोड़ा :–कण्ठ-संगीत में या ख्याल गायन में जिस प्रकार दुगुन, चौगुन आठ-गुन तथा सोलह गुन आदि प्रकार की तानें गाई जाती हैं उसी प्रकार सितार-वादन में तानों के प्रकारो को तोड़े कहा जाता है।

जोड़-आलाप :–अधिकतर मसीत खानी गत बजाने के पूर्व विवक्षित राग का विस्तार किया जाता है। जिसे आलाप कहते हैं। कण्ठ-संगीत में किसी भी राग के आलाप करते समय आलाप के स्थायी, अंतरा, संचारी तथा आभोग के चार क्षेत्र बनाये जाते हैं। यही नियम सितार में भी गत बजाने के पूर्व आलाप द्वारा राग का विस्तार करने मे स्वीकृत हैं; इसे ही जोड़-आलाप कहा जाता है। सितार में जोड़ आलाप करते समय स्वर-गुंजन, गमक, मीड, नोम-तोम् तथा झाला-आलाप के प्रकार बताये जाते हैं। जो आलाप में राग का सपूर्ण चित्रण किया जाकर उसमें प्रयुक्त होने वाले विशेष स्वर-समूह, विशेष मीड, विशिष्ट मार्मिक तथा हृदयस्पर्शी स्वर-ध्वनियां आदि का एक अति कौशलपूर्ण तथा मनोरंजक प्रयोग प्रदर्शित होता है।

सितार बजाते समय अर्थात् शिक्षा लेते समय ध्यान में रखने योग्य विशेष बातें :–

१. सितार की बैठक जमाने के पश्चात सितार को इस प्रकार रखना चाहिए जिससे वाद्य की दूरी लगभग ७/८ इंच हो जिससे वाद्य पर झुकना न पड़े व आँखों के सामने परदे स्पष्ट दिखाई पड़ें। बजाते समय बाये हाथ के अंगूठे को रोक कर आगे के दो तीन परदों तक अंगुली ले जाने के पश्चात् अगूठे को सरकाना अशुद्ध है। अंगूठे का संचालन अंगुलियों के साथ ही होता रहना चाहिए।

वादन-क्रिया में अंगुलियां को तार पर रखते समय अंगुलियों के ऊपर से प्रथम जोड़ को मोड़ देकर नाखून के पास वाला भाग परदे पर ठीक ढंग से स्पर्श करता हुआ दिखाई दे, इसका ध्यान रखना चाहिए।

तर्जनी को बाज के तार का हमेशा स्पर्श रहना चाहिए तथा अवरोही करते समय जिस स्वर से अवरोही किया जाये उस स्वर पर मध्यमांगुली का प्रयोग किया जाना चाहिए।

तर्जनी तथा मध्यमा अंगुलियों का साथ-साथ ही प्रयोग हो इसका प्रारभ से ही उचित अभ्यास करना चाहिए। केवल तर्जनी से ही अभ्यास करने से द्रुत गत-संचालन मे बाधा उत्पन्न होती रहती है। तर्जनी, मध्यमा का आरोही-अवरोही क्रम मे प्रारंभ से उपयोग करने का अभ्यास करना चाहिए। 'सारेगमपधनिसां' इस आरोही में अभ्यास करते समय सा तर्जनी से, रे मध्यमा से, ग तर्जनी से, म मध्यमा से, प तर्जनी से, ध मध्यमा से, नि तर्जनी से तथा सा मध्यमा से इस प्रकार तर्जनी व मध्यमांगुलियों के संचालन का अभ्यास होना चाहिए। पूर्व में कहा गया है कि अवरोही करते समय जिस स्वर से अवरोही किया जायेगा उस स्वर पर मध्यमांगुली का प्रयोग किया जाना चाहिए। इस नियम के अनुसार संपूर्ण 'सारेगम पधनिसं' आरोही उक्त प्रकारे से बजाने के पश्चात अवरोही क्रम मे तार सप्तक के सां पर मध्यमांगुली रखकर अन्य अवरोही स्वर तर्जनी के द्वारा बजाये जाने चाहिए। उक्त साधारण बातें प्रारभ से ही अभ्यास में ली जानी चाहिए। उक्त बातों के अतिरिक्त सितारवादन मे मींड, झाला, गमक ज़मज़मा आदि विशेषताओं को प्रसिद्ध तथा कुशल कलाकारो द्वारा प्रस्तुत मधुर-वादन के सूक्ष्म रूप से श्रवण, मनन तथा अभ्यास द्वारा ही आत्मसात् करना चाहिए जिसका उचित अभ्यास करने पर सितार-वादन सुगम हो कर वांछित रसानुभूति जनक होगा।

तंतु वाद्यों में सितार, वायोलिन, वितत् वाद्यो में तबला-मृदग तथा सुषिर वाद्यों में बांसुरी तथा उसके प्रकार आदि वाद्य अपनी अपनी विशेषता लिये हुए हैं। ये वाद्य स्वतन्त्र रूप में शास्त्रीय संगीत के प्रस्तुतीकरण में सहायक ही नही अपितु अति उपयुक्त तथा श्रेयस्कर माने जाते हैं।

अध्याय १५

ध्रुव-पद तथा धमार की विभिन्न लयकारियों की विधि—:

पूर्व में कहा गया है कि ध्रुव-पद तया धमार-गायन लयकारी का गायन है । इस गीत के स्थायी, अंतरा, सचारी, आभोग आदि भाग के गायन करने तथा विभिन्न लयकारियों का प्रदर्शन करने के पूर्व विवक्षित राग में प्रचलित आलाप-गायन के सिद्धान्तानुसार राग-लक्षणों को आधार स्वरूप मानकर 'नोमतोम' द्वारा राग का विस्तार किया जाता है । मीड, गमक, आलाप, तान आदि द्वारा राग के संपूर्ण रूप का प्रदर्शन किया जाता है । फिर ध्रुव-पद तथा धमार गीत-प्रवन्ध के सम्पूर्ण अवयव गाने के पश्चात् उसे दुगुन, तिगुन, चोगुन तथा छँगुन आदि लयकारियों में क्रमशः प्रकट किया जाता है ।

चौताल मे निबद्ध ध्रुवपद के स्थायी, अन्तंरा आदि विभागो के प्रत्येक चार चरण अर्थात पंक्तियां हों और उस ध्रुव-पद का प्रारम्भ सम् से हो तो उसकी दुगुन चौगुन सम् से ही प्रारम्भ होगी । तिगुन तीसरी ताली से तथा छँगुन दूसरी ताली से प्रारम्भ होगी । यह सर्वमान्य सिद्धान्त है ।

धमार ताल में निबद्ध धमार-गीत प्रवन्ध के स्थायी, अंतरा आदि के प्रत्येक विभ..ा में यदि चार पंक्तियां हो व उस गीत प्रवन्ध का सम् से प्राम्भ हों तो दुगुन चौगुन सम् से प्रारम्भ होंगी, किन्तु तिगुन छँगुन आदि लयकारियां ध्रुवपद के उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार नहीं हो सकती ।

अतएव ध्रुवपद तथा धमार के स्थायी, अंतरा आदि विभागों के प्रत्येक में यदि ३, ५, ६ इस प्रकर चरण या पंक्तियां हों तो उसकी दुगुन करने हेतु निम्न विधि का अनुसरण करना चाहिए ।

स्थायी विभाग के चरणों की गिनती करके उसे उस ताल की विवक्षित मात्रा से गुणा करना चाहिए । तत्पश्चात् ध्रुवपद या धमार की प्रथम पंक्ति के सम् के पूर्व की मात्राओं की संख्या को उस गुणन-संख्या में जोड़ना चाहिए । प्राप्त संख्या में दुगुन करनी हो तो २ से तिगुन करनी हो तो तीन से चौगुन करनी हो तो ४ से भाग देना चाहिए । भाग देने के पश्चात् भजनफल की मात्रा-संख्या में ध्रुवपद, धमार की

विपक्षित लयकारी को निबद्ध करने की दृष्टि से उस ताल की पंक्ति में अन्तिम मात्रा की ओर से उलटे क्रम से (१, २ इस प्रकार) गिनती करनी चाहिए और जहाँ भजनफल की प्राप्त मात्रा संख्या की गिनती समाप्त हो उसी मात्रा से उस विवक्षित लयकारी को निबद्ध करना चाहिए।

उदाहरण हेतु राग देशकार के चौताल में निबद्ध "जागिये गोपाल लाल" इस ध्रुवपद का स्थायी विभाग प्रस्तुत है :—

उक्त ध्रुवपद चौताल (मात्रा १२) में निबद्ध है। इसके स्थायी विभाग में चार पंक्तियाँ हैं। चौताल की एक आवृत्ति की १२ मात्राएँ तथा स्थायी विभाग की चार पंक्तियों की मात्राएँ गुणा की जायें तो १२ × ४ = ४८ मात्रा संख्या हुई। पंक्तियों की स्थायी विभाग दूसरी खाली से प्रारम्भ हो रहा है, इस कारण उसकी प्रथम पक्ति में सम् के पूर्व की मात्रा-संख्या ६ है, उपर्युक्त गुणनफल में जोड़ देने से ४८ + ६ = ५६ मात्रा सख्या हुई। अव दुगुन करने हेतु उक्त प्राप्त संख्या ५४ को २ से भाग देने दर ५४ ÷ २ = २७ भजनफल प्राप्त हुआ। चौपन मात्रा-संख्या वाले उक्त स्थायी विभाग की दुगुन सत्ताईस मात्रा-संख्या में समाप्त होनी चाहिए। अतः उक्त मात्रा संख्या को चौताल की मात्रा-संख्या की पूर्ण आवृत्ति की अन्तिम मात्रा से उलट क्रम में गिनती करने पर २७ मात्राओं की गिनती चौताल की १०वी मात्रा पर समाप्त होती है अर्थात् चौताल की १० वी मात्रा से दुगुन प्रारम्भ की जायेगी।

'देशकार' ध्रुवपद की दुगुन स्थायी

जाऽ ०	गिए ३	ऽ गो ४	पाऽ ×	ल ला ०	ऽ ल २

दसवी मात्रा ए अक्षर पर है। अतः ए अक्षर से ध्रुवपद के स्थायी विभाग इस पंक्ति में की दुगुन प्रारम्भ होती है :—

जाऽ ०	गि जाऽ ३	गिए ऽगो ४	पाऽ लला ×	ऽल पग ०	टम योऽ २
अंड शुभा ०	ऽल मिटयी ३	ऽअं ऽघ ४	काऽ रऊ ×	ऽठो जन	नोऽ सुऽख २
पाऽ ऽई ०	ऽई जाऽ ३	गिए ऽगो ४	पा ×		

स्थायी विभाग की तिगुन लयकारी हेतु कुल मात्रा संख्या ५४ को ३ से भाग देने पर ५४ ÷ ३ + १८ भजनफल आता है। उक्त १८ मात्राओं को चौताल की पूर्ण आवृत्ति की अन्तिम मात्रा से उलटे क्रम में गिनती करने पर १८ मात्राओं की समाप्ति दूसरी खाली अर्थात् चौताल की ७वी मात्रा से अर्थात् ध्रुवपद के स्थायी की प्रारम्भिक मात्रा पर ही समाप्त होती है। अतः तिगुन लयकारी :—

जाऽ | गि ए गो पाऽ | ल ला | ऽ ल |
० | ३ | ० | २ |

जाऽगी एऽगो | पाऽल लाऽल | प्रगट भयोऽ | अंऽशु माऽल | भिखोऽ
० | ३ | ४ | | ०

अऽध | काऽर उऽठो | जननी ऽसुडख | पाऽऽ ऽऽई | जाऽगि एऽगो | पा ल ला ल
| २ | ० | ३ | ४ | ×

चौगुन करने हेतु ५४ मात्राओं को ४ से भाग देने पर ५४ ÷ ४ = १३ १/२ मात्रा का भजन फल प्राप्त होता है जिससे १३ १/२ मात्राओं में चौगुन लयकारी चौथी ताल की प्रथम मात्रा की अर्ध मात्रा के पश्चात् यानि ११वी मात्रा की अर्ध मात्रा के पश्चात् प्रारम्भ होगी :—

चौगुन

जाऽ | गि ए | ऽऽ, जाऽ गिए ऽ गो पाऽलला ऽल प्रग टभयोऽ अंऽशुमा |
० | ३ | ४ × ० |

ऽलभिटयी ऽअंऽध | काऽर ऊ ऽठो जन |
२ | ० |

नीऽ सूऽख पा ऽऽऽ | ऽ ई जाऽ गिए ऽ गो | पा
३ | ४ | ×

छँ गुन लयकारी हेंतु ५४ मात्रा संख्या को छः से भाग देने पर ५४ ÷ ६ = ९ भजनफल आता है। अतः ९ मात्रा की यथोचित गिनती ४ थी मात्रा पर यानि प्रथम खाली की दूसरी मात्रा पर समाप्त होती है, इसलिए छँगुन का वही से प्रारंभ होता है।

छँगुन

जाऽ | गि ए | ऽ गों | पा ऽ | ल जाऽगिए ऽ गों |
० | ३ | ४ | × | ० |

पा ऽ ल ला ऽ ल प्रगट भयोऽ | अंऽशु मा ऽ ल मिटयो ऽ अं ऽ ध काऽर उऽठो
२ | ० ३
जननी ऽ सु ख पा ऽ ऽ ऽऽ ई जा ऽ गिए ऽ गो ||

उपर्युक्त प्रकार से ही ध्रुवपद के अंतरा, संचारी, आभोग आदि अन्य विभागों की लयकारियां तालवद्ध की जावेंगी।

धमार की दुगुन, तिगुन चौगुन तथा छैगुन लयकारियों के हेतु शंकरा राग के 'सांवरो होरी खेले इस धमार के स्थायी को उदाहरण स्वरूप देखिए। उक्त धमार दूसरीं ताली अर्थात् छठी मात्रा से प्रारम्भ होता है व उसकी दो पंक्तियां हैं।

सां व | रो ऽऽ | हो ऽ री ऽ | खे ऽऽ ले ऽ |
२ | ० | ३ | × |
बृ ज | ग्वा ऽऽ | ल न के ऽ | सं ऽऽ ग ऽ ||
२ | ० | ३ | × ||

उक्त दो पंक्तियों की १४ × २ = २८ मात्राएँ होती हैं व उक्त २८ मात्राओं में स्थायी की प्रथम पंक्ति में सम के पूर्व की ९ मात्राएँ जोड़ने से २८ + ९ = ३७ मात्राएँ होती हैं। सैंतीस मात्राओं को दुगुन करने हेतु भाग दिया तो ३७ ÷ २ = १८ $\frac{१}{२}$ मात्राओंका भजनफल आता है; १८ $\frac{१}{२}$ मात्राओं की उल्टी ओर से गिनती करने पर प्रथम पंक्ति के खाली के बाद तीसरी मात्रा की अर्ध मात्रा पर उक्त १८ $\frac{१}{२}$ मात्राओं की गिनती समाप्त होती है।

अतः स्थायी की दुगुन की तीसरी मात्रा की अर्धमात्रा के पश्चात् से प्रारम्भ की जायेगी :—

दुगुन

सां व | रो ऽ ऽ,सां | वंरो ऽऽ होऽ रीऽ | खेऽ ऽले ऽबृ जग्वा ऽऽ |
२ | ० | ३ | × |
लन कंऽ | संऽ ऽगु ऽसां | बरो ऽऽ होऽ रीऽ | खे ले
२ | ० | ३ | ×

तिगुन लयकारी के हेतु सैंतीस मात्राओं को ३ से भाग देने पर ३७ ÷ ३ १२ $\frac{१}{३}$ भजनफल आता १२ $\frac{१}{३}$ मात्राओं में तिगुन लयकारी समाप्त करने हेतु

धमार की दुसरी मात्रा का प्रथम $\frac{२}{३}$ अंश समाप्त करके उस मात्रा की शेष $\frac{१}{३}$ मात्रा अंश से धमार की तिगुन प्रारम्भ करनी चाहिये :–

तिगुन

सां व | रो ऽऽ | हो ऽ रीऽ | खे ऽऽ,सां वरोऽ ऽहोऽ री ऽ खे ||
२ | ० | ३ | ×

''ले बृज ग्वाऽऽ, खा लन के ऽ सं ऽ | ऽगऽ सांवरो ऽऽहो ऽरीऽ || खे
३

चौगुन लयकारी हेतु सैंतीस मात्राओ को चार से भाग देने पर ३७ ÷ ४ = ५ भजनफल आता है। अत: चौगुन का प्रारम्भ धमार की पचावीं मात्रा के $\frac{३}{४}$ अंश के पश्चात् होगा।

चौगुन

सां व | रोऽऽ | हो ऽ री ऽ | खे ऽऽ ले ऽऽऽ,सां
२ | ० | ३ | ×

वरोऽऽ हो ऽ री ऽ | खे ऽऽ ले ऽऽऽ ग्वा ऽऽ लन | केऽसंऽ ऽगऽसां
२ | ० | ३

छैगुन प्रारम्भ करने हेतु ३७ मात्राओ को छः सें भाग देने पर ३७ ÷ ६ = ६ $\frac{१}{६}$ भजनफल आता है। अत: स्थायी के छः गुन का प्रारम्भ धमार की सातवीं मात्रा के $\frac{५}{६}$ अंश के पश्चात् होगा।

छैगुन

सां व | रो ऽऽऽ,सां व रो ऽऽ हो ऽ री ऽ खे ऽऽ ले | वृ ऽऽ ज ग्वा ऽऽ
२ | ० | ३

ल न के ऽ सं ऽ ऽ ग ऽ सांवरो | ऽऽ हो ऽ री ऽ | खे ऽऽ ले ऽ
×

उक्त विधि के अनुसार धमार को अंतरा विभाग को दुगुन, तिगुन, चौगुन तथा छैगुन लयकारियाँ तालबद्ध की जा कर गायी जायेगी।

श्री

संगीत शास्त्र पराग-शुद्धि पत्र

क्रमाङ्क	पृष्ठ	अशुध्द	शुध्द
1	1	सारंग	शारङ्ग
2	3	पटम्	घटम्
3	4	शब्दपाद	शब्दपात्
4	”	नि·शब्दपाद	निःशब्दपात्
5	”	मूर्धना	मूर्छना
6	”	गृह	ग्रह
7	”	म्रींड	मींड
8	”	गौड़मल्लाहार	गौड़मल्हार
9	5	मक्तोंका	मतोंका
10	”	रिद्य	रिध
11	7	वागेश्वरी एवम्	वागेश्वरीकाफी थाट
12	”	धमाट	धमार
13	”	अष्टोत्तर शल ताल लत्रणम्	अष्टोत्तर शत ताल लक्षणम्
14	”	प्रबधको	प्रबंधों
15	8	मारुतम	मारुतम्
16	”	वान्हि	वन्हि
17	”	विध्दुः	विदुः
18	10	उच्चावचता	उच्चनीचता
19	10	छोटे चित्रको चित्र नं. 2 मानना है व बड़े चित्रको चित्र नं. 3 मानना है।	
20	11	उच्चावचता	उच्च नीचता
21	14	गती	गीतं
22	17	चतुश्चतुश्चुत धैवतौ	चतुश्चतुश्च चतुश्चैव धैवतौ
23	18	पृष्ठ 18 के पश्चात् पृष्ठ 27 पर “सगीत कलाके” यहांसे पढना चाहिये। पृष्ठ 19 से 26 का विषय अन्य अध्यायसे संबंधित है।	
24	.27	कपवउरण	व उपकरण
25	32	पस	इस
26	32	गंजन	गुंजन
27	34	एवम् अतीव नर्तन	एवम् नर्तन अतीव
28	37	गरें मंम	संरेंगेमें
29	38	द्रयुत्पत्ति	व्युत्पत्ति

क्रमाङ्क	पृष्ठ	अशुध्द	शुध्द
30		सारांश मे यहा यह कह सकते हैं कि स्वर व काव्यकी समन्वय रचना को गीत कहते हैं।	
31	42	आलप्ति बध हीनत्वा	आलप्तिबंध हीनत्वा
32	49	तीव्र	तीव्रा
33	55	पखावज-वाहक	पखावज वादक
34	56	तानों में	तालो मे
35	58	पद्य	उच्च
36	60	अंतर	अंतरे
37	60	पविका	पतियां
38	62	पधघिसां	पधनिसां
39	62	सारेग सागरेसा	सारेगमगरेसा
40	63	मन्द्ध	मन्द्र
41	63	वर्ष	वर्ण
42	64	शैलीगायन	शैली द्वारा गायन
43	64	ख्याल गायन	ख्याल गायक
44	68	विषय प्रमाण	विषम प्रमाण
45	74	वड	कंड
46	76	को	मे
47	79	तालो	ताली
48	80	< ९ १०	६ ९ १०
49	83	ओडुवत्व	औडुवत्व
50	83	मध्यम गायनमे	मध्यम ग्राममें
51	83	सोवीरी	सौवीरी
52	84	स. प्र	सा, प
53	84	कारोके	प्रकारो के
54	86	जन्म	जन्य
55	86	सारेगम पध नि सा	सा रेग मे पध नि सा
56	86	सा़रे़ग म पध़ नि़ सा	सा रे़ग म पध़ नि सा
57	86	सारेगम	सारेगमे
58	86	रे़ म. ध़	रे़ मे, ध़
59	86	सारेगम	सारेगमे
60	86	रे़ म	रे़ मे
61	86	पध नि सा	पध नि सा

क्रमाङ्क	पृष्ठ	अशुध्द	शुध्द
62	86	गुप	मप
63	86	गुम	गु मे
64	90	न्यासादन्या क्रिया	न्या साप न्यास क्रिया
65	91	गमपग मसारेसा	गमप गम म रें सा
66	94	सा, रे ग, म, ध. नि	सा, रे. ग. म. ध. नि
67	96	ग रे SSS अथवा सारे SSS	गरे, गरे, गरे गरे अथवा सरे, सरे, सरे, सरे.
68	96	कण्ठस्वर	कणस्वर
68	98	तुचर्याँश	चतुर्थांश
69	100	म गसा	गसा म
70	101	धातुरक्षर	धातुमातुरक्षर
71	103	धातु अर्थात् पद्य	मातु अर्थात् पद्य
72	104	चतुर्थद्वि	चतुर्दंडि
73	116	१८८९	१८८२
74	119	कुकरी	कुमरी
75	121	९९०९	९९१०
76	127	रागाणी	रागाग्रणी
77	128	मॅ	मे
78	129	निरे गर्म निरेमनें	नि रेग मे
79	129	पमेमे	पमेग
80	129	रें रे ग रें	रें गं रे सं
81	129	मैं गं रें सं	रें गं मे गं रें सा
82	129	अमेपध	गमेपध
83	129	गंरें स निधप।	ग रें सं निधप मे गरेस
84	129	पपमेरेसा	पपमगरेस
85	129	मगरेसा	मेंगरेसा
86	129	सनिपमेग	संनिधपमेग
87	130	मेमरेस	मेंगरेस
88	130	पमगंरे	पंमेंगंरें
89	130	सारेरेरे	संरेंरे, रें गंगं
90	130	धिप	यह नहीं चाहिये
91	130	पपध	पध पध
92	130	नि	नि
93	130	मैं म	मैं गं

क्रमाङ्क	पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
94	130	मंपधमध	मंप धप मंप
95	133	गरेमेग	गरेमग
96	133	कृति	प्रकृति
97	134	मंगमरें	मंगंमंरें
98	135	अल्पाश	अल्पांश
99	140	संमं	सं सं
100	140	धनि नि	धध नि नि
101	140	वर्ज्यम्	वर्ज्यम:
102	143	सां	सा
103	143	परे-मपगरेग सा	गप गे-रे स
104	144	गध	गप
105	144	रेंक	रेंS
106	145	पम	पग
107	146	धसा पँ	धसां पँ
108	146	वादभेदी	वादी भेद
109	146	गति	गीत
110	147	गप पगग	पगग
111	149	नीपि	नीप
112	150	गप मधग	गमपध मग
113	150	(९)	(प)
114	150	निसा पकड	पकड-निसा
115	151	ममपमप्रप	मप ममप ममप
116	152	रागर्ष्वि	रागार्णव
117	152	जयति	शुभ्राम्बरो जयति
118	155	पपधा	पपध
119	155	पध पध	पध पध
120	155	पपपध	पपपध
121	155	सनि धप	संनि धप
122	156	सनि धसा	सनि धसा
123	157	गमंनिसं निधम	इसे निरस्त कीजिये
124	157	नि सागम धम गम निसां नि धम	नि सागम धम गम धनि धम.
125	157	गम धनि धम	गमधनि धम, गम धनि संनि धम
126	157	मध निस मग	मध निसं नि ध मग
127	157	निसंरेंसं नि ध	नि सं रें स नि ध

क्रमाङ्क	पृष्ठ	अशुध्द	शुध्द
128	158	ध नि SS	ध नि SS
129	158	म नि ध नि, पसं निसं	म नि ध नि, धसं नि सं
130	158	स नि नि	सं नि नि
131	158	गं रें रें, रें ससं, संनि नि	गं रें रें, रें संसं, सं नि नि
132	159	ग्सा रे म प	ग स रे म प
133	159	मप ग स रे म प	मप, ग स रे म प
134	159	ध म ग प	ध म प ग
135	159	समप स	स रे म प
136	161	म ध ध	प ध ध
137	163	संनि ध प प	सं नि ध प
138	164	पम ग ग	प म ग,
139	164	पम ग म	धप म ग
140	164	ग म प	ग म प
141	164	पनिसं निपाने	नि सं नि पनि
142	164	सं नि धप मग	सं नि धप मग
143	165	नि रेग	नि रेग
144	165	निग	निग
145	165	निरेसा | निरेगमं	निरेसा | निरेग मं
146	167	नि सं संनिधप धनिधप	निसं संनिधप धनि धप
147	167	धम	धप
148	167	मरेसा	गरेसा
149	167	निध	निध
150	169	धध नध तीना	धाधी नाधा तीना
151	169	धत्धीना धातीना धाधीना	धाधीना धातीना धाधीना
152	170	धाधीना | धाधाधीना धातीना	धाधीना | धा धाधीना धातीना
153	171	नाधीधी नाधीना धीधीना	नाधींधिं नाधीना धीधीना
154	171	तीनाधी धीनाधी	तीनाधी, धीनाधी
155	174	केट	किट
156	175	धाधा	धाधा
157	175	४ ५ ६ धीं धीं धा	४ ५ ६ ७ धीं धीं धा तूक
158	176	धाधीं नुकधीं	धाधीं नुक धीं धी धागे
159	177	तीं तीं नुक धींधीं |	तीं ती नुक धींधी |
160	177	धींधीं | धागे तिरकिट |	धींधी धागे तिरकिट
161	179	कधि टाधे |	कधि टधि टधा |

क्रमाङ्क	पृष्ठ	अशुध्द	शुध्द
162	179	टघा ऽक तिट तिट ताऽ	ऽक सिट तिट ताऽ
163	179	टधीट | घाऽक तिटति टताऽ	टधीट घाऽक तिहतिट ताऽ
164	181	घाँधीं ऽ	घाँतीं ऽ
165	182	रातें	गतें
166	186	घताधिंधिं	धाधिंधिं
167	187	तलवाडा	तिलवाडा
168	190	×	⊗
169	190	तीं तीं नक | धीं धीं | धा तृक	तीं तीं नक | धीं धीं | धा तृक

२१७ पृष्ठ का सितार थाट योजना १,२,३,४,५ तथा ६ का शुद्ध रूप:-

(१) सा प ध ध नि नि सा रे ग ग म मे प ध नि नि सां रें गं — कल्याण थाट

(२) - सा - रे - ग म प - ध नि - सां - - - - - - मंद्र सप्तक के पंचम को सा मान कर खमाज थाट

(३) - - - - सा - रे ग म - प ध - नि सा - - - - - मंद्र सप्तक के धैवत को सा मानकर, आसावरी थाट

(४) - - - - - - - सा रे - ग म - प ध - नि सा - - - बिलावल थाट

(५) - - - - - - - - सा - रे ग - म प - ध नि सा - - मध्य रि को सा मानकर काफी थाट

(६) - - - - - - - - - - सा रे - ग म - प ध नि सा - मध्य गांधार को सा मान कर भैरवी थाट।

सावं | रो ऽऽ | होऽरीऽ | रवेऽऽलेऽ | बृज | ग्वा ऽऽ | लनकेऽ | संऽऽगऽ
2 | 0 | 3 | x | 2 | 0 | 3 | x

तिगुन :- सांव | रोऽऽ | होऽरीऽ | रवेऽऽ सां वरोऽ ऽहोऽ रीऽरवे | ऽऽले ऽवृज |
2 | 0 | x | 2

ग्वा ऽऽ लनके ऽसंऽ | ऽगऽ सावरो ऽऽहो ऽरीऽ ||
0 | 3

चौगुन :- सांव | रोऽऽ | होऽरीऽ | रवेऽऽ ले ऽऽऽ,सां | वरोऽऽ होऽरीऽ |
2 | 0 | 3 | x | 2

रवेऽऽले ऽवृजग्वा ऽऽलन | केऽसंऽ ऽगऽसां वरोऽऽ होऽरीऽ ||
0 | 3

छगुन :- सांव | रो ऽऽऽऽ,सां वरोऽऽहोऽ रीऽरवेऽऽले |
2 | 0

ऽवृजग्वाऽऽ लनकेऽसंऽ ऽगऽसांवरो ऽऽहोऽरीऽ || रवे
3 | x